

॥ ॐ अहं नमः ॥

श्री आत्म-वल्लभ-समुद्र-इन्द्रदिन्न सुरीश्वर सद्गुरुभ्यो नमः ॥

वल्लभ ग्रन्थमाला

पृष्ठ-४

योग शास्त्र भाग-I

(प्रथम प्रकाश के ३३ श्लोक)

(हिन्दी विवेचन सहित)

लेखक

भारत दिवाकर, पंजाबकेसरी आचार्यदेव श्रीमद् विजय वल्लभ
सुरीश्वर जी महाराज के शिष्य महान् तपस्वी पन्यास
श्री बलवन्त विजय जी महाराज के शिष्यरत्न विद्वान्
मुनिराज श्री हेमचन्द्र विजय जी महाराज के
शिष्यरत्न प्रखर व्याख्याता, विद्वान् मुनिराज
श्री यशोभद्र विजय जी महाराज

प्रकाशक

श्री विजय वल्लभ मिशन

लुधियाना (पंजाब)

प्राप्ति स्थान

ग्रंथ नाम :

योग शास्त्र भाग-१

विषय :

योग की परिभाषा तथा
महिमा

मूल ग्रंथ के रचयिता

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य

विवेचनकार

मुनि श्री यशोभद्र विजय
जी महाराज

प्रकाशन समय

अगस्त १९८५

प्रतियां संस्करण
१००० प्रथम

मूल्य : २५ रुपये

प्रकाशक

श्री विजय वल्लभ मिशन
लुधियाना (पंजाब)

मुद्रक :

श्री सोहन विजय प्रेस
दरेसी रोड़, लुधियाना
(पंजाब)

१. चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
गोपाल कृष्ण लेन, P.B. 49
वाराणसी (यू०पी०)
२. सरस्वती पुस्तक भंडार, हाथी
खाना, रतन पोल, अहमदाबाद
(गुजरात)
३. जसवन्त लाल गिरधर लाल शाह
दोशी वाड़ा नी पोल, अहमदाबाद
(गुजरात)
४. मोती लाल बनारसी दास
बंगलो रोड, जवाहर नगर
दिल्ली-७
५. भारतीय संस्कृति भवन
माई हीरां गेट जालेन्धर
६. श्री देसराज त्रिभुवन कुमार जैन
पुराना बाज़ार लुधियाना
७. मेधराज पुस्तक भण्डार
कीकास्टीट, गोडी जी की चाल
पायधुनी बम्बई-२
८. सोमचन्द्र जी शाह
जीवन निवास के सामने
पालीताना (सौराष्ट्र)



प. आचार्यदेव श्रीमद् जनकचन्द्र सूरीश्वरजी म० सा०

समर्पणम्

जिन्होंने अनेक उपसर्गों को सहन करके जैन जनेतर
जातियों में धर्म का प्रचार किया, जिन की अमृत-
वाणी में समन्वय की अजल धारा प्रवहमान है,
जिनके क्रमयुग्म में रह कर मुझे जैसे पामर
प्राणी को भी संयम, त्याग, सहिष्णुता को
विकसित करने का अवसर प्राप्त हुआ,
जिन की कृपा दृष्टि से मेरा
कल्याण-पथ सदैव प्रशस्त
होता रहा,

ऐसे

परम श्रेष्ठेय, युव-प्रतिबोधक
सर्व-धर्मसमन्वयी आचार्यदेव श्रीमद्

विजय जनक चन्द्र सूरेश्वर जी महाराज

के पावन कर कमलों में

सविनय सादर, समाक्ति

समर्पित

पादपद्मारेणु

यशोभद्र विजय

(३)

आर्थिक सहयोगी

११००१	श्री गौडी जी जैन रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट	बम्बई
३००१	श्री सुपार्श्वनाथ जैन मन्दिर ट्रस्ट	बालकेश्वर बम्बई
२००१	श्री मोतीशाह जैन रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट	भायखला बम्बई
२००१	श्री देवकरण मेशन-लुहार चाल जैन संघ, प्रिसेस स्ट्रीट	बम्बई
१००१	श्री अमर चन्द रतन चन्द झवेरी	बालकेश्वर बम्बई
५०१	श्री शांति नाथ जैन मन्दिर पायधुनी	बम्बई
५०१	श्री गौडी जी आराधक मंडल पायधुनी	बम्बई
५०१	श्री गौडी जी आराधक बहिनें पायधुनी	बम्बई
५०१	श्री बापा लाल नागर दास पायधुनी	बम्बई
५०१	श्री सुमति लाल पोपट लाल पायधुनी	बम्बई
५०१	श्री ऋमार पाल रतन चन्द झवेरी पायधुनी	बम्बई
२५१	श्री बाबू भाई पाना लाल झवेरी	बम्बई
२५१	श्री बाबू भाई मंगलदास दखारिया	बम्बई
२५१	श्री कांति लाल वरधी लाल	बम्बई
२५१	श्री पोपट बेन चन्दु लाल	बम्बई
२५१	श्री कालीदास नान चन्द	बम्बई
२५१	श्री सोलंकी ब्रादर्स	बम्बई
२५१	श्री भगवान जी छोग मल	बम्बई
२५१	मंगल दास डाह्या भाई	बम्बई
२५१	श्री कांति लाल तिलक चन्द	बम्बई
२५१	श्री दली चन्द माणेक चन्द	बम्बई
२५१	श्री चीनू भाई प्रेम चन्द	बम्बई
२५१	श्री खांति लाल, लाल चन्द	बम्बई

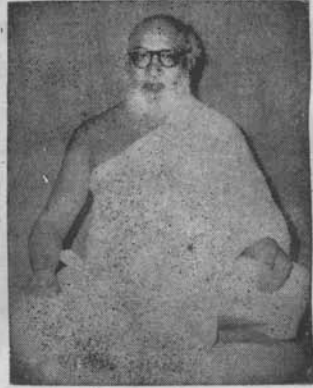
२५१	श्री दली चन्द रायचन्द	बम्बई
२५१	श्री चन्दु लाल भाई गोडी जी जैन मन्दिर	बम्बई
२५१	श्री राजेन्द्र कुमार रणजीत कुमार	बम्बई
२५१	श्री रमणीक भाई लल्लु भाई	बम्बई
१००१	श्री कपूर चन्द जी	बम्बई
२०१	श्री बाबू लाल जी लूणावा	बम्बई
२५१	श्री बाबू भाई गांधी अंधेरी	बम्बई
२५१	श्री मांगी लाल माहीम	बम्बई
२५१	श्री पारस कुमार भायखला	बम्बई

२६५३२



(५)

आशीर्वचन



मानव जीवन में कर्म की सकाम निर्जरा के लिए उपकारी ऋषि-महर्षि मुनिजनों ने अनेक आलम्बन बताए हैं। उन में ज्ञान की साधना एवं रचना सर्वोत्तम आलम्बन है। स्वाध्याय नाम के आभ्यन्तर तप से अत्यन्त आत्म-शुद्धि व बहुत ही सकाम निर्जरा होती है। बिना स्वाध्याय के ज्ञान की उपलब्धि असंभव ही है। स्वाध्याय के सागर में डुबकी लगा कर ही विचारों के सुन्दर मोती प्राप्त किए जा सकते हैं। स्वाध्याय ही ज्ञान के आलोक में ले जाता है।

स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथन ये पाँच प्रकार हैं। इनके माध्यम से ही ज्ञान के प्रकाश को पाया जा सकता है।

गीतार्थ गुरुवर के पास बैठ कर विनय-पूर्वक द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरितानुयोग एवं चरणकरणानुयोग, इन सब का श्रवण व चिंतन आदि करने से महान् कर्म निर्जरा होती है।

पाँचों प्रकार के स्वाध्याय से श्रुतधर्म और चारित्र्य धर्म की संयम धर्म में बहुत पुष्टि होती है। कहा भी है—

काव्य शास्त्रविनोदेन, कालो गच्छतिधीमताम् ॥
 व्यसनेन ही मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ॥
 साहित्य सङ्गीत कला विहीनः,
 साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
 तृणं न खादन्नपि जीवमानः,
 तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

बुद्धिमानों का समय काव्य शास्त्र रचना आदि में व्यतीत होता है। इस के विपरीत मूर्खजनों का समय सप्त-व्यसन प्रमाद तथा कलहादि में ही जाता है। सच कहा है कि सङ्गीत, साहित्य, कला आदि ज्ञानरहित मानव पुच्छ और शृंग बिना का पशु ही है। मानव तृण नहीं खाता है, फिर भी जीता है तो समझना चाहिए कि यह पशुओं का अहोभाग्य है। इस से हम भी शिक्षा लें कि सुन्दर-सुन्दर रचनाओं में तथा ज्ञान, ध्यान, तप एवं स्वाध्याय में दिल लगा कर स्व-पर कल्याण करें।

मुनि श्री यशोभद्र विजय जी के द्वारा 'योग शास्त्र' के प्रथम भाग का विवेचन प्रकाशित किया जा रहा है, यह ज्ञात कर अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

लेखक मुनिवर्य ज्ञान ध्यान के द्वारा सुपाठ्य ग्रंथों की रचना करते रहें, तथा समाज को नित्य नवीन मार्गदर्शन देते रहें, यही शुभकामना है।

आचार्य इन्द्रदिन सूरि
 बम्बई

प्रकाशक को ओर से

विधि का विधान है कि जहां आवश्यकता होती है, वहां आविष्कार भी हो जाता है। समय-समय पर समाज को अनेक युग-पुरुषों की आवश्यकता प्रतीत हुई। तो प्रकृति ने भी समय-२ पर हेमचन्द्र, हरिभद्र, यशो विजय, गुरु आत्म, गुरु वल्लभ आदि महापुरुषों को स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण कर दिया।

इन युगपुरुषों के कार्यों को पूर्ण करने के लिए उनकी शिष्य प्रशिष्यादि परम्परा प्रयत्नशील रही। परिणाम आप के सम्मुख है कि वर्तमान में जैन धर्म का कितना विस्तृत सांगोपांग साहित्य उपलब्ध है। कुछ मुद्रित है, कुछ हस्त लिखित है तथा कुछ शोध के योग्य है।

साहित्य प्रकाशन भी एक सामाजिक आवश्यकता है। एक कवि ने कहा था—

अंधकार है वहां, जहां आदित्य नहीं।

मूर्ख है वह देश, जहां साहित्य नहीं।

किसी भी संस्कृति का विनाश तथा विकास उस की साहित्य सम्पदा के विनाश तथा विकास पर ही निर्भर है, जिस धर्म का अपना साहित्य नहीं वह धर्म स्थायी नहीं रह सकता। यही कारण है कि आधुनिक धर्माचार्यों तथा कथित भगवानों ने अपने साहित्य का जाल फँलाना प्रारम्भ कर दिया है। ताकि वे न रहें तो कम से कम उन की संस्कृति तो एक-आधशती तक जीवित रह सके।

जैन साहित्य अति विस्तृत है, समस्त जैन साहित्य का मुद्रण तो अति कठिन है। एक-एक ग्रंथ पर सैकड़ों टीकाएं भाष्य तथा चूर्णियां हैं। उन सब का पारायण भी कौन कर सकता है?

वर्तमान में श्रमण संघ तथा गृहस्थों की कुछ अमूल्य रचनाएं देखने में आईं। मन पुकार उठा कि महावीर के शासन

को समझने वाले आप भी हैं। उनकी नास्ति नहीं हुई, नास्ति हो भी कैसे सकती है? समय-समय पर प्रबुद्ध श्रमण समुदाय अपनी प्रतिभा से अनेक दिव्य, अमूल्य ग्रन्थों का, सर्जन करता रहा है।

वर्तमान के कतिपय श्रमणों से समाज को बहुत आशाएं हैं। वक्ता अपनी शैली में समाज की संरचना करता है। चिंतक अपनी रीति से समाज की विन्ता करता है। विद्वान् अपनी अनुपम विचार शक्ति से समाज का संचालन करता हैं। संयमी अपने संयम के तेजस् से ही समाज के दुर्गुणों को अपगत करता है। लेखक समय की आवश्यकता के अनुरूप अपनी लेखनी चलाता है। तथा कवि ! वह तो निरंकुश होता है, जो चाहे बना डाले। कवयः निरंकुशाः।

वक्ता तथा लेखक का समाज के प्रति महान् दायित्व होता है। वक्ता इंगित करता है। लेखक उपाय भी प्रस्तुत कर देता है। लेखक का कर्तव्य यही है कि वह समाज-हितार्थ लिखे। उसे २-४ व्यक्ति नहीं, एक समाज नहीं, एक राष्ट्र नहीं, समस्त विश्व पढ़े। इस प्रकार से लेखक का दायित्व भी महान् है तथा उस का क्षेत्र भी विस्तृत है।

प्रस्तुत ग्रंथ

हेमचन्द्राचार्य का योग विषयक ग्रन्थ है। इसके विवरण एवं विवेचन कर्ता हैं विद्वद्दर्शन, वक्ता मुनि श्री यशोभद्र विजय जी।

जब इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए तैयारी प्रारम्भ की गई तो मुनि श्री जी के मधुर स्मित से ऐसा अनुभव हुआ कि यह ग्रंथ महज जिम्मेदारी की भावना से ही हमें नहीं सौंपा गया। सम्भवतः कार्यकर्त्ताओं की शक्ति को परखने का भी यह एक माध्यम था।

सत्य भी है। पहले परखो ! मुनि जी का स्मित यह कह रहा था कि कार्य करो, बाद में हास्य का श्री गणेश होगा और

सच ! यह हास्य हास्य न रहा, गंभीर चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ ।

हमें यह विचार भी न था कि योग शास्त्र का प्रकाशन होते होते मुनि श्री जी अनेक ग्रन्थों की रचना कर चुके होंगे । अस्तु...

विद्वान् मुनि जी के लघु तथा बृहत् १५ ग्रन्थों का प्रकाशन अब वेग से हो रहा है ।

लेखक मुनिवर्य का परिचय देने की तो आवश्यकता ही नहीं है । वे एक सुशिक्षित, सभ्य मिलनसार, समन्वयवादी मुनिराज हैं । उनका व्याकरण अलंकार, साहित्य, काव्यकोष, छंदस्, न्याय, दर्शन, आगम, षट्दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों पर समान आधिपत्य है । आपने प्राचीन न्याय तथा दर्शन शास्त्र का विशेष अध्ययन किया है । जो कि मुनि जी के ग्रंथों के मध्य में दिए गए तर्कों से स्पष्ट ध्वनित होता है ।

कृति से कृतिमान् को पहचान हो यही अधिक उपायुक्त है । मुनि जी लेखक तथा विद्वान् तो हैं ही, प्रखर व्याख्याता तथा आधुनिक चिन्तक भी हैं । पुराने निष्प्राय रूढ़ियों को मुनि जी अपनी शैली में कोसते हैं ।

प्रवचन में निरर्तित व्यावहारिक परम्पराओं के विरुद्ध उनका स्वर सदैव मुखरित रहा है । वे व्यवहार के माथ निश्चय के भी पक्षपाती हैं । वे परम्परागत व्यवहार में निश्चय के दर्शन चाहते हैं । जिससे प्रत्येक धर्म क्रिया सार्थक हो सके । उनके चिन्तन में नवीनता के साथ विविधता है । विचारों में तन्मग्नता है तथा संघम में एक रसता है । वे एक स्पष्ट वक्ता हैं, जिनको ओजस्वी वाणी को गूत्र प्रत्येक समाज में धुग-२ नर रहता है । उनकी मधुर शैली, स्पष्ट भाषा तथा विश्लेषण शक्ति को श्रोता ही जान सकता है । वर्तमान में 'कुछ इधर को कुछ उधर को' लेकर मुनने वाले वक्ता तो समाज में बहुत हैं । परन्तु मुनि जो जैसे चिन्तक एवं वक्ता की छाप समाज पर कुछ और ही पड़ती है ।

आप आज तक पंजाब तथा बम्बई आदि में अनेक शिविरों का आयोजन कर चुके हैं। आप के हृदय में जो साहस तथा समाज के प्रति जो तड़प है वह किसी परिचित से अज्ञात नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ उन की समन्वय भावना, विश्लेषण-शक्ति तथा विद्वत्ता का मिश्र निदर्शन है।

इस ग्रन्थ में योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश के मात्र ३३ श्लोक ही लिए गए हैं। इस में पाठक को योग के विषय में स्पष्ट दृष्टि कोण प्राप्त हो सकता है। मुनि जी के अन्य छोटे बड़े १५ ग्रन्थ भी प्रकाशन के लिए प्रैस में जा चुके हैं। मुनि श्री जी अन्य रुचिकर विषयों पर लेखनी के द्वारा समाज को लाभान्वित करेंगे, ऐसा विश्वास है।

पुस्तक प्रकाशन का दायित्व 'विजय वल्लभ मिशन' को सौंपा गया। प्रकाशन में कुछ विलम्ब हुआ, इस के लिए अनेक कारण हैं। श्री गौड़ी जी जैन उपाश्रय में जनता ने विशाल संख्या में योग शास्त्र पर जो प्रवचन सुने हैं, उन में से प्रारम्भ के २० प्रवचन आप की सेवा में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। आशा है कि इन प्रवचनों से आप को योग्य मार्ग दर्शन मिल सकेगा।

जिन दानवीरों ने इस पुस्तक में धनराशि का सहयोग देकर भक्ति का लाभ लिया है, उन का धन्यवाद है।

श्री बलदेव राज जी, महामन्त्री—श्री आत्मानन्द जैन महा-सभा उत्तरी भारत का भी आभार व्यक्त करना चाहिए जिन्होंने श्री सोहन विजय प्रैस में यह ग्रन्थ-प्रकाशन समय पर मूद्रित कर दिया।

स्वकीयम्

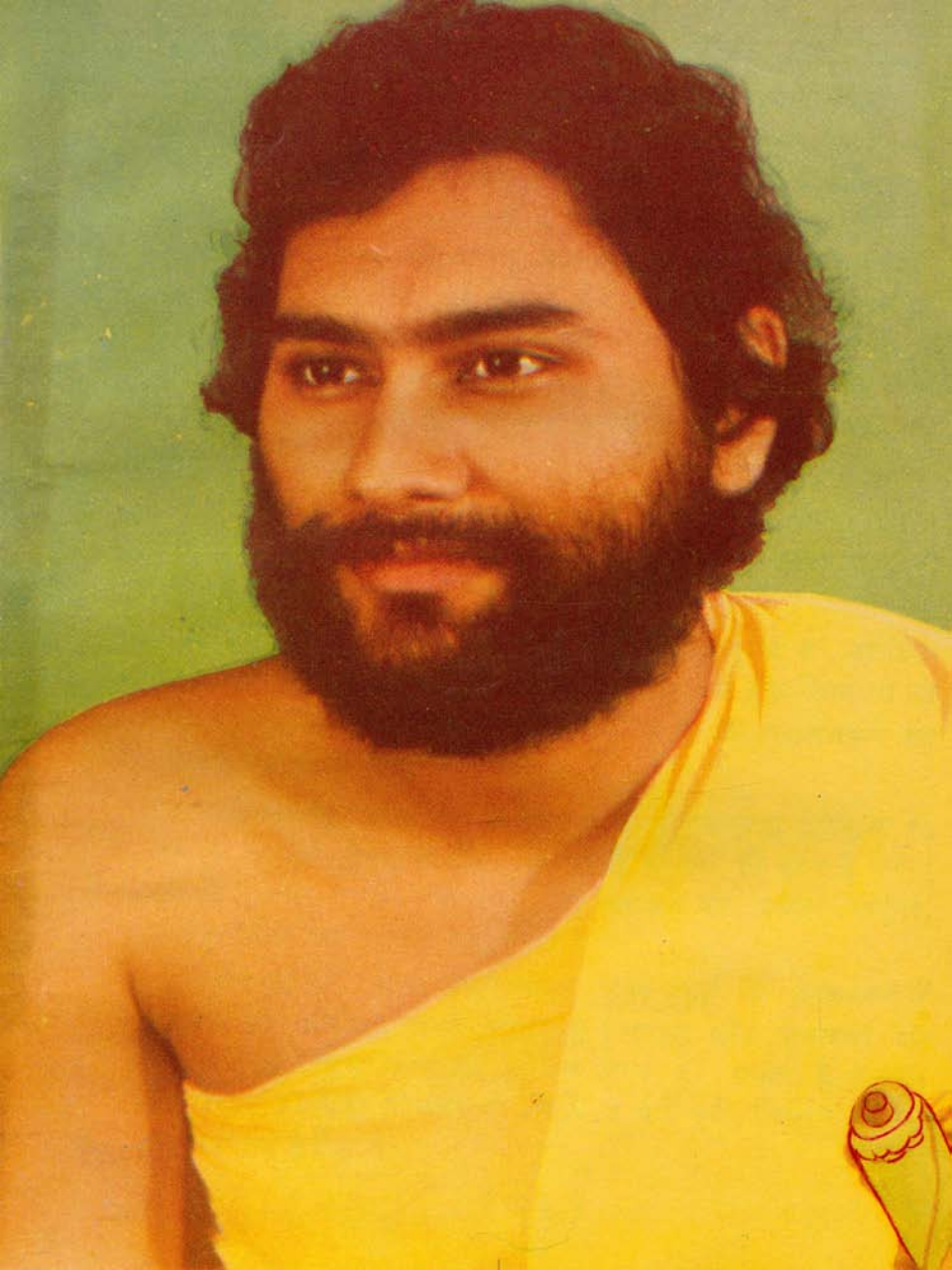
योग शास्त्र भाग १ आप के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रमोद की अनुभूति हो रही है ।

आज से २-३ वर्ष पूर्व मेरे मन में एक विचार उद्भूत हुआ कि विद्वान् तथा वक्ता बन जाने का प्रयोजन क्या हो सकता है ? यद्यपि मैं न कोई विद्वान् हूँ, न वक्ता तथापि प्रश्न का समाधान तो अपेक्षणीय था ही । समाधान मिला कि स्व पर कल्याण ही विद्वत्ता तथा उपदेश शक्ति (वक्तृत्व) का फल है ।

विद्वान् तथा वक्ता स्वकल्याण कितना करता है ? यह उस का व्यक्तिगत प्रश्न है परन्तु समाज का कल्याण (परकल्याण) निजी प्रश्न नहीं । अतः परकल्याण की ओर विद्वानों की रुचि हो, यह नैसर्गिक ही है । स्थान-स्थान पर प्रवचनों का, जाहेर प्रवचनों का आयोजन होता है । प्रवचन का श्रोताओं को कब तक स्मरण रह सकता है ? श्रमण-संघ के विशाल अध्ययन का लाभ क्या जनता को स्थायी रूप से प्राप्त हो पाता है ?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर के रूप में कुछ श्रमण-श्रमणियों ने आचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर की परम्परा को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाया । परहितार्थ अनेक ग्रंथों का निर्माण करना प्रारम्भ किया । शास्त्र सिद्ध तथ्यों को स्वभाषा में, स्वशैली में, स्वचितन तथा स्वानुभव से लिखने का कार्य प्रारम्भ किया । वर्तमान में इस नवीन लेखन कला से समाज को अपार लाभ हो रहा है, यह असंदिग्ध है । लेखन की शर्त मात्र इतनी ही होनी चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन पोषक हो, विवादों से रहित हो तथा समन्वय का प्रतीक हो ।

ऐसे साहित्य का प्रकाशन कदापि उचित नहीं हो सकता, जिस के द्वारा जानबूझ कर संघ में कलह तथा विवाद का श्री-गणेश कर दिया जाए ।



आचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी के वाद-विवाद, खंडन-मंडन के ग्रंथ युग की आवश्यकता के अनुसार लिखे गए, परन्तु आज जब कि समन्वय के नाम पर समस्त धर्म तथा धर्माचार्य एक मंच पर बैठना रुचिसंगत मानते हैं। विश्व में ऐक्य की बातें जोर पकड़ रही हैं। विश्व में एक सरकार की बात भले ही हास्यास्पद लगे परन्तु देश-देश के मतभेदों को सुलझाने का कार्य त्वरित गत्या हो रहा है अतः समन्वयवादी सत् साहित्य की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है। प्रत्येक मानव या धर्म को अंततः समन्वय के मार्ग पर ही आना होगा, इसका अन्य कोई भी विकल्प नहीं है क्योंकि समन्वय में ही अनेकांतवाद का मूल तिरोहित है।

श्रमण वर्ग की भी अपनी-अपनी साधना है, अपना-अपना चिंतन है, अपना-अपना कार्य क्षेत्र है। श्रमणों का लेखन क्षेत्र भी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

मेरे मन में भी लेखन के क्षेत्र में चिंतन-अनुभव के आदान-प्रदान की भावना जागृत हुई। लेखक जनता को कुछ सिखाता ही नहीं है, उसे जनता से, पाठकों से, बहुत कुछ सीखने-समझने का भी अवसर प्राप्त होता है।

लेखक का चिंतन उस के लेखक में झलकता है। लेखक की बात से सहमत होना, न होना तो अपनी इच्छा की बात है परन्तु उस के शास्त्र-प्रमाण या तर्क को समझने का प्रयत्न करना, प्रत्येक पाठक का कर्तव्य बन जाता है।

प्रवचन की 'वाह-वाह' तथा 'हवा-हवा' के आडम्बर में जनता को सीमित लाभ होता है। परन्तु यदि प्रवचनों को प्रकाशित कर दिया जाए तो अधिक लाभ हो सकता है अतएव ग्रंथ लेखन की मेरी योजना जो कि २-३ वर्ष पूर्व निर्मित हुई थी अब प्रारम्भ हुई है।

अतीत वर्ष में जब मेरा चातुर्मास परमश्रद्धेय, युवा-प्रतिबोधक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जनक चन्द्र सूरेश्वर जी के साथ श्री गोडी जी जैन उपाश्रय-पायधुनी बम्बई में था। उस समय कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रणीत योगशास्त्र को व्याख्यान में प्रारम्भ किया गया था।

चातुर्मास में योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश का प्रारम्भिक भाग मेरा प्रवचन का विषय रहा। श्रुतरसिक जनता ने आग्रह किया कि इन प्रवचनों के प्रकाशन की व्यवस्था हो सके तो बहुत अच्छा हो।

फलतः इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य श्री विजय वल्लभ मिशन को सौंपा गया।

मैंने इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के ३३ श्लोकों पर विस्तृत विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। मेरा विचार था कि इस ग्रन्थ के द्वारा पाठकों को कतिपय विषयों पर व्यवहार-निश्चय का ज्ञान अल्पांश में भी हो जाना चाहिए। इस के अतिरिक्त पाठक जिस विषय का अध्ययन करें, उन्हें उस विषय का अनिवायं ज्ञान हो सके, एतदर्थ इस ग्रन्थ को इसी रूप में लिखा गया है। पाठक इस विषय निरूपण को व्यवहार तथा निश्चय की युक्ति के रूप में समझें, अन्यथा शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं। इस ग्रन्थ में ज्ञान तथा क्रिया प्रकरण भी ज्ञान तथा क्रिया की युगपद विधायकता (Positive View) के लिए लिखा गया है। पाठक उसे भी अन्यथा रूप से न लें।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना का निर्माण हो जाने के पश्चात् अनेक बाधाएं उपस्थित हुईं। यह ग्रन्थ लुधियाना (पंजाब) में मुद्रणार्थ प्रेषित किया गया। अन्य ग्रन्थों की रचना में व्यस्त होने के कारण प्रतिलिपि तैयार करने में विलंब हुआ। पंजाब की स्थितियां देश व्यापी चिंता का विषय बनी हुई थीं। अतः वहां

पर Press-Work भी शनैः-शनैः हुआ। प्रूफ संशोधन आदि में इसी कारण से विलम्ब हुआ। अब ६ मास की अनावश्यक प्रतीक्षा के पश्चात् ग्रन्थ आप के हाथों में है। आप को ही निर्णय करना है कि ग्रंथ कैसा है ?

योग शास्त्र भाग-२, जब भी प्रकाशित होगा, वह मात्र अष्ट प्रवचन माता, मार्गानुसारों के ३५ गुणों का ही प्रतिपादक होगा।

लेखन में मेरा यह प्राथमिक प्रयास है। यदाकदा कविता (भजन) लिखने का अवसर भी प्राप्त हो जाता है। मुझे प्रसन्नता है कि 'संगीत मंजरी' भाग १-२ की ४५०० प्रतियां भी दो वर्ष में जनता की रुचि के कारण समाप्त हो गईं। जैन प्रश्न माला भी पर्याप्त लोकप्रिय बनी।

इस अमूल्य ग्रंथ के साथ-साथ 'जैन-हस्त-रेखा-शास्त्र' भी प्रकाशित हो रहा है। "समाज की बेड़ियां कैसे टूटें" ग्रन्थ भी प्रकाशनाधीन है। "१०० दुर्गुणों की चिकित्सा" पुस्तक भी प्रैस में है।

इस भीवंडो चानुर्मास में आयोजित १० जाहेर प्रवचनों के प्रकाशन का कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है। आशा है कि पाठक इन ग्रन्थों में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसी पर दृष्टिपात करेंगे तथा जो कुछ स्वाद रहित है उसके लिए मुझे सूचित करेंगे।

पुस्तक में मात्र लगभग २० विषयों का ही विवेचन है जिस से यह ग्रन्थ विषय-विवेचन की दृष्टि से भी सुपाठ्य है।

'विजय वल्लभ मिशन' की स्थापना गुरु वल्लभ के आदर्शों की पूर्ति के लिए ही की गई है। लगभग एक वर्ष पूर्व इस संस्था की स्थापना के पश्चात् संस्था ने अनेक क्षेत्रों में प्रगति की है। पुस्तक प्रकाशन का कार्य भी इस संस्था के द्वारा प्रारम्भ हो चुका है। हमारे प्रकाशनाधीन छोटे बड़े १५ ग्रन्थ इसी संस्था के द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं।

मुझे 'विजय वल्लभ मिशन' की स्थापना करने की

(१५)

आवश्यकता तब अनुभूत हुई, जब 'गुरु वल्लभ तथा गुरु आत्म' के नाम से चल रही अधिकांश संस्थाओं का कार्य मुझे सन्तोषजनक न लगा। उन की कार्यविधि भी मुझे रुचिकर प्रतीत न हुई। कुछ संस्थाएं नाम मात्र को ही जीवित हैं। कुछ संस्थाएं मात्र 'बैलेंस' के ही चक्कर में रहती हैं। कार्य के नाम पर वे 'तूष्णींभव' का पाठ सिखाती हैं। कुछ संस्थाएं वृद्ध हो रही हैं, व उन्हें पुनः सशक्त करने की आवश्यकता है।

लुधियाना व अम्बाला की संस्थाएं, बम्बई का महावीर विद्यालय, पूना का विजय वल्लभ विद्यालय, राजस्थान के विद्यालय, बड़ौदा का विजय वल्लभ हस्पताल आदि कुछ ही संस्थाएं ऐसी हैं जिन्होंने कार्यक्षेत्र में अपनी धाक जमाई है, अन्यथा 'गुरु वल्लभ के मिशन की किसे चिन्ता है ?

आचार्य देव श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरेश्वर जी महाराज इस दिशा में सदैव कार्यरत रहे हैं। सभी संस्थाओं को अनुदान दिलाना, पुनर्जीवित करना तथा योजनाओं को साकार करना, यह उन के उत्कट कार्य हैं।

पूज्य गुरुदेव के आशीर्वाद से 'श्री विजय वल्लभ मिशन' भी अपने साहित्य सेवा, सामाजिक एकता, शिक्षा प्रचार, साधर्मिक उत्थान, श्रमण संघ वैयावच्च तथा साधु साध्वी शिक्षा आदि कार्यों में सफल होगा, ऐसा विश्वास है।

विद्वान् बनना कठिन है। जब कि वक्ता तथा लेखक बनना उस से भी कठिन है। मेरा यह ग्रंथ रचना का कार्य आद्य प्रयास है, अभी प्रारम्भिक चरण में है। अतः इस कार्य में त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। कोई त्रुटि हो तो पाठक सूचित करें।

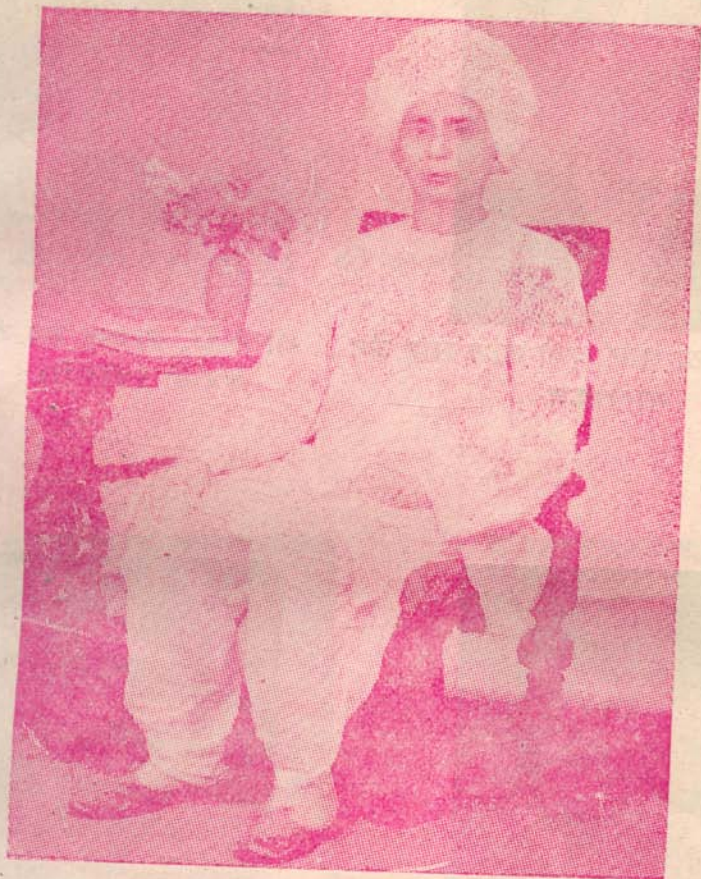
पुस्तक प्रकाशन में जिन महानुभावों का सक्रिय योगदान रहा है, मैं उन के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

आषाढ, शुदि १४ भीवंडी

मुनि यशोभद्र विजय

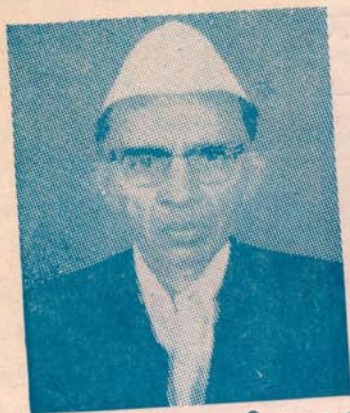
(१६)

स्व० श्री नरसिंह मल गुलाब चन्द जैन
पावा (राज०)



के सुपुत्र श्री शंकर लाल जी, श्री फूल चन्द जी, श्री पुखराज जी,
श्री रत्न चन्द जी, श्री राजमल जी, श्री सोहन राज जी
(हाल भीवंडी) के द्वारा इस ग्रन्थ का विमोचन
किया गया ।

इस पुस्तक में 1001/- रु० देने वाले दानवीर



श्री जेठा लाल चूनी लाल शाह जैन
सान्ताक्रूज



श्री A.D. वाच्छर शेठ जी
पंजाबी (भीवंडी)



शाह कपूर चन्द प्रेम चन्द जी
(मुंडारा)



श्री रमणीक लाल, भोगी लाल जैन
(बम्बई)



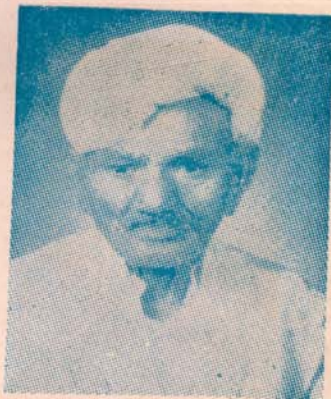
श्री मोहन लाल जी जैन
(बम्बई)



श्री जयन्ती लाल डाह्या लाल लाखानी
(Dihor)



दोशी जेठा लाल अंजावी दास
(राजकोट)



श्री वेल जी लखमसी
(आरबलुंस)



श्रीमती मंजुला बहिन अमोचन्द शाह (बम्बई)



श्रीमती नन्दा बहिन बाबूलाल जी (मजगांव)



श्रीमती शारदा बहिन जेठा लाल जी (सांताक्रज)



श्रीमती कमलावती चिमन लाल भीवंडी

काणी

स्व० नगीन दास गीरधर लाल शाह
दाहोद (पंचमहाल)



स्व० शांता बेन जयंति लाल शाह
(दाहोद)

अनुक्रमणिका

	श्लोक	पृ.
१. योग का माहत्म्य	१-१२	१-३३
२. उपशम विधैक संवर	१३	३३
३. योग क्या है ?	१४	४५
४. योग का लक्षण	१५	६३
५. ज्ञानः श्रेयस् का योग	१६	७१
६. सम्यग्दर्शन	१७	९१
७. सम्यक्चारित्र	१८	११९
८. ज्ञान तथा क्रिया	—	१४६
९. अहिंसा	१९-२०	१७३
१०. सत्य	२१	२०१
११. अस्तेय	२२	२२३
१२. ब्रह्मचर्य	२३	२४५
१३. अपरिग्रह	२४	२७२
१४. ५ महाव्रतों की भावनाएं	२५-३३	२९५

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

कलिकाल-सर्वज्ञ, श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य विरचित

योग शास्त्र

(हिन्दी विवेचन)

(प्रथम प्रकाश)

नमो दुर्वार रागादि वंरिवार निवारिणे ।

अहंते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ॥१॥

अर्थ - दुष्टकर रूप से दूर करने योग्य राग-द्वेष-मोह आदि शत्रुओं के समूह का निवारण करने वाले, अर्हंत भगवान्, योगियों के स्वामी, सांसारिक जीवों के रक्षक तथा विश्व के सर्वश्रेष्ठ वीर (शूरवीर) श्री महावीर भगवान् को मैं (इस ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए) नमस्कार करता हूँ ।

विवेचन—शास्त्रकार ने इस श्लोक में भगवान् महावीर प्रभु के नाम के साथ पांच विशेषणों का युक्ति तथा बुद्धि से परिपूर्ण संयोजन किया है । इस से ध्वनित होता है, कि शास्त्रकार को कोई निर्गुण या अल्पगुण 'ईश्वर', नमस्कारार्थ अभिप्रेत नहीं, परन्तु वे नमस्कार्य परमात्मा को अनेक गुणों-विशेषणों से युक्त होने पर ही बुद्धिगम्य मानते हैं ।

मैं भगवान् महावीर के इन पांच विशेषणों का क्रमशः विवेचन करूंगा—

१. दुर्वार-रागादि-वैरि-वार-निवारिणे—जो परमात्मा शब्द से अभिहित किया जाता है, वह महान् काठिन्य से निवारण-योग्य राग द्वेषादि से रहित होना चाहिए । हेमचन्द्राचार्य स्वरचित अभिधान चिंतामणि कोष में तीर्थंकर को १८ अवगुणों से मुक्त अथवा १८ दोषों से रहित सिद्ध करते हैं ।

अन्तरायाः दानलाभवीर्यभोगोपभोगमाः ।

हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा चाविरतिस्तथा ।

रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥

अर्थात्—१. दानांतराय, २. लाभांतराय, ३. भोगांतराय, ४. उपभोगांतराय, ५. वीर्यांतराय ६. हास्य ७. रति (प्रसन्नता) ८. अरति (खेद) ९. भय १०. घृणा ११. शोक १२. काम १३. मिथ्यात्व १४. अज्ञान १५. निद्रा १६. अविरति १७. राग १८. द्वेष—ये दोष अरिहंत-तीर्थंकर-अर्हन् में नहीं होते । इन दोषों को चार घाती कर्मों में निम्न रूप से विभाजित किया जा सकता है ।

कर्म	दोष
१. ज्ञानावरणीय	अज्ञान
२. दर्शनावरणीय	निद्रा
३. मोहनीय	हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, काम, मिथ्यात्व, अविरति राग, द्वेष ।
४. अन्तराय	दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय ।

ग्रन्थकार उपर्युक्त विशेषण के द्वारा प्रभु में तीन विशेषणों को समाहित करना चाहते हैं । १. अनंत-विज्ञान २. अतीत दोष तथा ३. अबाध्य सिद्धांत । ग्रन्थकार के 'अन्ययोग

व्यवच्छेदिका' ग्रन्थ के अनुसार ये तीनों विशेषण मिथोग्राही हैं। जो अनन्तविज्ञानी होता है, वह दोष रहित होता ही है तथा जो दोष रहित होता है, वह अबाध्य—(अकाट्य तकौ वाले) सिद्धांत का प्रणेता होता है। जिस में ये तीन विशेषण होते हैं, उस में 'देव पूज्यता' भी समाहित हो जाती है। (जिसका विवेचन द्वितीय विशेषण 'अर्हत्' के प्रकरण में किया जाएगा।)

“दुर्वार रागादि.....” वस्तुतः मानव के बाह्य शत्रु, मानव के लिए उतने अनर्थकारी प्रमाणित नहीं होते, जितने कि आभ्यन्तर शत्रु। बाह्य शत्रुओं के विनाशार्थ बाह्य उपकरणों का आविष्कार आवश्यक है। जब कि आंतरिक शत्रुओं के विनाशार्थ आन्तरिक साधनों का आविर्भाव ही अपेक्ष्य है।

रागद्वेषादि जितनी आत्मा की हानि करते हैं, भौतिक साधन या अन्य कोई भाव उतनी हानि नहीं करते। भौतिक साधन भी हानि उसी अवस्था (Condition) में करते हैं, जिस अवस्था में राग द्वेष का बंध हो। राग द्वेष के द्वारा कर्मों का तीव्र बंध होने से ही आत्मा का दुर्गति आदि में पतन होता है।

यदि द्वेष अनुचित है तो राग उस से भी अधिक भयंकर है। राग वैयक्तिक हो या पारिस्थितिक-वह राग ही कहा जाएगा। राग का परिणाम दूर द्रष्टा ही जानते हैं। 'आपात्' रम्या भोगा:—भोग तो प्रारम्भ में रमणीय प्रतीत होते हैं, तत्पश्चात् वे ही निम्बफलवत् कटु प्रतिभासित होते हैं। जिस का फल कटु हो, उस का मूल अकटु या मधुर कैसे हो सकता है ?

रागद्वेष में से राग मूल है तथा द्वेष उस का फल। बिना राग के द्वेष कदापि नहीं होता। द्वेष के अस्तित्व में राग अवश्यम्भावी है। मानव की साधकावस्था का मूल मंत्र 'राग राहित्य' है। समता का सम्बन्ध यद्यपि द्वेष तथा क्रोध की समाप्ति के साथ है तथापि राग रहित हो जाने पर द्वेष या समता की कल्पना ही व्यर्थ है, क्यों

कि समता एक गृहीत (Adopted) वस्तु है, सहज नहीं। जबकि 'रागराहित्य' सहज दशा है। अतएव भगवान् को 'वीतद्वेष' नहीं कहा जाता, वीतराग कहा जाता है। जब राग 'वीत' (अतीत) हो जाता है, तो द्वेष की परिकल्पना ही नहीं हो सकती है।

समस्त कर्मों में मोहनीय कर्म को 'कर्म सम्राट्' कहा जाता है—राग-मोह, रति, प्रीति-ये सब 'मोहनीय' के भेद-प्रभेद हैं। समस्त शुभ क्रियाओं का उद्देश्य राग से रहित हो जाना है। आत्मा का मूल स्वभाव 'रागवान् होना' नहीं है। राग, आत्मा की प्रकृति नहीं, विकृति है। समतावान् योगी किसी पर द्वेष तो नहीं रखते, राग भी नहीं रखते। महावीर तो योगियों के आश्रयस्थल हैं, मार्ग दर्शक हैं। वे रागवान् कैसे हो सकते हैं।

अन्य धर्मों के 'ईश्वर' में, उन धर्मों के संस्थापकों ने, 'रागभाव' के अस्तित्व-या अनस्तित्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं किया है। उन के मतानुसार जो ईश्वर या जगत्स्रष्टा है, जो अल्ला या खुदा है, जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, आदि भिन्न-भिन्न ईश्वर के रूप में ख्यातनामा है, उस में गुण अथवा अवगुण की कल्पना ही व्यर्थ है। उन्होंने गुणावगुण के महत्त्व को नकारते हुए एकमात्र उन की शक्ति को स्वीकार किया है। पुराणों में उन के शक्ति परीक्षण के द्वारा उन के महान्-महत्तर-महत्तम होने का उद्घोष किया गया है।

परन्तु जैनदर्शनकार तो परमात्मा या ईश्वर में रागादि दोषों के राहित्य का डिडिमघोष करते हैं। उन के अनुसार राग ही अनर्थों का मूल है। अतः ईश्वर रागी नहीं होना चाहिए। मानव राग से अनेकविध बंधनादि को प्राप्त करता है, अतः राग के वशीभूत होने से ईश्वर को भी उन बंधनादि की आपत्ति आने की संभावना से इन्कार कैसे किया जा सकता है।

भवबीजांकुरजननाः, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो, जिनो वा नमस्तस्मै ॥

आचार्य हेमचन्द्र का कथन है, कि हमें नाम से कोई प्रयोजन नहीं, काम से प्रयोजन है। भव-वृक्ष के बीज रागादि, जिसके समाप्त हो चुके हैं, उन को ही ईश्वर मान कर नमस्कार करना चाहिए।

एकधा कर्म बीज के नष्ट हो जाने पर पुनः कर्मोत्पत्ति का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बनता है, अतः कर्म-राग-द्वेष-रहित वह ईश्वर निष्कर्म, अजर, अमर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अचल, अरूप, अनन्त, अक्षय, अव्याबाधसुख, अपुनरावृत्तिधर्मा के रूप में ही ज्ञेय है।

रागद्वेषादि शत्रुओं को धूलिसात करने के लिए ही हमारी साधना-उपासना है। बाह्य जगत् पर विजय प्राप्त कर लेने से कोई शूरवीर नहीं बन जाता। आंतरिक शत्रुओं तथा स्व इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने से ही शूरवीरता का अलंकरण यथार्थ-नामा होता है। अतएव कवि ने चार व्यक्तियों के आभ्यन्तर लक्षणों का विवरण देते हुए एक श्लोक में कहा है—

इन्द्रियाणां जये शूरः... ..।

शतेषु जायते शूरः..... ।।

अर्थात् १०० में एक शूरवीर हो सकता है, परन्तु सच्चा शूरवीर - जो कि स्वीय इन्द्रियों को विजित करता है - लाखों में एक होता है।

इसी संदर्भ में ही महावीर की महावीरता का दर्शन करना है। यदि महावीर इन्द्रियजयी न होते, तो वे महावीर भी न होते। जो व्यक्ति सर्वतः कठिन कार्य करता है, वही तो शूरवीर होता है। विश्व का सर्वाधिक काठिन्यपूर्ण कार्य कौन सा है? शत्रुओं पर शस्त्र-अस्त्रों से विजय पाना? विनाशकारी बमों का आविष्कार कर लेना? परिणाम को दृष्टिविगत करते हुए भौतिकवाद का विकास करते जाना? आत्मीय शक्तियों की विस्मृति? या कुछ और? कहना ही होगा, कि यह सब नगण्य है।

आत्म विजयी बनना ही कठिनता की पराकाष्ठा है। 'स्व' में नियंत्रित रहना, 'पर' का मोह छोड़ देना, लालसा, इच्छा, क्रोधादि कषायों से विमुक्त हो जाना, इन्द्रियों का वशीकरण, यही सब से कठिन है। यही कठिन कार्य महावीर ने किया, अतएव वे महावीर हैं, शूरवीर हैं। वे महावीर हैं, अतएव वन्द्य हैं। वे वन्द्य हैं, अतएव ग्रन्थारम्भ में स्तुत्य हैं।

जब परिवार तथा स्नेही मित्रों पर राग होता है, तभी अन्यो पर द्वेष होता है। राग तथा मोह का त्याग सुखी होने का एक मात्र उपाय है।

(२) अहंते—'अहंन्' शब्द मुख्यतः 'योग्य' वाची है। जैन शासन में गुण सम्पन्न योग्य व्यक्ति को ही नमस्कार किया है। नवकार मंत्र के पांच पदों में किसी व्यक्ति विशेष को महत्त्व नहीं दिया गया, मात्र गुणवान् को ही पूज्य कहा गया है। जैन प्रवचन का स्पष्ट उद्घोष है कि—

“गुणाः पूजास्थानं गुणेषु न च लिंगं न च वयः”

अर्थात्—गुण ही पूज्य हैं, वेष या विशेष अवस्था नहीं। जैन धर्म के अनुसार, नाम भेद के बिना, कोई भी जैन जैनेतर दर्शन मान्य साधु या ईश्वर गुणों के आधार पर पूज्य हो सकता है।

अ+र्+ह=अहं—इस पदच्छेद के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश जैसी शक्तियों को भी अहं पद में समाविष्ट किया जा सकता है। ब्रह्मा का ब्रह्मत्व अथवा रचना प्रवृत्ति (उपदेश के द्वारा भव्य जीवों में धर्म रचना), विष्णु की व्यापकता तथा शिव (महेश) की मंगलमयिता भी, तीर्थंकर-ईश्वर में पूर्णतः घटित होती है।

'अहंत्', अरहंत होने के अतिरिक्त भगवान् महावीर अरिहंत भी हैं, क्योंकि वे समस्त अन्तरङ्ग शत्रुओं का हनन कर चुके हैं। वे अरूहन्त भी हैं, क्योंकि वे कर्म बीज का दहन कर देने के कारण पुनः उत्पन्न नहीं होते (अ+रूह्)। अतएव 'नमो

अरिहंताण' के स्थान पर कुछ ग्रन्थों में 'नमो अरहंताण' तथा 'नमो अरुहंताण' का भी उल्लेख मिलता है।

'अर्हत्' (योग्य) होने का पूजा के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जो योग्य होता है, वह पूज्य होता है। महावीर इसी कारण से पूजातिशय से युक्त हैं। चराचर प्राणियों सहित समस्त प्रकृति उन को बन्दन करती है। मार्गस्थ वृक्ष, उन को झुक कर नमन करते हैं। तीर्थंकर के दर्शन मात्र से ही कंटक अधोमुख हो जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे तथा-समस्त ग्रह प्रभु को नमन करते हैं। नर, नरपति तथा इन्द्र आदि समस्त शासक भी प्रभु को अपना शास्ता मानते हैं। प्रभु की योग्यता बाह्य नहीं, आन्तरिक है, अतः अलौकिक है।

वर्तमान में प्रत्येक मानव उच्चपद, धन, प्रतिष्ठा आदि का इच्छुक दिखता है। वह यह नहीं देखता कि उसमें योग्यता कितनी है? यदि योग्यता होगी, तो पद आदि स्वयमेव मिल जाएंगे। यदि योग्यता के अभाव में पद आदि मिल भी जाए, तो वह मानव उस पद को भी कर्लंकित ही करेगा। वर्तमान युग में क्या नेता, क्या समाज के अग्रगण्य, क्या साधु-साध्वी, सभी मान-प्रतिष्ठा चाहते हैं। यदि व्यक्ति स्वयोग्यता के विकास के प्रति सतत जागरूक रहे, तो मान प्रतिष्ठा की प्राप्ति अनायास ही हो सकती है।

एक साधु को एक भक्त ने कहा, "महाराज ! अपनी सेवा के लिए कोई शिष्य क्यों नहीं बना लेते ?" साधु ने प्रत्युत्तर दिया, "मुझे शिष्य बनाने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। यदि मुझ में योग्यता होगी, तो कोई न कोई व्यक्ति स्वयमेव शिष्य बन जाएगा।"

जिस समय शिष्य बनाने के लिए ६ से ८ वर्षीय बच्चों को भी दीक्षा दी जाती थी, तब गुरु वल्लभ भी ऐसा कर सकते थे। परन्तु उन्होंने बालदीक्षा का विरोध किया तथा शिष्य कम होने की कोई परवाह न की। आचार्य देव श्रीमद् विजय वल्लभ

सूरीश्वर जी म० ने कई व्यक्तियों को जो कि उनके पास दीक्षा लेने आते थे, वाराणसी में शिक्षा अर्जन के लिए भेजा, 'परिणामतः शिक्षित होने के पश्चात् उन्होंने दीक्षा लेने का विचार छोड़ दिया तथा वे समाज सेवा के कार्यों में लग गए। आचार्य समुद्र सूरीश्वर जी महाराज तथा आचार्य जनक चन्द सूरीश्वर जी म० ने भी अपने होने वाले कई शिष्य अन्य साधुओं को अपित कर दिए। आगम प्रभाकर, श्री पुण्य विजय जी महाराज को जब आचार्य पद ग्रहण करने की वितति की गई, तो उन्होंने नम्रता से उत्तर दिया, कि मेरे से साधुत्व की सच्ची साधना भी पूर्णनया नहीं हो पा रही, अतः आचार्य पद लेकर मैं क्या करूंगा ?

क्या निःस्पृहता है, इन मुनि रत्नों की ! यत्प्रयत्ना हो तो शिष्यों तथा पदवी के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं होती।

वर्तमान में धार्मिक कहलाने वाले लोग भी कितने योग्य हैं ? यह एक शोचनीय प्रश्न है। धार्मिक व्यक्ति में यदि क्रोधादि कम नहीं होते, समन्वय की भावना का विकास नहीं होता, कदम-कदम पर आत्मिक प्रगति के चिन्ह दिखाई नहीं देते, उस में ज्ञान तथा विवेक की योग्यता नहीं आती, तो वह व्यक्ति धार्मिक कैसा ? अंशतः अहं (गुण योग्य) बन जाने पर भी व्यक्ति में पूज्यता का आधान होता है। भगवान महावीर पूर्ण योग्य हैं, अतएव वे पूजातिशय से युक्त हैं।

(३) योगिनाथाय—भगवान महावीर योगियों में मुकुट के समान हैं। 'योग' शब्द की परिभाषा 'योग सिद्धि' प्रकरण में की जाएगी। जो मन वचन तथा काया के योगों को वश में कर लेता है-वही, योगी हो सकता है। योग निरोध से योगी, परमात्म पद को पा लेता है। योगी प्रत्यक्षदर्शी भी हो सकता है, योगी को अवधि ज्ञान की प्राप्ति दुरूह नहीं होती।

भगवान महावीर योगी हैं इन्द्रियविजयी हैं, मन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण है। मन के भाव (विचार) भी उनके शेष नहीं रहे

हैं। प्रश्न हो सकता है, कि भगवान महावीर जब मन के विचारों में रहित हैं, तो वे सम्यक् विचार के अभाव में उपदेश कैसे देते होंगे? भाषा तथा उपदेश की धारा विचारों के अभाव में टूटती न होगी? समाधान है, कि छद्मस्थ जीव के लिए भाषा धारा-प्रवाहिता तथा उपदेश वृत्ति के लिए विचारों का सम्यक् होना आवश्यक है, परन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी के लिए यह आवश्यक नहीं। सर्वज्ञ प्रभु जब समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को, त्रिकाल में हस्तामलकवत् जानते हैं तथा देखते हैं, तो विचार किस बात का होगा? विचार सदिग्ध तथा अस्पष्ट के विषय में होता है। परमात्मा के ज्ञान में सम्पूर्ण जगत् के भाव, असंदिग्ध एवं स्पष्ट हैं। सत्य दृष्ट वस्तु के निरूपण के समय, वे स्वभाव से अपने ज्ञान बल से प्रवचन देते हैं।

भगवान महावीर योगी होने के कारण अनेक शक्तियों तथा सिद्धियों से परिपूर्ण थे, परन्तु उन्हें अपनी शक्ति के प्रदर्शन की आवश्यकता ही नहीं थी।

भगवान महावीर योगी थे, अतः प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। न्यायादि दर्शन, ईश्वर को तथा आत्मा को व्यापक मानते हैं। योगी, स्वज्ञान के द्वारा जगत् के भावों को देखते हैं तथा जानते हैं। ज्ञान की दृष्टि से योग आत्मा का विषय है अतः आत्मा या परमात्मा को व्यापक मानने में भी कोई बाधा नहीं आती।

वेदान्त दर्शन में केवल ज्ञानी को सदेह मुक्त कहा जाता है। वहां देह होने के कारण काया का योग विद्यमान है। जहां योग है—वहां कर्म बन्ध है। केवल ज्ञानी का कायिक योग के द्वारा उद्भूत बन्धन समय मात्र का होता है, तत्पश्चात् अगले ही समय में वह निर्जरित हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि जो ने कहा है, कि प्रत्येक क्रिया में बन्धन है। वह बन्धन निकाचित या स्थायी न हो, तो अल्पसमयी भी हो सकता है। योगी होने पर प्रत्यक्षद्रष्टा होना असिद्ध नहीं है,

क्योंकि न्यायशास्त्र ने योगिज ज्ञान को स्वीकार किया है तथा उसे प्रामाणिक भी माना है। योग के द्वारा या किसी अन्य कारण से दीवार के पार स्थित वस्तु को अथवा हजारों मील दूर स्थित वस्तु को देखने वाले आज भी विद्यमान हैं। अतः योगिराज भगवान महावीर को नमस्कार करना युक्ति संगत ही है।

(४) महावीराय : देवेन्द्र ने वर्द्धमान कुमार की परीक्षा लेने के बाद उन का नाम महावीर रखा। यह नाम किस ने दिया, इस बात का कोई विशेष मूल्य नहीं। महावीर के नाम या गुणों के स्मरण से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उस समय यह स्मरण नहीं होता, कि यह नाम किस ने रखा है। प्रत्येक व्यक्ति का नामकरण किसी न किसी के द्वारा किया जाता है, परन्तु जीवन भर यह कोई स्मरण नहीं करता, कि मेरा नाम किस ने रखा था। भ० महावीर के विभिन्न नाम विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं। महावीर 'सन्मति' तब बने, जब उन्होंने दुर्बुद्धि क्षीणों के समक्ष भी सद्बुद्धि का परिचय दिया। वे 'वर्द्धमान' क्षी धन धान्य की वृद्धि के कारण बाल्य काल से ही बने थे। वे 'देवार्य' तब बने, जब वे मानव होने पर भी अपने गुणों से देवों की परिषद् के सभ्य बने।

विश्व में एकमात्र वर्द्धमान तीर्थकर हैं, जो शस्त्र-अस्त्र से रहित होने पर भी महावीर कहलाए। शस्त्रधारी योद्धाओं को तो महावीरचक्र प्रदान किया जाता है। किन्तु महावीर ने निःशस्त्र होकर भी कर्म सुभटों से युद्ध किया तथा विजयी हुए। कवि ने कहा है—

बाहु बलेन न शूरः, शास्त्रज्ञानान्न पंडितः।

न वक्ता वाक् पटुस्त्वेन, न दाता चार्थ दानतः ॥

अर्थात् बाहुबल से कोई शूरवीर नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से कोई पंडित नहीं बन जाता। वाचा के कौशल से कोई वक्ता नहीं होता तथा धन के दान से कोई दानी नहीं बन जाता।

इन्द्रियाणां जये शूरः, धर्मं चरति पण्डितः ।

सत्यवादी भवेद्वक्ता, दाता भूत हिते रतः ॥

इन्द्रियजयो ही शूरवीर होता है। धर्म को जीवन में स्थान देने वाला ही पण्डित होता है। सत्यवादी ही वक्ता होता है तथा प्राणीमात्र का हित करने वाला ही दानी होता है।

भगवान् महावीर में ये चारों लक्षण भी घटित होते हैं। अतः भगवान् महावीर का यह नाम सार्थक ही है।

(५) तायिने :—भगवान् महावीर तायी हैं, रक्षक हैं। संसार रूपी समुद्र में निमज्जमान प्राणियों के त्राता हैं। भव शवानल से दह्यमान प्राणियों के लिए गंगाधारा के समान हैं। चिन्ता पीडित जनों के लिए मुक्ति के कारण हैं। कष्ट में प्रभु महावीर का नाम शान्ति प्रदान करता है। अन्धकार पूर्ण वन में भटके हुए प्राणियों के लिए वे प्रकाश के पुञ्ज हैं। मृगतृष्णा जैसी भौतिकवाद की चकाचौंध से दूर करने वाले हैं। 'लोग नाहाण'-लोक के नाथ हैं। त्यागी ही लोक का नाथ हो सकता है, भोगी नहीं। 'लोगहियाण'-लोक के हितकारी हैं। 'हित मित पथ्यं सत्यं' वचन के धारी होने से जगत के लिए शिवंकर हैं।

प्रभु महावीर पर पूर्ण श्रद्धा होगी, तभी मानव रक्षा को प्राप्त कर सकता है। चिन्ता से मुक्त होकर समस्त दायित्व प्रभु पर छोड़ देने की आवश्यकता है। होता वही है, जो ज्ञानी ने ज्ञान में देखा है। भगवान् महावीर के दो शब्दों को ही यदि हृदय में धारण कर लिया जाए, तो रोहिणेयवत् लोक परलोक तथा भव-भ्रमण से रक्षा हो सकती है।

पन्नागे ज सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि ।

निर्विशेषमनस्काय, श्री वीरं स्वामिने नमः ॥२॥

अर्थात्--चरण कमल में नमस्कार करने वाले इन्द्र तथा पैरों में डंक मारने वाले चंडकौशिक सर्प के प्रति, समान मन वाले, श्री वीर भगवान् को नमस्कार हो।

विवेचन :—समय समय पर सौधर्मादि इन्द्र प्रभु की सेवा में उपस्थित होते थे, परन्तु भगवान महावीर को अपने भक्तों पर न मोह था, न अनुराग । वे प्रशंसा तथा भक्ति से फूलते नहीं थे ।

चंडकौशिक सर्प-जिम ने अतीत के साधु तथा तापस के भव में क्रोध के कारण सर्प योनि में जन्म लिया था, भगवान् महावीर के द्वारा “बुज्ज-बुज्ज चंडकोसिया !” हे चंडकौशिक ! समझ ! समझ ! इन शब्दों से प्रतिबोधित होने पर प्रायश्चित्त तथा अनशन करके सहस्रार नाम के ८ वें देवलोक में गया था ।

इसी चंडकौशिक ने भगवान महावीर को अरण्य में डंक लगाया था, परन्तु भगवान महावीर तब भी शांत रहे । उन्हें सर्प पर वैर या द्वेष का भाव आविर्भूत न हुआ ।

यह समत्व ही भगवान महावीर की साधना का रहस्य है । तभी तो भगवान् ऋषभ देव जिन कर्मों का क्षय १००० वर्ष की छद्मस्थ अवस्था में कर सके, उस से भी अधिक कर्मों का क्षय भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष की साधना में किया । वर्तमान का कोई साधक १२ जन्म में भी उतने कर्मों का क्षय कर सके, तो आश्चर्य ही होगा ।

भगवान महावीर को प्रायः एक पहलू से देखा जाता है । तप, संयम तथा अहिंसा में उन के बाह्य रूप का वर्णन ही शास्त्रों में अधिक प्राप्त होता है । वस्तुतः वे जितने बाह्य तपस्वी थे, उस से अधिक वे आभ्यन्तर तपस्वी थे । छः-छः मास की तपस्या उन की आंतरिक तपस्या (क्रोधादि दहन) के समक्ष-महत्त्वहीन थी । भगवान् महावीर का बाह्य-संयम, उन के आंतरिक संयम (मन, वचन नियन्त्रण) से अधिक महत्त्व पूर्ण माना जा सकता है ? उन की बाह्य-अहिंसा (जीव रक्षा) से आन्तर-अहिंसा (करुणा तथा मैत्री) अनन्तगुणा थी ।

भगवान महावीर का तप भी सहज था । वे कभी उपवासों की गणना नहीं करते थे । उपवास में कभी उन्होंने भोजनपान या

पारणे की चिंता न की थी ।

भ० महावीर का समत्व, उन की साधना का प्रतिघोष था । उन का अग अंग समता रूपी पीयूष की धारा से आप्लावित था ।

वर्तमान में कतिपय साधु तथा कतिपय श्रावक, स्वयं को महावीर के सच्चे अनुयायी तथा सैनिक मानते हैं । वस्तुतः सैनिक की तरह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन, अनुयायी होने का लक्षण है । महावीर समत्व शील थे, उन के अनुयायी भी समता-धारी होने चाहिए । सेनानी महावीर, समता के बाण से, समस्त द्वेष घृणादि शत्रुओं को, ध्वस्त करने में सक्षम थे । उन के सैनिकों में समता का वैसा प्रतिभाव कहां ? सैनिक उसे कहते हैं, जो गोली मारना जानता हो और साथ में गोली खाना भी जानता हो । जो गोली खा नहीं सकता, वह सैनिक कैसा ?

वर्तमान के तथाकथित धर्म के सैनिक, दूसरों को अपने आक्षेप रूपी बाणों से आहत करना तो जानते हैं, क्या वे स्वयं उन आक्षेपों को सहन करना भी जानते हैं । सच्चा सैनिक आक्षेप नहीं करता, आक्षेपों को सहन करता है ।

महावीर के 'सैनिक' या अनुयायी बन कर कलह-क्लेश करना, कहां तक समुचित है ? यदि धार्मिक सहिष्णुता मानव में न हो, तो उसे धार्मिक कहना ही धर्म के साथ अन्याय है । गुरु नानक देव की उक्ति है—'एक ने कही, दूसरे ने मानी/नानक कहे, दोनों ज्ञानी ।

परस्पर एक दूसरे की बात को काटने वाले स्वमताग्रही, वाद-विवाद में उलझे हुए दोनों ही व्यक्ति, अज्ञानी होते हैं । एक कवि के शब्दों में—

ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की बात ।

मूर्ख से मूर्ख मिले, या घूँसा या लात ॥

धर्म स्थान में आ कर अशांति फैलाने वाला सब से बड़ा दुष्ट होता है। जहाँ परमात्मा की कृपा का सम्पादन होता हो, वहाँ पर उसी परमात्मा के सिद्धांतों की अवहेलना, आज्ञाओं का उल्लंघन घोरतम पाप है।

भगवान महावीर तो सर्वत्र 'सम' थे। क्या हम धर्म के प्रांगण में भी 'सम' नहीं हो सकते? संकीर्ण मन में सत्य का प्रवेश कदापि नहीं हो सकता। आचार्य देव श्रीमद् विजय वल्लभ सूरि जी महाराज के शिक्षा प्रचार, साधुओं की सेवा, प्रगतिवाद, जैसे सिद्धांतों का विरोध करने वाले, आज यदि उसी मार्ग को स्वीकार करते हैं, तो मनोविज्ञान की कसौटी पर यह सिद्धांत सत्य सिद्ध होता है, कि शुद्ध मानसिकता की प्रगति (development) सभी में एक रूप से, एक समय या वय में नहीं होती। किसी को युग की नब्ज को परखने की बुद्धि का भंडार १० वर्ष पहले प्राप्त हो जाता है, तो किसी को १० वर्ष बाद।

गुरुओं तथा भक्तों के नाम पर धर्म तथा श्रद्धा को नीलाम मत करो। संप्रदायवाद की दीवारों को तोड़ो तथा भगवान महावीर स्वामी के समत्व को लक्ष्य बिन्दु बना कर सच्चे जैन बन जाओ। उपकारी गुरु एक हो सकता है, उस के प्रति कृतज्ञ रहना अनिवार्य है, परन्तु अनेक गुरुओं की सेवा करने में, वह गुरु ही बाधक बन जाए, तो वह गुरु कैसा ?

एक बार एक बौद्ध साधु हमारे व्याख्यान में आए। हमने सौहार्द से उन्हें प्रवचन के लिए समय दिया। उन्होंने भी भगवान महावीर का गुणगान किया तथा कहा, कि "भगवान बुद्ध जैन साधु बने थे। इसीलिए उन के धर्म में जैन दृष्टि का दर्शन होता है।" कहिए! हम उस बौद्ध साधु को प्रवचन का समय दे कर क्या हानि में रहे? प्रेम से प्रेम मिलता है, तो घृणा से घृणा। आप भी प्रेम दीजिए। प्रेम की प्रतिक्रिया, प्रेम के रूप में मिलेगी।

क्या इन्द्र ! क्या कंडकौशिक ! दोनों ही महावीर की गुणावली से प्रभावित थे । भगवान महावीर ने चंडकौशिक सर्प को प्रभावित किया नहीं । वह स्वयं उन की सौम्यता से प्रभावित हो गया । तत्पश्चात् भगवान महावीर ने उसे उपदेश दिया । भगवान महावीर पहले ही उपदेश देते, तो संभवतः वह २-४ फूटकार और लगा देता । महावीर पहले योग्य बने, फिर उस की योग्यता का परीक्षण किया । वर्तमान में उपदेशकों की स्वयं की योग्यता संदिग्ध होती है, अतएव प्रभाव भी संदिग्ध रहता है ।

चंडकौशिक सर्प, संगम, शूलपाणि यक्ष, पूतना राक्षसी तथा गोपालक के उपद्रवों से महावीर को न कष्ट हुआ, न ही उन की आयु का क्षय हुआ, क्योंकि वे निरूपक्रम आयु वाले थे ।

सर्पदंश से मानव शरीर में से क्रोध के कारण रक्तवर्णी रक्त निःसृत होता है, जब कि भगवान महावीर के चरण से शांति के कारण श्वेत रक्त निकला । उन का अतिशय भी अलौकिक था । नबरस में शांति रस तो रस राज है । प्रभु महावीर हर्ष तथा शोक की अवस्था में भी शांत (सम) रहे, निर्विशेष मनस्क रहे ।

मानव को भगवान महावीर के जीवन से क्रोध की उपशांति, द्वेष तथा घृणा में समता तथा योग्यता की शिक्षा को ग्रहण करना चाहिए ।

कृतापराधोऽपि जने, कृपामंथरतारयोः ।

ईषद्वाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्री वीर जिन नेत्रयोः ॥३॥

अर्थ—अपराधी जीवों पर कृपा तथा दया के भाव से कंपित, तारक, (उन अपराधियों के द्वारा प्राप्स्यमान कर्म विपाक को देख कर) अश्रु से आर्द्र, भ० महावीर के नेत्रों का कल्याण हो ।

बिबेचन :—यह श्लोक, भगवान महावीर की आंतरिक अहिंसा, विश्व करुणा तथा विश्व शिवंकरता का सचोट अद्वितीय वर्णन करता है ।

दृढ़ भूमि (संभवतः अरुणांचल प्रदेश) में ध्यानस्थ महावीर को, इन्द्र के द्वारा कृत प्रशंसा से व्याकुल संगम देवता (अभव्य) ने, ६ मास तक निरन्तर कष्ट देते हुए, शुद्ध गौचरी की प्राप्ति में, प्रतिदिन, जो बाधा उपस्थित की, उस से भी महावीर अचल रहे। संगम देव ने धूलि की वृष्टि से प्रभु महावीर के नासिका कर्ण के छिद्रों को बन्द कर दिया। उन का श्वासोच्छ्वास रुक गया। उस ने तीक्ष्ण मुखी कीडियां बना कर उन के द्वारा महावीर के शरीर को दंश लगाया। प्रभु महावीर का मुख छलनी के समान छिद्र युक्त बन गया।

वींछी तथा नोलिया आदि के उपसर्ग हुए। चक्रवात ने भगवान महावीर को घंटों तक गोल-गोल घुमाया। तूफान ने प्रभु को कई योजन दूर पटका। ग्वालोंने पैरों में चल्हा जलाया। भीलों का उपद्रव हुआ। पिशाच ने भयभीत किया। मच्छरों के द्वारा डंस मारने से प्रभु के शरीर से रुधिर की नदियां प्रवाहमान हो गईं। सिंह, हस्ती, सर्प, चूहे, तोते बना कर उस ने महावीर को अतिशय पीड़ित किया। उपसर्गों की अधिकता से भगवान महावीर के सामर्थ्य की परीक्षा हो रही थी तथा उन का सत्त्व एवं ओजस् वृद्धिगत हो रहा था।

तदनंतर संगम ने १६ श्रृंगार से सुसिञ्जत षोडशियां तथा देवियां बना कर, प्रभु महावीर को विचलित करने का प्रयत्न किया। उन के हावभाव, कटाक्ष, भंगिमाएं किसी भी योगी को योग पथ भ्रष्ट करने को पर्याप्त थीं, परन्तु महावीर मेरु सदृश अकंपित थे।

संगम देव प्रभु की आत्मरमणता (सहज समाधि) को न समझ सका। महावीर की भौतिक सुखों के प्रति उपेक्षा को, वह बुद्धि का विषय न बना सका। संसार से अलिप्त, संसार के दुःखों के जाता, स्वयं के दुःखों के मात्र साक्षीभाव से द्रष्टा, मोक्षेच्छु

महावीर की अप्रमत्तता का सम्मान एक अभव्य कर भी कैसे सकता था ?

संगम ने प्रभु से कहा, “प्रभो ! चलिए ! आप को देवलोक ले चलता हूँ। आप की मनवांछित वस्तु मैं आप को दे दूंगा।” परन्तु महावीर तो देवलोक के सुखाभास से पहले ही त्रस्त थे।

संगम ने महावीर को उन के माता पिता सिद्धार्थ तथा त्रिशला का कहरण क्रन्दन सुनाया, कि वे बहुत दुःखी हैं। परन्तु मोह नाशक महावीर में मोह निःशेष हो रहा था।

षड् ऋतु का सुन्दर, कामाग्नि प्रज्वलित करने वाला वातावरण, गीत-नृत्य, मेघ की भयंकर गर्जना महावीर की अचलता के सम्मुख तुच्छ वस्तुएं थीं। आत्मा के आनन्द, की अनुभूति करने वाले योगी को संसार के विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अन्त में १००० भार का कालचक्र भी महावीर पर फँका गया। महावीर उस से धरती में धस गए।

अन्त में इन्द्र की वाणी को सत्य समझ कर, वह निर्लज्ज देव, महावीर को नमन करके जब चलने लगा, तो महावीर की आंखों में आंसू देख कर चौंक उठा। “अरे महावीर ! आप इतने उपद्रवों में अचल रहे, अब ये आंसू कैसे ?”

भगवान् ने कहा, “संगम ! मैं जगत का कल्याण करने वाला हूँ। तू मुझे दुःख देकर कलुषित भावों के कारण दुर्गति में जा कर अनेकविध कष्ट सहन करेगा। मैं इस पापोपार्जन में निमित्त बना। मैं इस पाप से दूर करने में तेरा सहायक न बन सका। इस बात का मुझे दुःख है। हा ! तेरा क्या होगा ?”

योग बल से प्रभु महावीर को अनेक सिद्धियों की प्राप्ति हो चुकी थी, वे उन सिद्धियों के बल पर संगम देव को दूर हटा सकते थे। परन्तु प्रभु महावीर का मार्ग संसार के मार्ग से भिन्न था। वे मन, वचन, काया से किसी का बुरा न कर सकते थे। अतः

कृपा एवं दया का रत्नाकर उन के हृदय में हिलोरें ले रहा था। एक कवि ने कहा है :—

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च, महतामेरु रूपता ॥

यथा सूर्य, उदय के समय भी लाल होता है तथा अस्त के समय भी वह श्याममुख न हो कर लाल ही रहता है। तथैव महा पुरुष सम्पत्ति, विपत्ति में या सुख-दुःख में सदैव समान रहते हैं। एक अंग्रेज कवि ने कहा है—

Life is a pendulum, between joys & sorrows.

जीवन सुख दुख का मिश्रण है। भगवान महावीर ने संगम के उपद्रव को मात्र जीवन का अंग समझा। कर्म का विपाक समझा।

आंसू चार प्रकार के होते हैं— १. शोकाश्रु २. हर्षाश्रु ३. मगरमच्छ के आंसू ४. करुणा के आंसू। इस अवसर पर भगवान महावीर की आंखों में अश्रु करुणा के प्रतीक थे।

संगम देव जब देवलोक में पहुंचा, तो इन्द्र ने उस पापी को कुपित हो कर देवलोक से निकाल दिया। वह वराक हो कर देवियों सहित मेरु पर्वत पर न्युपित हो गया। एक कवि ने कहा है—

अत्युग्र पुण्य पापानां, इहैव फलमश्नुते ।

तीव्र पाप अथवा पुण्य का फल इसी लोक में मिलना प्रारम्भ हो जाता है। अति तीव्र पुण्य तथा तीव्र चारित्र्य पालन से परभव में धर्म की सामग्री होती है। संगम को अति तीव्र पाप के कारण तुरन्त ही देव लोक से निष्कासित होना पड़ा।

श्रुताम्भोधेरधिगम्य, सम्प्रदायाच्च सद्गुरो ।

स्वसंवेदनतश्चापि, योग शास्त्रं विरच्यते ॥४॥

अर्थ—मैं इस योग शास्त्र की रचना तीन आधार लेक

कर रहा हूँ । १. शास्त्र रूपी सागर में से कुछ भाग जान कर, २. गुरु परम्परा से प्राप्त कर, ३. तथा अपने अनुभव से ।

विवेचन : योग के विषय में स्वानुभव का अत्यधिक महत्त्व है । योग का सम्बन्ध सीधा आत्मा के साथ है, अतः वह अनुभव का विषय है । पुराकाल में योग की परम्परा का कोई आधार था । गुरुगम की उसमें प्रधानता थी । प्राचीन ग्रंथों में योग प्रदीप एवं पालञ्जल योग दर्शन जैसे ग्रन्थ, इस विषय पर उपलब्ध हैं । योग के सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य को जैन परम्परा का पर्याप्त ज्ञान रहा होगा । इस ग्रन्थ के अन्तिम प्रकाशों में वे 'योग' का अनुभव तथा तर्क संगत स्वरूप वर्णित करते हैं ।

वर्तमान में 'योग' तथा विशेषतः 'जैन योग' की परिपाटी लुप्तप्रायः हो चुकी है । कतिपय योगियों के पास वर्तमान में भी सुरक्षित है, परन्तु योग रुचि लोगों की अल्पता होने के कारण उसे भी सुरक्षित रखना कठिन हो रहा है । हेमचन्द्राचार्य शास्त्रों के गहन अभ्यास से योग के विषय में जो कुछ प्राप्त कर सके, वह इस पुस्तक में आगे प्रस्तुत कर रहे हैं ।

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः ।

अमूल मन्त्र तन्त्र च, कामेणं निवृत्तिश्चियः ॥५॥

अर्थ : योग समस्त विपत्ति रूपी लताओं को काटने के तीक्ष्ण कुल्हाड़े के समान है तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति का ऐसा कामन प्रयोग (कामेण) है, जिस में कोई मन्त्र, तन्त्र या जड़ी बूटी का कार्य विद्यमान नहीं है ।

विवेचन : ग्रंथकार संसार की समस्त आधि-व्याधि-उपाधियों को तथा रोग, शोक, भय, जरा, मरण आदि को विपत्ति के एकमात्र नाम से अभिहित करते हैं । ये विपत्तियाँ योग रूपी कुल्हाड़े से छिन्न भिन्न हो जाती हैं ।

इस विश्व में विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए संसार के सभी

प्राणी, कामन, टूमन, मारण, उच्चाटन, स्तम्भन आदि के प्रयोग किया करते हैं। मन्त्र-तंत्र के प्रयोग शीघ्रता से सिद्ध नहीं होते, हो भी जाएं, तो जंजाल रूप होते हैं। सिद्धियां मुरीति से, उत्तर साधक की दृढ़ता से, साधी जाएं, तो वे सीधो हैं अन्यथा इन सिद्धियों को जल्दी पड़ते भी विलम्ब नहीं होता।

महर्षियों के कथनानुसार मोक्ष लक्ष्मी अथवा मुक्ति वधू को प्राप्त करने में किसी मन्त्र का जाप करने की आवश्यकता नहीं। तन्त्र के किसी प्रयोग की आवश्यकता नहीं तथा किसी जड़ी बूटी (वृक्ष-मूल) आदि की भी आवश्यकता नहीं। अर्थात् मन्त्रादि से मोक्ष की प्राप्ति हो, तो उस में अतिविलम्ब से कार्य सिद्धि होगी। यदि योग को स्वीकार किया जाए, तो मोक्ष की प्राप्ति अति सरल हो जाए।

अर्थात् मुमुक्षु जीव को समस्त-कियाओं को, शनैः-शनैः छोड़ कर योग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

भूयांसोऽपि हि पाप्मानः प्रलयं याति योगतः।

चण्डवाताद् घनघनाः घनाघनघटा इव ॥६॥

अर्थ—यथा अतिवेगी प्रचण्ड वायु से अतिगहन बादलों के समूह बिखर जाते हैं, तथैव योग के प्रभाव से अति भारी तथा अत्यधिक पाप भी विपाक दिए बिना समाप्त हो जाते हैं।

विवेचन : यहां स्पष्ट है, कि शास्त्रकार को स्थूल शब्दों में निर्जरा तथा संवर ही योग के रूप में अभीष्ट है। क्योंकि पापों की समाप्ति निर्जरा से होती है। निर्जरा शुभ कर्मों से होती है। अतः परम्परा से शुभ कर्मों को योग शब्द से अभिहित किया जाना अनुचित नहीं है।

ग्रंथकार को योग का अर्थ संवर के रूप में कैसे इष्ट है? इस का वर्णन आगामी पृष्ठों में किया जाएगा।

✓ क्षिणोति योगः पापानि, चिरकालाजितान्यपि।

प्रचित्तानि यथैर्धासि, क्षणादेवाशुशुक्षणिः ॥७॥

अर्थ : यथा-बहुकाल से एकत्रित ईंधन को प्रबल अग्नि शीघ्र ही भस्म कर देती है, तथैव, चिरकाल से संचित पापों को, योग क्षण मात्र में क्षय कर देता है।

दिवेचन : अग्नि का स्वभाव है-जलाना। अग्नि को 'कुछ भो' जलाने के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। योग का स्वभाव है—पापों को समाप्त करना। भव-भव के संचित कर्मों का गाढ़ रूप विषाक के बिना, क्षय होना कठिन है। परन्तु एक चिनगारी गाढ़ तृण समूह को जला सकती है, तो योग की एक छोटी सी किरण पापान्धकार को क्षणमात्र में समाप्त करके अनन्त तिमिर के स्थान पर अनन्त प्रकाश को आविर्भूत क्यों नहीं कर सकती ?

प्राणी के कर्म एकत्र होते-होते ७० कोटा कोटि सागरोपम तक हो सकते हैं, जो कि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। कर्मों का प्रवाह नदी जलवत् चलता रहता है। नित्य प्रति कर्मों की निर्जरा होती है तथा बन्ध भी होता है। जब तक बन्ध समाप्त न हो, कर्म समाप्त नहीं हो सकते। योग-दो कार्य करता है। बढ़ हो रहे कर्मों पर संवर का प्रतिरोध लगाता है तथा संचित कर्मों को समाप्त कर डालता है। बंध के कारण ही वे समाप्त हो जाते हैं। जहां योग हो, वहां मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, तथा योग अत्यल्प हो जाते हैं। परिणामतः संवर+निर्जरा की युति मोक्ष का कारण बन जाती है।

कफ विपुष्मलामर्ष-सर्वोषधि महर्धपः।

संभिन्न श्रोतो लब्धिश्च, योगं तांडवडंबरं ॥८॥

अर्थ : योग से प्राणी का कफ, धूक, मल तथा स्पर्श आदि प्रबल औषधि का कार्य करते हैं। योग से महती ऋद्धियां प्राप्त होती हैं तथा एक ही इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है।

दिवेचन : योग शास्त्र में वर्णन है, कि योगियों का

आहार कम हो जाता है, क्योंकि वे शरीर से बाहर निकलने वाले विष्ठा आदि पदार्थ, बहुत सीमा तक शरीर में ही पचा लेते हैं, अर्थात् पाचन तीव्र करके अल्प भोजन से अधिक सत्व का संचय करते हैं। परिणामतः उन की विष्ठा आदि अत्यल्प हो जाती है अथवा विष्ठा आदि की बाधा उन को होती ही नहीं।

यहां यह वर्णन है, कि योगियों के शरीर की कफ, थूक, मल आदि निरर्थक तथा दुर्गंध वाले पदार्थ सत्वहीन नहीं होते, वे विशेष शक्ति सम्पन्न होते हैं, उन के द्वारा असाध्य रोगों की भी चिकित्सा हो सकती है। योगियों के हाथ का स्पर्श भी रोगों से मुक्ति प्रदान करता है।

योग के द्वारा अनेकविध चमत्कारिक शक्तियां तथा लब्धियां, सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु योगी महात्मा उनका प्रयोग स्वार्थ सिद्धि या प्रभाव के लिए नहीं करते। शासन प्रभावनाथ कभी-कभी चमत्कार दिखाना पड़ता है, परन्तु निष्प्रयोजन वे चमत्कारों का दर्शन नहीं कराते।

योग से प्राप्त होने वाली लब्धियां निम्न रूप से हैं—

१. सर्वौषधि लब्धि—कफ या स्पर्श आदि से रोग मुक्ति हो, मुख प्रविष्ट विषाक्त अन्न निर्विष बन जाए। वचन श्रवण या दर्शन से रोग मुक्ति हो।
२. अणुत्व—अणु जितना शरीर बना कर, तन्तुछिद्र में प्रवेश कर, वहां चक्रवर्ती के भोग भोगना।
३. महत्त्व—मेरु से भी महद् शरीर बनाने की शक्ति।
४. लघुत्व—वायु से भी हल्का शरीर बनाने की शक्ति।
५. गुरुत्व—वज्र से अधिक भारी शरीर बना कर इन्द्र के लिए दुर्द्धर्ष बनना।
६. प्राप्ति—भूमि पर स्थित होकर, अंगुलि के अग्र भाग से मेरु पर्वत के अग्र भाग या सूर्य को स्पर्श करने की शक्ति।

७. प्राकाम्प—जल पर स्थूलवत् चलने की तथा स्थल पर जलवत् डूबने की शक्ति ।
८. ईशित्व—तीर्थंकर इन्द्रादि की ऋद्धि की विकुर्वणा करने की शक्ति ।
९. वशित्व—समस्त प्राणियों को वश करने की शक्ति ।
१०. अप्रतिघातित्व—पर्वत के अन्दर भी गति करने की शक्ति ।
११. अन्तर्धान—अदृश्य होने की शक्ति ।
१२. काम रूपित्व—इच्छानुसार अनेक रूप बनाने की शक्ति ।
१३. प्रज्ञा ऋद्धि—श्रुतावरण तथा वीर्यांतराय के क्षयोपशम से चतुर्दश पूर्वों के समान शब्द अर्थ प्ररूपण शक्ति ।
१४. विद्याधर—रोहिणी आदि विद्या के ज्ञाता दशपूर्वी ।
१५. बीज बुद्धि—एक अर्थ के श्रवण से अनेक अर्थों का ज्ञान ।
१६. कोष्ठ बुद्धि—श्रुत किए हुए अर्थों को सदा स्मरण रखना ।
१७. अनुश्रोत पदानुसारिणी बुद्धि—एक पद को सुन कर सम्पूर्ण ग्रंथ का विवेचन ।
१८. प्रतिश्रोत पदानुसारिणी बुद्धि—अन्तिम पद को सुन कर सम्पूर्ण ग्रंथ का विवेचन ।
१९. उभय श्रोत पदानुसारिणी बुद्धि—मध्यम पद को सुन कर सम्पूर्ण ग्रंथ का विवेचन ।
२०. मनोबली—ज्ञानावरण तथा वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से अन्तर्मुहूर्त १४ पूर्वों का पुनरावर्त्तन करना ।
२१. वचन बली—अन्तः मुहूर्त में १४ पूर्वों का वाग् उच्चार करना ।
२२. काया बली—वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से एक वर्ष तक ध्यानस्थ खड़े रहना ।
२३. क्षीरास्रवलब्धि—) पात्र में स्थित दूषित अन्न का
२४. मध्वास्रवलब्धि— | क्रमशः दुग्ध, मधु, घृत तथा
२५. घृत्रास्रव लब्धि— | अमृत तुल्य बन जाना ।
२६. अमृतास्रव लब्धि—)

२७. अक्षीण महानस—अल्पान्न बहुत लोगों को भरपेट खिलाया जाए, तो भी कम न हो।
२८. अक्षीण महालय—अल्प स्थान में भी असंख्य देवादि को बिठाने की शक्ति।
२९. संभिन्न श्रोतो लब्धि—कान आदि प्रत्येक इन्द्रिय से प्रत्येक इन्द्रिय का विषय ग्रहण करने की शक्ति।

योग से प्राप्त लब्धियों के सम्बन्ध में सनत् कुमार चक्री का
 * दृष्टान्त *

हस्तिनापुर नगर में चौथे चक्रवर्ती सनत् कुमार हुए। वे रूप लावण्य में अनुपम थे। स्वर्ग में इन्द्र महाराज के द्वारा सनत् कुमार के रूप की प्रशंसा सुन कर दो देवता सनत् कुमार को देखने के लिए इस घरा पर आए। उन्होंने चक्रवर्ती को सर्व प्रथम स्नान के लिए उद्यत देखा। उस के रूप को देख कर वे देव अत्यन्त आश्चर्य पुलकित हो गए। उन्होंने विचार किया, कि इन्द्र ने इन के रूप का जैसा वर्णन किया था, यह रूप तो उस से भी अधिक है। ऐसा रूप तो देवताओं का भी नहीं होता। चक्री सनत् ने पूछा, कि आप यहां क्यों आए हैं? तो देवों ने उत्तर दिया, कि इन्द्र के द्वारा तुम्हारे रूप का वर्णन श्रवण कर हम तुम्हें देखने आए हैं।

चक्री सनत् ने तुरन्त उत्तर दिया, “अभी तो मैं स्नान करने जा रहा हूँ, मैंने शरीर पर तेल की मालिश की हुई है। अभी मेरा रूप क्या देखते हो? जब मैं रत्नाभूषणों से अलंकृत हो कर राज्य सिंहासन पर बैठूँ, तब तुम मेरे रूप को देखना।”

जब चक्री सनत् राज सिंहासन पर आ कर बैठा, तो उस को देखते ही देवों के मुख मण्डल निस्तेज हो गए। वे निराश होकर सोचने लगे, “अहो! मानव देह की कैसी नश्वरता।” सनत् कुमार ने उन की उदासी का कारण पूछा, तो उन्होंने प्रत्युत्तर दिया, “हे सम्राट! अब तेरा रूप पूर्ववत् नहीं रहा। तेरे शरीर में इस समय १६ रोग उत्पन्न हो चुके हैं। चक्रवर्ती ने पूछा,

“क्या इस का कोई प्रमाण भी है ?” तो देवों ने कहा, कि तुम्हारा थूक ही इस का प्रमाण है। सनत् कुमार ने जब थूक कर देखा, तो उस में कीड़े दृष्टिगोचर हुए।

अब तो चक्रवर्ती की हताशा का पार न रहा। वह विचार करने लगा कि क्या यह संसार तथा शरीर की क्षणिकता है !

शीर्यते-जीर्यते इति शरीरम् ।

जो शीर्ण-जीर्ण होता हो, उसी का नाम शरीर है। मैंने मोहांध बन कर इस शरीर तथा रूप का अभिमान क्यों किया ? इस असार शरीर का क्षणमात्र का विश्वास नहीं है। असार में से सार को शीघ्र ही निकाल लेना चाहिए। संयम तथा तप के द्वारा देह को सार्थक करना चाहिए।”

अब तो चक्री सनत्, मुनि बन चुके थे। समस्त परिवार ६ मास तक उन के पीछे-पीछे जा कर उन को प्रत्यावर्तन (लौटने) के लिए मनाता रहा, परन्तु सनत् कुमार महामुनि न केवल शरीर से विरक्त हो चुके थे, अपितु भोजन की लालसा से भी मुक्त हो चुके थे। अनियमित रूप से सदैव नीरस आहार ग्रहण करने के कारण उन के शरीर में अनेक व्याधियां उत्पन्न हो गईं। सप्तविध रोगों (सोज, ज्वर, श्वास, अरुचि, कण्डू, अपच, चक्षुवेदना) के प्रति निरपेक्ष हो कर सनत् कुमार ने तप, आत्म-ध्यान तथा साधना में स्वयं को तन्मय कर लिया। परिणामतः ७०० वर्ष की उत्कट साधना से उनमें अनेक लब्धियां प्रकट हुईं।

इन्द्र महाराज ने स्वर्ग में देवों के सन्मुख पुनः सनत् मुनि के शरीर के प्रति अमोह तथा सहिष्णुता की प्रशंसा की तथा कहा, कि रोगी होने पर भी चिकित्सा से निरपेक्ष ये मुनि, लोक में अद्वितीय हैं। दोनों देव पुनः वैद्य का रूप बना कर महामुनि के पास आए तथा रोग की चिकित्सा करने के लिए उन की सम्मति की कामना की। महामुनि ने कहा, “हे वैद्य-

राज ! दो प्रकार के रोग होते हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर । बाह्य रोगों से मुझे कुछ लेना देना नहीं है । ये रोग पुनः उदित हो सकते हैं । यदि आप मेरे आभ्यन्तर रोगों—काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि की चिकित्सा कर सकी, तो मैं तैयार हूँ । बाह्य रोगों की चिकित्सा तो मेरे पास भी है । यह कह कर सनत् मुनि ने अपनी थूक, त्वचा के एक भाग पर लगाई । तुरन्त उन का वह शरीर का भाग कंचन के समान बन गया । देवता दिग्भूढ़ हो कर देव लोक की ओर प्रस्थित हो गए ।

पूर्व काल में संहतन आदि के माहात्म्य से तथा तपः साधना की उत्कटता से लब्धियाँ प्राप्त हो जाती थीं, परन्तु वर्तमान में सिद्धियों की प्राप्ति दुष्कर हो गई है । अभ्यास, वैराग्य, संयम आदि ही इस काल में दुःसाध्य हैं, तो लब्धियों की प्राप्ति के लिए स्थान कहां ?

तथापि आज भी किसी-किसी महर्षि को लब्धियों की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु महात्मा लोग उन लब्धियों-सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते ।

चारणाशीविषावधि,—मनः पर्याय संपदः ।

योग कल्पद्रुमस्यैता, विकासि कुसुम श्रियः ॥६॥

अर्थ :—विद्याचारण लब्धि, जंघाचारण लब्धि, आशीविष लब्धि, अवधि ज्ञान तथा मनः पर्यव ज्ञान—ये योग रूपी कल्प वृक्ष के विकसित पुष्पों की शोभा हैं ।

विवेचन : इन लब्धियों के भेद निम्नलिखित हैं :—

१. जंघाचारण लब्धि—इस लब्धि से मुनि तीन कदमों से रूचक द्वीप तथा नंदीश्वर द्वीप की यात्रा कर सकते हैं— अर्थात् वे उड़ कर सीधे रूचक द्वीप पहुंचते हैं, दूसरी बार उड़ कर वापसी में नंदीश्वर द्वीप में दर्शन कर तीसरे कदम में वापिस मूल स्थान पर लौट आते हैं । अथवा

वे महामुनि पहले कदम में मेरु पर्वत के पांडुक वन में, दूसरे कदम में वापिसी में नन्दन वन में होते हुए, तीसरी बार उड़ कर मूल स्थान पर आ सकते हैं।

२. विद्याचारण लब्धि—इस लब्धि से मुक्ति, पहले कदम से मानुषोत्तर पर्वत तथा द्वितीय कदम से नंदीश्वर द्वीप हो कर, तृतीय बार उड़ कर मूल स्थान में आ जाते हैं। ये खड़े, बैठे आदि किसी भी अवस्था में आकाश गमन कर सकते हैं।

३. जलचारण लब्धि—समुद्रादि में जलकाय की विराधना किए बिना जा सके।

४. फलचारण लब्धि—फलों के ऊपर, फल के जीवों की विराधना किए बिना, पैर ऊंचे नीचे करने में कुशल। इस प्रकार पुष्पचारण, पत्रचारणादि होते हैं।

५. अग्नि, धूम, हिम, धूमस, मेघ, जलधारा, जाल, सूर्यादि की किरण, पर्वत-श्रेणी, वायु आदि का अवलम्बन लेकर गति करने वाले चारण।

६. आशीविष लब्धि—अभिशाप तथा वरदान देने की शक्ति।

७. अवधि ज्ञान—मन या इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी द्रव्यों को जानना।

८. मनः पर्यव ज्ञान—झाई द्वीप में स्थित, जीवों के मन की बात को जानना।

अहो योगस्य माहात्म्यं, प्राज्यं साम्राज्यमुद्बहन्।

अवाप केवल ज्ञानं, भरतो भरता धिपः ॥१०॥

अर्थ : अहो ! योग का प्रभाव महान् आश्चर्यकारी है। भरत क्षेत्र का अधिपति भरत, षड् खण्ड भूमि के साम्राज्य का स्वामी था। वह इसी योग के प्रभाव से केवल ज्ञान को प्राप्त कर सका।

विवेचन : इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में, प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के पुत्र भरत महाराजा ने, पूर्व पुण्य के उदय से चक्रवर्तित्व को पाया ।

भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने के पश्चात् उस ने अपने ६८ भाईयों के राज्य को प्राप्त किया । उस के पश्चात् भरत ने ६० हजार वर्ष का समय भरत क्षेत्र के ६ खंडों की विजय में व्यतीत किया । वापिस लौटने पर चक्र को आयुधशाला में प्रविष्ट न होते देख कर, उस ने भ्राता बाहुबली को दूत के मध्यम से समर्पण कर देने के लिए कहलाया, परन्तु बाहुबली युद्ध के लिए आ पहुंचा । भयंकर नरसंहार के पश्चात् देवों ने पांच प्रकार के युद्धों की स्थापना की । इन पांचों युद्धों में भरत को पराजय हुई । अन्त में भरत ने चक्र के द्वारा अपने भाई बाहुबली का शिरश्छेद करने की ठानी । परन्तु वह चक्र भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके पुनः भरत के हाथ में आ पहुंचा । अन्त में बाहुबली ने भरत को समाप्त कर देने की दृष्टि से मुट्टी उठाई, परन्तु रण भूमि के रक्त पूर्ण वातावरण में उसे भ्रातृ-हत्या के पाप से दूर रहने की अन्तःस्फुरणा हुई । परन्तु क्षत्रिय की मुट्टी खाली नहीं जा सकती थी । इसी मुट्टी से बाहुबली ने केशलूञ्चन करके मुनित्व को स्वीकार किया । भरत ने तुरन्त बाहुबली को वन्दन किया ।

भरत चक्रवर्ती अवश्य था, परन्तु उसे अपनी ६४००० रानियों तथा समृद्धि पर कोई मोह न था । एक बार अपने कांच महल में भरत राजा आभरणादि पहनने गए । वहां अचानक एक अंगुलि में से एक मुद्रिका गिर पड़ी । भरत को वह अंगुलि निस्तेज लगी । जब सारे शरीर के अलंकार उतारे, तो दर्पण में समस्त शरीर ही निस्तेज लगा । तुरन्त ही भरत को संसार की नश्वरता का भान हुआ । वे विचार करने लगे, कि यह शरीर शोभावान् नहीं है । आभूषणों से यह शोभित है । इस पराई शोभा से मोह कैसा ?

इसी भावना के द्वारा भरत चक्री को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। इन्द्र ने आ कर मुनिवेष अर्पित किया तथा वन्दन किया।

योग की महिमा अलौकिक है। चक्रवर्ती सम्राट ने जब गृहस्थावस्था में भी साधना योग के द्वारा केवल ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तो जो योगी सदैव योग में मग्न रहते हैं, वे यदि योग की तीव्रता का अनुभव करें, तो उनका मोक्ष क्यों नहीं हो सकता ?

इस दृष्टांत से यह स्पष्ट हो जाता है, कि साधना योग का सम्बन्ध मन की भावना से है। बाह्य वेषादि तो निमित्त हो सकता है परन्तु यदि उत्कट विचार शुद्धि हो तथा अभ्यास, वैराग्य, एवं भक्ति भावना से मन ओत प्रोत हो, तो गृहस्थ भी जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। साधु का वेष, साधु जीवन का वातावरण, सद्गुरु का सतत सान्निध्य, पठन पाठन, समाज सेवा, ये पदार्थ वैराग्यादि के पोषक हैं, अतः साधु वेषादि व्यर्थ नहीं है। गृहस्थ जीवन में जो षड्काय की हिंसा अनायास ही होती रहती है, उस से साधु पूर्णतः पृथक् रहता है। हिंसादि पांच अव्रत न होंगे, तो साधु को पाप बंध भी अत्यल्प ही होगा। अतः मोक्ष का राज मार्ग साधुता का मार्ग है, जब कि गृहस्थावस्था में मोक्ष प्राप्ति अपवाद मार्ग है। भरत अथवा मरुदेवी जैसे गृहस्थाश्रम में मुक्त हो गए। लघुकर्मी जीवों का उदाहरण लेकर जप-तप छोड़ देना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः यथा शक्ति जप, तप, साधना के द्वारा योग की ओर अग्रसर होना चाहिए।

पूर्वमप्राप्त धर्माऽपि परमानन्दनदिता।

योग प्रभावतः प्राप, मरुदेवी परं पद्म ॥११॥

अर्थ : यद्यपि पूर्व जन्मों में या पूर्व काल में भ० ऋषभ देव की माता मरुदेवी ने कभी भी धर्म को प्राप्त नहीं किया था, तथापि योग के प्रभाव से मरुदेवी माता ने मोक्ष को प्राप्त किया।

विवेचन : मरुदेवी माता ने कभी भी असत्त्व या मनुष्य जन्म को प्राप्त नहीं किया था। वे सूक्ष्म निगोद में से निकल कर केले का भव कर के मनुष्य बनी थीं। जब भगवान् ऋषभ देव को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, तब भरत चक्री ने दादी मां से कहा, “माता जी ! आप अपने पुत्र के द्वारा दीक्षा धारण करके वन में चले जाने से रुदन कर रही थीं। १००० वर्षों तक आप पुत्र के प्रेम से हास्य तक भूल गईं। अब आप के वही पुत्र, देवताओं की सेवा से सुशोभित, समवसरण में विराजित हो कर, केवल ज्ञान प्राप्त करके पुरीमताल नगरी में पधारे हैं। आप मेरे साथ चलें तथा देखें कि आप के पुत्र ने कितनी ऋद्धि को प्राप्त किया है।”

इस प्रकार जब भरत, हाथी पर मरुदेवी को लेकर भगवान् के पास पहुंचे, तो वहां देव-दुंदुभि आदि की ध्वनि को सुन कर मरुदेवी माता के मन में हर्षविग उमड़ पड़ा। भरत ने देवताओं की उपस्थिति आदि का वर्णन करते हुए मरुदेवी से कहा, कि यह वाणी ऋषभ देव की है, जिसे लाखों लोग प्रेम पूर्वक सुन रहे हैं।

सहस्र वर्ष पश्चात् भाव्यमान पुत्र मिलन एवं पुत्र दर्शन की संभावना से ही मरुदेवी की रोमराशि खिल उठी थी। सर्वोच्चपद को प्राप्त पुत्र को देखने के लिए उत्सुकता थी, परन्तु हजार वर्ष तक रोते रहने से मरुदेवी के नयनों पर आवरण आ चुके थे— वे चाहने पर भी ऋषभ को न देख सकीं। उन के नेत्रों में हर्षाश्रु प्रवाहमान होने लगे। इन अश्रुओं तथा हर्षविग के कारण मरुदेवी माता के नेत्र-पटल खुल गए।

पुत्र की ऋद्धि को देख कर मरुदेवी के मन के विचारों में परिवर्तन आया, “अहो ! मैं पुत्र मोह से रुदन करती-करती अन्धी हो गई। और यह भी एक पुत्र है, जो मां की ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देखता। इतनी निर्मोहता ! इतने देवता इस के

पास हैं, परन्तु इस नें एक भी देवता मेरे पास संदेश कहला कर न भंजा। अस्नेही के प्रति स्नेह कैसा ? यह तो श्रमण बन कर ही निर्मोही बन गया था, मैं ही इस को न समझ सकी। अब वीतराग बनने के पश्चात् यह मेरी ओर देखेगा ही क्यों ? अब मरुदेवी को भी 'ऋषभ' में परत्व दिखने लगा। मोह समाप्त हुआ, विवेक प्रकट हुआ। आत्मलक्षी शूद्रोपयोग हो जाने से समस्त कर्मों का वहीं पर क्षय हो गया तथा उसी समय आयु का अन्त होने से मरुदेवी माता को मोक्ष प्राप्ति हुई।

अनेन प्रकारेण यौग के द्वारा अनादि मिथ्यात्वी जीव भी अन्तर्मुहूर्त्त में कैवल्य को प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मस्त्री भ्रूण गोघात, पातकान्तरकातिथेः।

दृढ प्रहारि प्रभृतेर्योगो, हस्तावलंबनम् ॥१२॥

अर्थ : ब्राह्मण, स्त्री, गर्भ तथा गाय के वध के पाप से नरक का मेहमान बनने वाले, दृढप्रहारी जैसे व्यक्ति भी योग के आलंबन से स्वरक्षा कर सके।

विवेचन : एक नगर में रहने वाले एक ब्राह्मण को नगर वासियों ने नगर से बहिष्कृत कर दिया, क्योंकि वह अत्यन्त पापी तथा अन्यायी था। वह वहाँ से एक चौरपत्नी में पहुँचा। दया रहित होकर अनेक हत्याएं करने से तथा उस का प्रहार खाली न जाने से लोगों ने उस का नाम दृढप्रहारी रख दिया।

एक बार वह एक नगर में चोरी करने गया। वह जिस घर में प्रविष्ट हुआ, वहाँ उस महादरिद्र व्यक्ति ने बालकों के आग्रह से लोगों से चावल आदि मांग कर खीर आदि तैयार की थी। एक चोर ने उस घर में जब खीर को देखा, तो वह खीर का बर्तन उठा कर भागा।

गृहस्वामी को ज्ञात होने पर वह एक तीक्ष्ण हथियार लेकर चोरों को मारने के लिए दौड़ा। अब गृह स्वामी के साथ चोरों

की भयंकर लड़ाई हो रही थी, तब गृह स्वामी के पक्ष में गाय मध्य में आ पहुँची ।

दृढ़प्रहारी चोर ने तुरन्त एक ही प्रहार से गाय को यमद्वार पहुँचा दिया । तत्पश्चात् ब्राह्मण को भी मृत्यु के अंक में सुप्त कर दिया । यह देख कर गर्भवती ब्राह्मणी आवेश से चोरों की ओर दौड़ी, परन्तु उस निर्दय चोर ने ब्राह्मणी के उदर में तलवार से प्रहार किया । तुरन्त ही गर्भ पृथ्वी पर आ पड़ा तथा ब्राह्मणी भी पञ्चत्व को प्राप्त हुई । यह दारुण-वीभत्स दृश्य देख कर बच्चों ने अपार क्रन्दन किया ।

अपने क्रोध के करुण परिणाम को देख कर दृढ़प्रहारी सिर से पैरों तक कपित हो उठा । तुच्छ सी वस्तु के लिए ४-४ जीवों का वध ? बालकों की दुर्दशा तथा भावी देख कर वह मन ही मन पश्चात्ताप के आँसू बहाने लगा । वह दुर्गति से रक्षा के लिए कोई उपाय ढूँढने लगा ।

नगर के बाहर उसे एक साधु का दर्शन हुआ । दृढ़ प्रहारी ने मुनि को नमस्कार करके कहा, 'हे मुनिराज ! मैं पापी हूँ । एक हत्या से दुर्गति की प्राप्ति होती है, तो चार हत्याएं करने वाले इस नराधम का क्या होगा ? मुनिराज ! मैं आपकी शरण पड़ा हूँ ।'

मुनिराज के द्वारा उपदिष्ट यतिधर्म को स्वीकार करके दृढ़ प्रहारी ने अभिग्रह किया, कि जिस दिन मुझे पाप का स्मरण होगा, उस दिन मैं आहार ग्रहण न करूँगा तथा सर्व जीवों को क्षमा करूँगा ।

विहार करते हुए मार्ग में लोगों ने उसे विभिन्न वचनों से अपमानित किया । "यह महा पापी धूर्त अब कपट रूप से साधु बन गया है । यह तो गो, ब्राह्मण, स्त्री-गर्भ का हत्यारा है, यह नीच है ।" इत्यादि वचनों का श्रवण, उस का प्रतिदिन का कार्यक्रम बन गया । आहारार्थ गृह में प्रवेश करता, तो लोग उसे गालियाँ सुनाते

पत्थर व लाठियाँ मारते । परन्तु दृढ़ प्रहारी के मन में एक ही विचार आता, कि यह तो मेरे स्वकीय कर्मों का ही फल है । As you sow, So shall you reap ये सब मेरे कर्मों से मुझे मुक्ति दिला रहे हैं, अतः शत्रु नहीं, मित्र हैं ।

दृढ़ प्रहारी सकाम निर्जरा के द्वारा दुष्कर्म की ग्रंथी का भेदन कर देता है तथा विचार करता है, कि इन उपकारी लोगों का कितना उपकार मानूँ । ये लोग मुझे कष्ट पहुंचा कर कर्म बंध कर रहे हैं—यह दुःख का विषय है । ये लोग मेरे प्राणों को समाप्त कर सकते हैं । मेरे धर्म का अपहरण नहीं कर सकते । “अस्तु..... जीव ! क्षमा रख । क्षमा में ही धर्म है ।” इसी क्षमा, भाव शुद्धि, मैत्री तथा भाव कृपा रूप योग से, दृढ़ प्रहारी को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया ।

इस प्रकार जन्म जन्मांतर में साधना करने वाले भरतादि, अनादि काल से मिथ्यात्वी मरुदेवी आदि तथा हत्यारे दृढ़ प्रहारी जैसे व्यक्ति भी, योग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं ।

तत्काल कृत दुष्कर्म, कर्मठस्य दुरात्मनः ।

गोत्रेचिलातिपुत्रस्य, योगाय स्पृहयेन्न कः ॥१३॥

अर्थ : स्त्री वध रूप तत्काल कृत पापों से दुर्गति में पतित हो रहे चिलाति पुत्र की रक्षा करने वाले योग की कौन इच्छा नहीं करता ?

विवेचन : एक यज्ञ देव नामक एक ब्राह्मण ने, किसी जैन साधु के साथ विवाद करते समय यह शर्त लगाई, कि जो हारेगा, वह दूसरे का शिष्य बन जाएगा । ब्राह्मण पराजित होने पर साधु का शिष्य बन गया । परन्तु पूर्व संस्कारों के कारण कुत्सित वस्त्र, मैल आदि के कारण उदास रहता । उस ब्राह्मण मुनि की भूतपूर्व पत्नी ने जो अभी तक पति के प्रति अनुरागिणी थी—भोजन में पति साधु को कामन कर दिया । वह क्षीण हो कर मृत्यु को प्राप्त कर के देव लोक में गया । इस दुःख-गर्भित वैराग्य के

कारण, पत्नी ने भी चारित्र्य अंगीकार करके देव लोक को प्राप्त किया।

उस मुनि ने स्वर्ग से च्युत हो कर, धन श्रेष्ठी की एक चिलाति नामक दासी की कुक्षि में पुत्र रूप में जन्म लिया, जब कि वह साध्वी उसी श्रेष्ठी के गृह में सुसीमा नामक पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई।

पूर्व स्नेह के कारण दासी पुत्र का सुसीमा के साथ प्रेम हो गया। धन श्रेष्ठी ने इसी कारण उसे अपने घर से निष्कासित कर दिया। वह चोरपत्नी में जा कर शीघ्र ही सेनापति बन गया। एक बार चोरों के साथ उस ने परामर्श किया, कि धन श्रेष्ठी के घर चोरी की जाए, उस में सुसीमा को मैं ग्रहण करूंगा, धन अन्य चोरों में विभाजित कर दिया जाएगा। इस निर्णय के अनुसार उन्होंने धन श्रेष्ठी के घर से सुसीमा तथा धन को ग्रहण किया।

धन सेठ को इस काण्ड के ज्ञात होने पर वह अपने पुत्रों तथा कोतवाल के साथ चोरों की दिशा में भागा।

मार्ग में चोर, धन श्रेष्ठी की 'मारो, पकड़ो' की उच्चध्वनि सुन कर, सर्व दिशाओं में भाग गए, परन्तु चिलाति पुत्र ने सुसीमा का त्याग न किया। वह सुसीमा को कन्धे पर डाल कर भागा जा रहा था। तभी उस ने देखा, कि श्रेष्ठी बहुत पास में आ चुका है। अब सुसीमा उस के हाथ में न रहेगी, यह विचार कर उस ने सुसीमा का सिर काट कर अपने हाथ में लिया, शेष धड़ को वहीं पर फेंक दिया तथा सिर ही लेकर आगे की ओर भागा।

जब श्रेष्ठी ने अपनी ने अपनी पुत्री का मृत शरीर देखा, तो वे वहाँ से शोकाकुल होकर वापिल लौट पड़े।

चिलाति पुत्र का शरीर अभी-अभी एक युवती की हत्या करने के कारण रक्त से भरा हुआ था। उस के वस्त्र रक्तितम थे।

वन में उसे एक साधु मिला। उस ने सेठ के घर में यह सुना था, कि साधु धर्म करते हैं। चिलातिपुत्र साधु को धमकाता हुआ तथा तलवार दिखाता हुआ बोला, “अरे साधु ! मुझे मात्र तीन ही शब्दों में धर्म कह दो। अधिक लम्बा उपदेश दिया तो देख ! इस कन्या की तरह तेरा सिर भी इस तलवार से काट दूंगा।”

चिलाति पुत्र को यह पता न था, कि यदि महात्मा धमकियों से डरते, तो वन में जा कर वास न करते। महात्मा ने लाभ की दृष्टि से तीन ही शब्दों में धर्म का सार उसे समझा दिया। “उपशम, विवेक, संवर”—इन शब्दों के कहते ही महात्माओं ने जंघाओं पर हाथ रखा तथा आकाश में उड़ गए। चिलाति पुत्र मुग्ध सा हो कर देखता ही रह गया।

चिलाति पुत्र द्वारा तीनों शब्दों पर विस्तृत विचार—

चिलाति पुत्र धर्म से अनभिज्ञ था। वह मुनि के तीन शब्दों पर विचार करने लगा—साधु महाराज तो मुझे धर्म के स्वरूप का बोध दे गए, परन्तु इन तीन शब्दों का क्या अर्थ समझूं।

वस्तुतः आत्मा में अनन्त ज्ञान शक्ति है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से यह ज्ञान अन्तर से प्रस्फुटित हो सकता है। चिलाति पुत्र के अज्ञान का क्षयोपशम उदित हुआ तथा वह तीनों पदों का सम्यग् अर्थ स्वयं ही समझने लगा।

उपशम :—उपशम अर्थात् शांत होना, दबाना, शांत करना। किस को शांत किया जाए ? शरीर के ऊपर कुछ भी शांत करना नहीं है, तो आभ्यन्तर रूप से शांत क्या किया जाए ? मुनि ने मेरे अन्तस्तल में अवश्य कोई अवगुण देखा होगा। हां ! स्मरण आया। क्रोध तो मुझ में बहुत भरा पड़ा है। सेठ के प्रति मेरा कितना दुर्भाव है ? विचार आता है, कि सेठ मिले तो अभी उस का प्राण हरण कर लूं। मेरे साथियों को पकड़ने का प्रयास

करने वाले कोतवाल तथा श्रेष्ठि पुत्रों पर मेरा कैसा द्वेष है। इन लोगों ने मुझे जितना परेशान किया है, इस का उत्तर तो देना ही चाहिए। Tit Fat Tat-वैर से वैर को काटना चाहिए। इन विचारों को ही तो शांत करना है। मैंने द्रोही ही कर भी स्वयं को शूरवीर समझा। यह अभिमान भी शांत करना है। माया कपट करके मैंने लोगों का धनापहरण किया है। माया का भी समूल नाश करना है। और लोभ ! अरे लोभ के कारण ही तो यह सारा काण्ड हुआ है। मोह तो मेरे अन्तर्मन में कूट-कूट कर भरा है। उसे शांत करना आवश्यक है। इस प्रकार क्रोधादि पर उस ने नियन्त्रण किया। क्षमा का भाव जागृत हुआ। “यह सेठ अपराधी नहीं, अपराधी तो मैं हूँ, जिस ने उस की पुत्री का अपहरण किया है। सेठ पर कैसा क्रोध ! चिलाति पुत्र की समस्त विचार धारा ही बदल जाती है। वह मन ही मन सेठ से अपराध की क्षमा याचना करने लगा।

वस्तुतः शम की साधना साधक की साधना की कसौटी है। समस्त धर्म-क्रियाओं का सार शम है। शम ही धर्म का फल है। यदि बाह्य धार्मिकता तो बढ़ती जा रही हो, परन्तु समता का भाव मन में न आए, क्रोध की उपशांति न हो, तो वह धार्मिकता कैसी ? समता के द्वारा साधक में सहिष्णुता आविर्भूत होती है। साधना का पथ प्रशस्त होता है।

साधना के मार्ग पर अनेक बार बाधाएं उपस्थित होती हैं। सहिष्णु साधक ही उन का सामना कर सकता है। समता के द्वारा क्रोधादि दोषों की शक्ति समाप्त हो जाती है। कर्म बन्ध सीमित हो जाता है। समता के अनेक भेद हैं—क्रोध को शांत करना, ममता को समता के द्वारा समाप्त करना, अधर्मी को देख कर माध्यस्थ्य भाव धारण करना, कष्टों के आने पर उन्हें कर्म चक्र का फल मानना तथा प्रेम भाव आदि।

जब श्री राम चन्द्र जी वनवास के लिए चले, तो प्रजा तथा

मंत्रियों ने श्री राम से पूछा, कि आप जा रहे हैं, हमारे लिए क्या आदेश है? श्री राम ने उत्तर दिया, “मुझ में तथा भरत में कोई भेद मत समझना, भरत में राम के ही दर्शन करना।”

भारतीय संस्कृति में यह ‘शम’ शाश्वत रूप से संमिश्रित रहा है। यदि परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर क्रोध आता है या दुःख होता है, तो नवीन कर्मों का बन्धन होता है।

यह ‘शम’ तो सम्यग्दर्शन का भी प्रथम लक्षण है। श्री कल्प सूत्र में कथन है—

उवसमसारं खु सामण्णं ।

श्रामण्य का सार उपशम है। साधना तथा साधुता का सार उपशम है।

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।

जो क्रोध को छोड़ कर उपशांत हो जाता है, वही भगवान् की दृष्टि में आराधक है। इसी उपशम की साधना से चंड कौशिक सर्प ने अपने जीवन को सार्थक किया। साध्वी मृगावती तथा चन्दन बाला इसी समता-साधना से भवपार हो गईं।

जहां-समता होती है, वहां पर सीमित ममता का त्याग हो जाता है और विश्व की ममता का उदय होता है। समस्त दुःखो प्राणी अपने सम्बन्धी प्रतीत होते हैं। उन के दुःख को समाप्त करने का प्रयास होता है।

मोहब्बत की खुदा तक भी रसाई है।

सच पूछो, तो मुहब्बत ही खुदाई है ॥

शायर ने यहां संभवतः समता या विश्व-वात्सल्य का महिमा-गान किया है। ऐसा अनुभव होना चाहिए, मानो सारे जहाँ का ददं हमारे ही दिल में है।’ एक आंग्ल कवि ने कहा है—

**Love your enemies, do good to them,
that hate you.**

Bless them, that curse you,
Pray for them, who persecute you.

अर्थात्—अपने शत्रुओं से प्रेम करो। जो आप से वृणा करते हैं, उन के लिए उपकार करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं, उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा बुरा चाहते हैं, उन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो।

धर्मरुचि अणगर को नागिला ने कड़वे तूबडे का शाक दान में दिया था। परन्तु धर्मरुचि को वह आहार अचित्त भूमि में फेंकना भी अभिप्रेत न था। ऐसा करने से कीड़ी आदि छोटे-छोटे प्राणियों के मरने की पूर्ण संभावना थी। अतः उन के प्रति उत्कट करुणा से प्रेरित हो कर, वे स्वयं कड़वे तूबे का शाक खा गए। उन के मन में फिर भी समता रही।

गजसुकुमाल के सिर पर सोमिल ब्राह्मण ने मिट्टी की पाल बना कर उस में अंगार भर दिए, परन्तु गजसुकुमाल पाल उसको मोक्ष बधू को प्राप्त करने वाला 'सेहरा' ही समझते रहे। उन्होंने सोमिल पर क्रोध नहीं किया।

उपाध्याय श्रीमद् यशोविजय जी महाराज ने भी स्वरचित ज्ञान सार अष्टक में 'शम' का यशोगान किया है।

ज्ञान ध्यान तपः शील सम्यक्त्व सहितोऽप्यहो ।

तं नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥

—ज्ञानसार ६/५ ॥

अर्थात्— ज्ञान, ध्यान, तपस्या, शील तथा सम्यक्त्व से साधु उन गुणों को नहीं पाता, जिन गुणों को 'शम' के द्वारा समतावान् साधु प्राप्त करता है।

आरूक्षुर्मुनिर्योगं ध्येद् बाह्याक्रियामपि ।

योगारूढः शमादेव, शुध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥

—ज्ञानसार ६/३ ॥

अर्थात्—बाह्य क्रियाओं का आश्रय लेता हुआ भी मुनि जब योग पर आरूढ़ होता है, तो शम से ही वह शुद्ध होता है।

समतावान् को कोई विकार या विकल्प नहीं होता। निरन्तर करुणा के भाव तथा शम रूपी नदियों के वेग से वासनाओं के वृक्ष उखड़ जाते हैं। शास्त्रों के अनुसार स्वयंभूरमण समुद्रवत् शांत तथा गंभीर साधु के लिए इस जगत में कोई भी उपमा नहीं है। प्रशमरतिकार कहते हैं कि शमवान् (समता धारी) साधु को इस संसार में रहते हुए ही मोक्ष का सुख होता है। जितनी समता, उतना सुख। जितनी ममता, उतना दुःख। परन्तु यह समता ज्ञान-ध्यान आदि शुभ भावों तथा शुद्ध उपकरण सामग्री के सद्भाव में ही संभव है।

चिलाति पुत्र को समता के सम्यक् अर्थ का बोध हुआ। उस की आत्मा में चिरकाल से सुप्त ज्ञान जागृत हो रहा था। उस ने मुनिराज के एक ही वचन से धर्म के सार को प्राप्त कर लिया। उस के पश्चात् उसे महात्मा के दूसरे शब्द पर विचार करने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ।

आप माषतूष मुनि का कथानक जानते ही हैं, उस के पास कौन सा ज्ञान था? कौन सा ध्यान था? कूरगडु मुनि का नाम भी आप जानते हैं, उस के पास कौन सी तपस्या थी? उस के पास थी समता। साधु उस को अच्छा बुरा कहते रहे। लेकिन उस के मन में एक मात्र समता थी। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान ध्यान बढ़ता चला जाता है। त्यों-त्यों हमारा अभिमान, क्रोध बढ़ता चला जाता है, आज कल सारा उल्टा रिवाज है। लोग धर्म क्रिया भी करते जाते हैं और साथ में विष वमन भी करते चले जाते हैं। जो साधु समता को धारण कर लेता है, उस को जल्दी मोक्ष होता है। ज्ञान ध्यान से भी क्या होता है? कूरगडु मुनि रोज भोजन करता था, लेकिन फिर भी समता के द्वारा तिर गया और माषतूष मुनि, उसने तो एक पाठ सीख लिया

था, छोटा सा पाठ—“मारुष ! मारुष ! रोष मत करो । तोष मत करो । खुशी में फूलो मत और गमी में दुखी न होवो ।” उसने इसे ही अपने जीवन का सिद्धान्त बना लिया था । खुशी और गमी को छोड़ कर हमेशा समता की साधना करने से मारुष मूनि भी मुक्ति में चले जाते हैं । यहां चिलाति पुत्र समता की साधना करता है । समभाव में आ जाता है । सभी प्रपंचों को छोड़ देता है और धारण कर लेता है ‘सम’ को । मुझे शांत रहना है, कुछ भी हो जाए । शांति को नहीं छोड़ना है । शांति मेरा परम धन है ।” वह विचार करता है, कि मैंने पाना है उपशम को और हाथ में पकड़ी है, तलवार । क्या मेल है इन दोनों का ? मुझे शांत होना है, परन्तु मेरे अन्दर क्रोध भरा हुआ है । अभी-अभी मैंने एक कन्या की हत्या की है । मैं कितना पापी हूँ ।”

यदि आप धर्म ध्यान करते हैं, लेकिन इतना होने के बाद भी आप के मन में शांति नहीं आती, तो समझो, कि धर्म ध्यान आप का सही तरह से नहीं हो रहा है । मुझे ऐसे बहुत लोग कहते हैं, कि महाराज ! हम धर्म ध्यान तो बहुत करते हैं, लेकिन आत्मिक और मानसिक शांति (Peace of mind) प्राप्त नहीं हो पा रही है । कारण क्या है ? धर्म से शांति मिलनी चाहिये न ।” मैं उन से कहता हूँ, “भाई ! धर्म से शांति इस लिये नहीं मिली, क्योंकि तुम ठीक ढंग से धर्म नहीं कर रहे हो । यदि तुम धर्म सही तरह से करना शुरू कर दो, तो शांति अवश्य मिलेगी, इस में कोई दो राय नहीं हो सकती ।

विवेक : उपशम की प्राप्ति के लिए उस ने तलवार को फेंक दिया । चिलाति पुत्र ने विवेक का अर्थ समझा-स्व पर का भेद विज्ञान । ‘स्व’ आत्मा ही है । संसार के शेष पदार्थ “पर” हैं । इस गहन अरण्य में, ‘मैं’ कौन ? क्या यह शरीर “स्व” है, “पर” नहीं ? यह शरीर भी “पर” ही है । यह शरीर छिन्न-भिन्न होता है, संयोग से उत्पन्न तथा वियोग से विनष्ट होता है । यह शरीर जब मेरा नहीं, तो संसार का कोई अन्य पदार्थ ‘मेरा’ कैसे

हो सकता है। विवेक से व्यक्ति अप्रमत्त बन जाता है।

शास्त्रकारों के अनुसार 'जयणाधम्मस्स जणणी' अर्थात् यतना (विवेक) धर्म की माता है। जहां विवेक होता है, वहीं पर धर्म होता है। प्रत्येक धर्म-क्रिया, जो विवेक पूर्ण होती है, धर्म कहलाती है तथा कोई भी क्रिया जब विवेक से रहित होती है, अधर्म नाम से अभिहित होती है। यहां तक कि संसार की सामान्य क्रियाएं भी यदि विवेक पूर्ण हो जाएं, तो वे भी धर्म रूप हो सकती हैं। आचार्य शय्यंभव सूरि जी के शब्दों में—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयंमासे, जयं सए ।

जयं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधई ॥

अर्थात्—यतना पूर्वक चलने से (६ हाथ आगे दृष्टिपात करके चलने से), यतना पूर्वक खड़े रहने से, यतना पूर्वक बैठने से, यतना पूर्वक शयन करने से, यतना पूर्वक भोजन करने तथा बोलने से पाप कर्म का बंधन नहीं होता।

ये सामान्य सांसारिक क्रियाएं भी विवेक के योग से पाप रहित हो सकती हैं। यह है विवेक की महिमा। अंग सूत्रों के अनुसार—

'विवेगो मोक्षो'

अर्थात्—विवेक ही मोक्ष है। विवेक जागृति है, सावधानी है, सचेतनता है। जो व्यक्ति सदैव आत्मा के शत्रुओं के प्रति सावधान रहता है, उस का कर्म बंध अत्यल्प होता है।

पर भाव में रहना, भौतिकता है। आध्यात्मिकता का सम्बन्ध मात्र आत्मा से है। सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह, प्रेम, राग, यह अविवेक ही तो है। जब यह शरीर मेरा नहीं, तो कुछ 'अन्य' मेरा कैसे हो सकता है? सुषमा का सिर मेरा कैसे हो सकता है? वह सोचने लगा, "मेरी आत्मा ही मेरी है। बाकी संसार का कोई पदार्थ मेरा नहीं है। न ही यह शरीर मेरा है,

न यह धन मेरा है, न ही यह परिवार मेरा है।" विवेक उस में जागृत हो गया तथा उस ने "मेरा-तेरा" करना छोड़ दिया।

आज कल संसार का सारा चक्कर "तेरे-मेरे" पर ही चलता है। संसार में चक्कर ही "मेरे-तेरे" का है। हम वस्तु को विभाजित कर देते हैं। ये मेरी वस्तुएं हैं, ये तेरी वस्तुएं हैं। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो यह कहते हैं, कि जो मेरी है, वे तो मेरी हैं ही, जो तेरी हैं, वे भी मेरी हैं। कैसे-कैसे लोग हैं इस दुनिया में। "अपना खाऊं तो खाऊं, तेरा खाऊं तो क्या दे।" अपनी वस्तु तो मैंने खानी ही है, यदि तेरी वस्तु भी खा लूं, तो बता ! क्या ईनाम देगा ?

वास्तव में जो मेरा शरीर है, जो मेरा धन है, जो मेरा वैभव है—वह मेरा नहीं है। शुद्धात्मा ही मात्र मेरी है। बाकी संसार का कोई पदार्थ मेरा नहीं। इस विवेक के आते ही उसने मुषमा का सिर एक तरफ फेंक दिया तथा विचार श्रेणी में आगे बढ़ा।

संवर—अब चिन्ताति पुत्र ने महात्मा के द्वारा संक्षेप में कथित, धर्म के तृतीय पद का विचार किया। संवर क्या हो सकता है ? संवर में धर्म कैसे ? चिन्ताति ने अपनी आत्मा के ज्ञान का संपुट खोलना प्रारम्भ किया। सं + वर = संवर। संवर का अर्थ है, रोकना। रोकना तो अच्छा है, परन्तु किस को रोकना ? दूसरों को रोकना ? दूसरों को रोकने का परिणाम तो आज भोग रहा हूं। यदि स्वयं को मुषमा के मोह से रोका होता, तो कितना अच्छा होता। इन मोह विचारों तथा इच्छाओं का त्याग भी अनिवार्य है। बाह्य शरीर का संचालन करने से अनेक सूक्ष्म प्राणी मर जाते हैं, अतः शरीर का संवर अति आवश्यक है। ये मन के विचार ! शुभ तथा अशुभ विचार ! अशुभ विचारों से पतन होता है, पापों का बंध होता है। शुभ विचारों से पाप का बंध नहीं होता। परन्तु शुभ विचार भी मन से ही उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियों को तथा मन को पूर्णतः रोकना आवश्यक है। परन्तु यह कार्य अति

कठिन है। कर्म मुक्त होने के लिए इन्द्रियों के विषयों का तथा मन के विचारों का निरोध होना ही चाहिए। “आश्रव निरोधः संवरः”—आ रहे कर्मों को रोकने का नाम संवर है। अभी तक चोरी, ज़ारी तथा हत्या के विचारों से मैंने बहुत कर्मों का बन्धन किया। अब कर्मों को आगे बढ़ने से रोकना है। इस के लिए मन का निरोध, वचन का निरोध तथा काया का निरोध करना होगा।

चिलातिपुत्र, महात्मा के स्थान पर ही, शिला पर खड़े हो गए। अभी अभी एक युवती की हिंसा किये जाने के कारण, उसके वस्त्र तथा उस का शरीर खून से लथपथ थे। खून की गंध से कीड़ियां वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने चिलाति के शरीर को काटना प्रारम्भ किया। कुछ ही समय में वे उस के शरीर के आरपार प्रवेश कर गईं। उन्होंने चिलाति पुत्र के शरीर को छलनी बना दिया, परन्तु चिलाति पुत्र अडिग रहा। वह विचार कर रहा था, ‘गुह मंत्र’ का—‘उपशम विवेक संवर का’। कीड़ियों के द्वारा काटने पर उसे क्रोध आता, परन्तु उपशम की स्मृति होते ही वह उपशांत हो जाता। कभी-कभी देह की पीड़ा से देह पर ममत्व जागृत होता, परन्तु तभी विवेक के द्वारा वह ममत्व को शांत करता। जब कभी अशुभ विचार आते, तो त्वरित गति से संवर की स्मृति होती, तथा वह अशुभ परिणामों से बच जाता। वह सोचने लगा, ये कीड़ियां मेरे शरीर में जा रही हैं, लेकिन यह शरीर तो मेरा है ही नहीं। ये मेरी आत्मा के अन्दर तो जा नहीं सकतीं। ये शरीर के अन्दर जा रही हैं और यह शरीर मेरा बिल्कुल नहीं है। यह जो पीड़ा मुझे हो रही है, यह पीड़ा भी आत्मा को कैसे हो सकती है? आत्मा तो संवर में है, ज्ञान-दर्शन में है, सुख में है, भला उस को पीड़ा कैसी? पीड़ा शरीर की होती हो, तो भले ही होती हो। मेरी आत्मा को कोई पीड़ा नहीं। इस प्रकार हो रहे विवेक के कारण शरीर से मोह छूट गया और विचार आया, कि मुझे तो संवर पाना है। मन, वचन, काया

के योगों से दूर होना है, आश्रय को छोड़ना है। यदि मैं कीड़ियों को हटाने बैठूँगा—तो वहाँ पर पाप होगा। आश्रय होगा, कर्मों का बन्धन होगा। वह आराम से खड़ा है, टस से मस नहीं हो रहा है, निश्चल बन गया है मेरु की तरह। और उसी समय कर्मों की निर्जरा शुरू हो जाती है।

जो योगी बन जाता है, उस का मन भी उसके वश में होता है। उस की वाणी भी उस के वश में होती है। उस का शरीर भी उस के वश में होता है। जब तक वह सोचेगा नहीं, तब तक शरीर के द्वारा पाप नहीं होगा। महापुरुष कहते हैं, कि शरीर को साधना बहुत आसान है, अपनी वाणी की साधना भी बहुत आसान है, लेकिन अपने मन को साधना बहुत मुश्किल है। अरे ! यह मन ही पापी है। शरीर पाप नहीं करेगा, वाणी गलत नहीं बोलेगी, लेकिन जो मन है, वह तो घूमता रहता है। यह बन्दर की तरह चंचल है। इस मन में कुछ न कुछ विचार आते ही रहते हैं। मन को संभालना बहुत मुश्किल है। लेकिन महापुरुष कहते हैं— कि यदि पाप आदि बुरे कामों में आप का मन जाता है तो कोई बात नहीं, जाने दो, लेकिन शरीर को मत जाने दो। यदि शरीर बुरे काम में चला गया, तो समझ लो, सब कुछ चला गया। तब कुछ नहीं बचेगा। अंग्रेजी में कहावत है— *If the character is lost, everything is lost*। आप ने यदि अपना चरित्र गंवा दिया, तो समझ लो सब कुछ गंवा दिया। यह मन है, मन जाता है, तो जाने दो, शरीर को मत जाने दो, वाणी को मत जाने दो और एक दिन वह भी आयेगा, जब शरीर नहीं जायेगा। आप को वाणी पाप में नहीं जायेगी, तो यह मन भटक-भटक कर कभी तो वश में होगा ही। मन को वश में करना फिर बिल्कुल आसान हो जायेगा। लेकिन जब हम मन के अनुसार चलते हैं, मन के अनुसार वाणी और शरीर का प्रयोग करते हैं तो फिर समस्या बहुत बड़ी हो जाती है। मन जाता है, तो जाने

दो, शरीर को मत जाने दो। फिर धीरे-धीरे शरीर और वाणी का Control करने के बाद मन का Control करना बहुत आसान हो जाएगा।

दृढ़ प्रहारी डाकू ने तो चारों दिशाओं के चार द्वारों पर, डेढ़-डेढ़ मास तक कष्टों को सहन कर के, मोक्ष को प्राप्त किया था। चिलाति पुत्र मात्र ढाई दिन के उपशम, विवेक तथा संवर से देव लोक में गया। यदि उस का उपशम, विवेक तथा संवर कुछ बढ़ जाता, अथवा उपशम के स्थान पर क्षय हो जाता, तो मोक्ष होने में भी विलंब न होता।

नरक के अधिकारी दृढ़ प्रहारी तथा चिलातिपुत्र, योग के प्रभाव से सद्गति को प्राप्त हुए। योग माहात्म्य पर कथित इन दृष्टान्तों से, योग के माहात्म्य को समझ कर, योग साधना के लिए आगे बढ़ना चाहिए। योग साधना से जब बड़े से बड़े पापी तर जाते हैं, तो हम तथाकथित धार्मिक क्यों नहीं तर सकते ?

तस्याजननिरेवास्तु, नृपशोर्मोघजन्मनः।

अविद्वकर्णो यो योग इत्यक्षर शलाकया ॥१४॥

अर्थ—जिस व्यक्ति के कान 'योग' रूपी शलाका से विद्व नहीं हुए, उस पशु-तुल्य, निष्फल जन्म वाले व्यक्ति का जन्म न हो—यही अच्छा है।

विवेचन—तात्पर्य यह है, कि मानव जीवन को प्राप्त करके योग की साधना करना अत्यावश्यक है, अन्यथा मानव का जन्म व्यर्थ ही होगा। मानव में योग साधना न हो, तो मानव तथा पशु में अन्तर क्या? मानव में ही विचार-शक्ति तथा शक्ति की स्फुरणा होती है। यदि उन को 'योग' में संयोजित न करके उन शक्तियों का दुरुपयोग किया जाए, तो मानव, मानव न रह कर दानव या पशु कहलाने का अधिकारी होगा। श्री हेमचन्द्राचार्य का अत्रोक्त 'पशु' शब्द उन की योग के प्रति श्रद्धा का द्योतक है तथा

मानव के लिए महती प्रेरणा का कारण है।

योग क्या है—भारतीय दर्शनों में योग की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। पातञ्जल योग दर्शन में महर्षि पातञ्जलि कहते हैं, 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः', अर्थात् अपने मन की वृत्ति का निरोध करना (रोकना) योग है। यहां यह समझ लेना आवश्यक है, कि मन की वृत्तियों के निरोध में वचन तथा काया की वृत्तियों का भी समावेश हो जाता है। मन, वचन, काया का निरोध, सर्व काया का निरोध कहलाता है। अतः सर्व प्रथम काया का निरोध होना चाहिए। निरोध तब होगा, जब काया की सहज-भावी प्रवृत्तियों का स्वतः अन्तस् से विरोध होगा। जब मन का शरीर के साथ तदात्म्य हो जाता है और वह काया को सेवक न बना कर स्वयं उस का सेवक बन जाता है, तो योग की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। काया कोमल स्पर्श की इच्छा करती है, शीत ऋतु में उष्ण स्पर्श की तथा ग्रीष्म काल में शीत स्पर्श की आशा करती है। काया की यह आवश्यकता भी हो सकती है तथा तृष्णा भी। काया की आवश्यकता निवार्य नहीं, परन्तु तृष्णा निवार्य है। काया जब तृष्णा की कारा (जेल) में कारावासित हो जाती है, वासना की अग्नि-शिखा में स्वयं को आहूत कर देती है, स्वयं प्रकटित, अज्ञान रूपी धूम में स्वयं को लुप्त कर लेती है, माया के विकराल जाल में आबद्ध हो जाती है, जीर्णता की विभीषिका को विस्मृत कर देती है, तब पापों की निर्धूम ज्वालाएं आत्म गृह को भस्मसात् कर देती हैं तथा द्रष्टा को ज्ञात भी नहीं होता।

काया की माया पापों के साये तले पनपती है। काया स्वयं को गृह मानती है, गृहपति आत्मा की अवहेलना कर देती है। आत्म वंचक काया स्वयं आत्मा की छाया है, वह इस सत्य का सामना करना नहीं चाहती।

काया की 'माया' में लाखों प्राणी उलझ गए। परन्तु इस

माया रूपी घागे का दूसरा सिरा (किनारा) उन के हाथ न लग सका। काया जितनी सुन्दर है, उतनी ही कपटी है। काया जितनी उज्ज्वल है, उतनी अन्तस्तल पर श्याम घटाओं से परिवेष्टित है। काया जितनी भोली है, उतनी ही तेज गोली है। काया की अपनी धुरी है, जिस के इर्द-गिर्द यह अन्तहीन चक्कर लगाती रहती है। काया एक ऐसी मधु सिक्त धुरी है, जो अपनी प्रिय-स्वामिनी आत्मा का ही गला काट रही है, अतः इस काया का क्या विश्वास ? इस काया पर क्या श्रद्धा ? इस काया से कैसा प्रेम ?

काया मोक्ष की साधिका है, परन्तु कभी-कभी आत्म स्वरूप की विराधिका बन जाती है। काया का आरोग्य सुखद है, परन्तु यदा-कदा यह सौख्य दुःखजाल की प्रकट चिता बन जाता है। “शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्”—शरीर धर्म का प्रथम साधन है, शरीर न होगा, तो धर्म कैसे होगा ? परन्तु कभी-कभी यह शरीर ही नरक-तिर्यञ्च गति का प्रथम सोपान बन जाता है।

अतएव महर्षि पतञ्जलि के चित्त वृत्ति शब्द में काया तथा वचन को भी समाहित किया गया है। आप का चित्त आप की काया का सेवक तो नहीं ? आप की काया निष्पाप तो है ?

काया के निरोध में योगियों में कोई मतभेद नहीं। तभी तो छः प्रकार के बाह्य तप में संलीनता को भी परिगणित किया गया है। आवश्यक है—काया के अंगों को सीमित रखना। काया की गति तथा अंगों की कोई भी चेष्टा निरर्थक न हो। जब तक मानव का शरीर स्थिर नहीं होता, तब तक मन भी स्थिर नहीं हो सकता। शरीर की स्थिरता पर ही मन की स्थिरता का आधार है। जब शरीर चंचल होगा-शरीर निरर्थक चेष्टाएं करता रहेगा, तो मन भी भटकेंगा।

आप घर में शांति से बैठे हैं। आप ने बाजार में कोई विशेष ध्वनि सुनी, आप उठ कर गवाक्ष तक पहुंच जाते हैं।

आप दुकान पर बैठे हैं, कहीं कोई कलह हो जाता है, आप वहां भी पहुंच जाते हैं, आप कुर्सी पर बैठे हैं तथा टांगों को इधर-उधर हिला रहे हैं—यह काया की चंचलता है। शरीर तो सुविधा चाहता है, परन्तु शरीर को प्रत्येक सुविधा को क्या पूरा किया जा सकता है? शरीर की सुविधा के साधन ज्यों-ज्यों बढ़े—काया की माया बढ़ती चली गई। ये फ्रिज, टेबल, चेयर, टी०वी०, सोफा-सैट तथा रेडियो शरीर तथा इन्द्रियों की सुख सुविधा के लिए ही तो हैं। इन साधनों से यह शरीर स्वाधीन होगा या पराधीन? क्या प्रतीत नहीं होता, कि ये साधन शरीर को आलसी बना रहे हैं। इन साधनों के खरीद लेने से शरीर बिक रहा है। भौतिक सामग्री की लालसा काया की तड़प को भीतर ही भीतर बढ़ा रही है।

जब काया ही वश में न हो, तो मन को वश में करने की बात ही व्यर्थ जो जाती है। आप जितने टैलीविजन सैट, रेडियो सैट, सोफा सैट आदि घर में बसाते जा रहे हैं, क्या आप स्वयं उतने ही up-set नहीं होते जा रहे हैं? सत्य यह है, कि इन सैटों से ही आप भीतर से up set हो रहे हैं। या तो आप के घर में सैट रहेगा या आप के भीतर की आत्मा सैट रहेगी। दोनों युगपद् सैट कैसे रह सकते हैं। बाहर की सैटिंग (setting) अन्दर की (up setting) है। बाहर से फिट व्यक्ति अन्दर से अन-फिट होता है।

शरीर की सैटिंग का तथा फिटिंग का एक फॉर्मूला है—जो किसी भी सांसारिक प्राणी से छिपा हुआ नहीं। आत्मा की सैटिंग का तरीका किस को आता है?

शरीर की सार-संभाल से मोह-कामना बढ़ती है। वासना का उदय होता है। जब शरीर का “योग” प्राप्त होता है, तो शरीर नियन्त्रित हो जाता है, निष्पाप हो जाता है। शरीर की निष्पापता में से वचन की निष्पापता प्रकट होती है।

पांच कर्मेन्द्रियां पांच ज्ञानेन्द्रियों को गलत मार्ग पर ले जाती

हैं। त्वचा कोमल, कठोर, शीत, उष्ण आदि स्पर्श को चाहती है। त्वचा इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। अभीप्सित (इष्ट) स्पर्श को कामना राग ही तो है। इस राग का योग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। हस्ती, हस्तिनी के स्पर्श की कामना से ही तो मारा जाता है।

जिह्वा की लोलुपता स्वयं में त्याज्य है। जिह्वा-लोलुपता से साधु भी स्वादु कहा जाता है। सभी इन्द्रियों में जिह्वा को वश में करना सब से कठिन है। भोजन का सम्बन्ध उदर-पूर्ति के साथ होता है, जब कि जिह्वा का स्वाद से ही सम्बन्ध होता है। परन्तु इस से जिह्वा को प्राप्त क्या होता है? मछली 'खाद्य' के लोभ से अपने प्राणों का बलिदान कर देती है। रसना की रसा-स्वादन वृत्ति योग में बाधक है।

सुगन्ध का सेवन, नाक का विषय है। दुर्गन्ध से व्यथित न होना दुरभिसंधेय, दुष्प्रतिज्ञेय है। सुगन्ध के लोभ से, विकसित उद्यान के मनमोहक पुष्प को, क्षण में ही तोड़ कर सूँघा जाता है तथा फिर निर्दयता पूर्वक उसे फेंक कर उस का बहुमूल्य सुन्दर जीवन बर्बाद कर दिया जाता है। घ्राण के विषय का त्याग बहुत कठिन नहीं है। घ्राणेंद्रिय के कारण जड़ी बूटी को सूँघने वाला नाग अथवा पुष्पों की सुगन्धि को सूँघने के लिए कमल संपुट में बन्द हो जाने वाला भ्रमर, हस्ती के द्वारा सम्पूर्ण कमल नाल को भक्षित किए जाने पर जीवन लीला को समाप्त कर बैठता है तथा अपने किए पर पश्चाताप के आँसू बहाने का अवसर भी चूक जाता है।

नयन इन्द्रिय के द्वारा रूप का दर्शन करने के बाद, शमा पर मर मिट जाने वाला परवाना, क्या प्राप्त करता है उस शमा से? जगत् के रूपांध प्राणियों को भस्मसात् होने के पश्चात् भी बुद्धि-दिवेक से कुछ लेना देना नहीं होता। रूप नयनों का विषय है। सुन्दर रूप को देखने की लालसा जब मानव के मन में उत्कट हो जाती है, तो मानव को न दिन में चैन मिलता है, न रात को

निद्रा आती है।

आज के युग की प्रेम-मोहब्बत हृदय से सम्बन्धित नहीं होती, नयनों से सम्बन्धित होती है। इस मुहब्बत का कारण चक्षु ही होते हैं। किसी शायर ने कहा है—

आखें जब चार होती हैं, मोहब्बत हो ही जाती है।

नयनरम्य सुभोग्य सुन्दर रूप किस-किस को आकर्षित नहीं करता। नयनों को विषय से दूर रखने की आवश्यकता है। इस का एक बहुत छोटा उपाय भी है। जब भी कभी आप रूप के चक्र में उलझ रहे हों, तब विचार करें—“क्या है यह रूप? कुछ भी नहीं। ऐसा रूप तो न केवल पूर्वभव, में, अपितु इस जन्म में भी बहुत देखा है। इस से भी सुन्दर रूप देखा है, यह रूप तो है ही क्या? यह रूप अभी सुन्दर दिखता है, क्षणान्तर में ही यह असुन्दर हो कर घृणास्पद, द्वेष्य बन सकता है। इस रूप पर मोह कैसा?

नयनों को कुछ नियन्त्रित करने की आवश्यकता है, अन्यथा शमा पर जलने वाले मूर्ख परवाने में तथा मनुष्य में अन्तर ही क्या होगा?

शब्द की मधुरता, संगीत के लयबद्ध दो शब्द, किसी सुप्त व्यक्ति को भी जागृत करने के लिए पर्याप्त होते हैं। संगीत की स्वर लहरी में मृग पागल हो कर जब शिकारी के पास आता है तो बाण से विद्ध कर दिया जाता है। वैराग्य रस पोषक महापुरुष संगीत को ‘रुदन’ के नाम से अभिहित करते हैं। संगीत की धुन जिनके मन पर सवार हो जाती है, वे अपना समय व्यर्थ ही waste करते हैं। इस युग में शब्द विषय की वृद्धि के लिए रेडियो आदि अनेक साधनों का विकास हुआ है। विज्ञान से भौतिकता तथा शारीरिक विषयों की वृद्धि के अतिरिक्त और अधिक आशा भी क्या हो सकती है?

जब केवल एक इन्द्रिय से व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त करता है, तो पाँचों इन्द्रियों अर्थात् सम्पूर्ण शरीर को भोग के प्रति समर्पित कर देने से क्या परिणाम हो सकता है? पाठकों से यह छिपा हुआ नहीं।

इस प्रकार योग की साधना में शरीर बहुत बड़ी बाधा है, परन्तु यही शरीर योग का साधक अंग भी हो सकता है।

वचन का निरोध :—वाणी का पाप, शरीर के पाप से भी अधिक होता है। वचन की हिंसा, प्राणी यदा-कदा करता रहता है। वचन से जब ईर्ष्या-द्वेष के शब्द निकलते हैं, तो श्रोता के लिए वे असह्य हो जाते हैं। यद्यपि वचन का पाप, काया के पाप से छोटा दिखता है, तथापि वह छोटा नहीं है। काया के पाप से पूर्व, मानव दस बार सोचता है, वर्षों तक सोचता रहता है, इस प्रकार वह काया के कतिपय पापों से बच जाता है। जब कि वचन का पाप प्रायः अनायास हो होता है। मानव को पता भी नहीं होता, कि मैं इच्छा पूर्वक या सहज रूप से जो बात या निंदा कर रहा हूँ, उस का कटु परिणाम क्या होगा? मानव सहज ही, बिना विचार किए, कुछ न कुछ बोल देता है और अन्त में पश्चाताप करता है। अधिक बोलने वाला, हृदय में शूल वत् चूभने वाले शब्दों का अधिक उपयोग करता है। वाणी की असमीचीनता अनुपात पर आधारित है। १० शब्द बोलने वाला यदि एक बार असमीचीन बोलेगा, तो १०० शब्द बोलने वाला प्रायः उसी अनुपात में (५ बार) असमीचीन बोलेगा। अतः शब्दों को गांधी जी के अनुसार, कम से कम इस्तेमाल करो। जहाँ एक शब्द से काम चलता हो, वहाँ २ शब्द मत बोलो। मन में विचार तो बहुत आते हैं, परन्तु वे सब अभिव्यक्त नहीं कर देने चाहिए।

वाणी के प्रयोग में सत्यता, शालीनता, सभ्यता, यथार्थता,

अकृत्रिमता होनी चाहिए। ऐसी वाणी को योग कहा जाता है।

काया तथा वाणी का योग प्राप्त होने के पश्चात्, मन के योग का क्रम प्राप्त होता है।

मन का योग :—मन के विचार, मन की कल्पनाएं, मन की चिंताएं, कर्म बन्ध के मूल स्रोत हैं। इन को रोकना योगी के लिए आवश्यक है।

व्यवहारिक रूप में वचन तथा काया के कार्यों का Action तथा Reaction दृष्टिगोचर होता है। वचन तथा काया के कर्मों का फल स्पष्ट अनुभूत भी होता है। परन्तु मन तो अन्तर्वर्ती है, गुप्त है तथा अदृश्य है। उस का बाह्य रूप से क्या फल हो सकता है ?

एक तथ्य निश्चित है, कि वचन तथा काया के कार्य मन की गतिविधियों पर आधारित हैं। मन के द्वारा संकेत या आज्ञा को प्राप्त करके ही वचनादि, कार्य-विधि का श्री गणेश करते हैं। विश्व के सम्पूर्ण संचालन के पीछे मन का ही हाथ है। मन के दूषित विचारों से, काया तथा वचन, पतन की ओर चल पड़ते हैं। मन की कुत्सित इच्छाओं से मानव को नरक गति का संबल प्राप्त होता है। कुछ ही व्यक्तियों (इन्जीनियरों) के विचारों से देश का निर्माण कार्य होता है। कुछ ही शासकों के मन की विचारधारा का फल समस्त देश तथा विश्व को भोगना पड़ता है। कुछ ही ! A.S. अफसर अपनी योजना शक्ति के द्वारा समस्त शासन-तंत्र का संचालन करते हैं। यह मन क्या व्यर्थ है ? असार है ? निर्बल है ?

वस्तुतः यदि वचन तथा काया प्रबल हैं, तो मन प्रबलतर है। मन की शक्तियों से कौन अपरिचित है ? मन से ही मानव जीवन का निर्माण होता है, तथा मन ही विध्वंस को निमन्त्रण देता है। मन की गतिविधियों का संसार विशाल है। जहां वचन तथा

काया नहीं पहुंचते, मन वहां भी पहुंच जाता है ।

मन को दुविचारों में केन्द्रित करने से, अपराध तथा पाप की प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं तथा मन को सुविचारों में जोड़ने से पुण्य का अर्जन होता है । शास्त्रकारों ने तो “मन एवं मनुष्याणां, कारणं बंधमोक्षयोः” कह कर मन को मानो सर्वोच्च न्यायालय से उपमित किया है । मन का निर्णय अन्तिम निर्णय है । मन से-चाहो तो मुक्ति को प्राप्त कर लो, चाहे तो बंध को प्राप्त कर लो । निर्णय आत्मा ने करना है, कि वह मन से कौन सा कार्य करवाए ।

कई बार प्राणी, वचन तथा काया से जिन पापों को करने में अशक्त होता है, उन्हें वह मन से कर देता है । वचन-कृत या काया-कृत पापों में मन का योग अल्प होगा, तो बंध अल्प होगा, परन्तु मनः कृत पाप में वचन या काया का योग अल्प होगा, तो बन्ध अल्प न होगा । मन प्रधान है, अतः एव वह पाप बंध में मुख्य भूमिका का निर्वाह करता है ।

प्रश्न है, कि मन के स्रोत को किस तरफ प्रवाहमान किया जाए ? उत्तर पूर्णतया स्पष्ट तथा सरल है, कि मन के जिस तरफ बहने से मानव सुख शांति अर्जित कर सकता हो—उसी तरफ मन का प्रवाह वेगवान् बनाना चाहिए ।

भौतिक सुखों में लिप्त मन, क्या शांति प्राप्त कर पाता है ? मन की शक्तियां जब अधोगामिनी बन जाती हैं, तो मानव को भ्रांति ही भ्रांति होने लगती है । वह सुख में भी भ्रान्त रहता है और दुःख में भी भ्रान्त रहता है । वह सुख में भ्रान्त इस लिए रहता है, कि सुख की स्थिति, वास्तविकता, मर्यादा तथा सान्त्वना को विस्मृत कर देता है । वह दुःख में भ्रान्त इस लिए रहता है कि दुःख के कारणों को भूल कर निमित्त मात्र को दोषी ठहराता है । मन की दोनों स्थितियां भयावह हैं ।

पापी मन समस्त दुर्गुणों का मूल है। मन के पाप से प्राणी उखड़ा-उखड़ा सा रहता है, वह कहीं भी शांति को प्राप्त नहीं कर पाता है। पाप के भार से बोझिल यह मन कभी-कभी हलका होना चाहता है, परन्तु पाप के भार को वह उतारना नहीं चाहता है।

तब स्थिति अत्यन्त भयावह हो जाती है, जब मन अपने पाप को पाप ही नहीं समझता। पाप का भान हो जाने के पश्चात् मन के अन्तरंग दुर्गुणों का विलय होने लगता है। तब मन स्वयं को शुद्ध अनुभव करता है।

यहां 'मन का योग' शब्द के दो अर्थ हैं। 'मन के विचार' भी मन का योग हैं तथा मन को योगी बना लेना भी 'मन का योग' है। मन के एक क्रियात्मक योग को छोड़ कर अक्रियात्मक योग का अपनाना ही योगी के मन का योग है।

मन के विचारों का यह योग तीन प्रकार का हो सकता है।

१. अशुभ विचारों से निवृत्ति
२. शुभ विचारों में प्रवृत्ति
३. शुभाशुभ विचारों से निवृत्ति।

१. धर्म के नाम पर रूढ़ किसी भी ज्ञान रहित क्रिया को हम प्रथम प्रकार में सम्मिलित कर सकते हैं। इस में कोई शुभ विचार हो या न हो, व्यक्ति पापों से आंशिक रूप से बच जाता है।

२. ज्ञान सहित की जाने वाली कोई भी धर्म-क्रिया अथवा स्वाध्याय के समय की एकाग्रता आदि को शुभ विचारों की द्वितीय कोटि में रखा जा सकता है। शुभ विचारों के द्वारा अशुभ विचारों की श्रेणी उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे प्रकाश के आने पर अंधकार। प्रति समय बध्यमान कर्मों में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है। परन्तु एक की प्रधानता में द्वितीय को गौण ही समझा जाता है।

३. शुभ अथवा अशुभ-सम्पूर्ण विचार श्रेणी का विसर्जन । जैसे शव, मृत होने के पश्चात् पुनर्जीवित नहीं होता, तथैव मन भी एक प्रकार से 'मृत' ही हो जाता है । उस अवस्था में विचारों का प्रवाह रुद्ध हो जाता है । यह अवस्था यद्यपि केवली की अवस्था है, तथापि इस अवस्था का क्षणिक अनुभव योगी को भी होता है ।

प्रथम अवस्था में योगी वैराग्य रस-सिक्त होकर भौतिक-वाद तथा संसार के मोह से दूर हो जाता है ।

द्वितीय अवस्था में वह इस प्रथम अवस्था के स्थिरीकरण के लिए, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, चर्चा, क्रियादि में प्रवृत्त हो जाता है, जब कि तृतीय अवस्था में योगी इन दोनों अवस्थाओं के साथ ही समता तथा संतुलन का अभ्यास करता है । उसे फिर न तो शुभ पर या अच्छे पदार्थ पर राग रहता है, न अशुभ तथा वीभत्स पदार्थों पर द्वेष । शत्रु तथा मित्र पर, तृण तथा स्त्रेण (स्त्री समूह) पर, कंचन तथा मृत्तिका में 'सम' हो जाता है । इसी दशा को योगी की उत्कट दिन चर्या बताया गया है । ऐसा योगी सदैव सहज होता है । उस के जीवन में ऋत्रिमता नहीं होती । वह बाह्य तथा आन्तरिक रूप से एक समान होता है । वह ध्यान-योगी बन कर मात्र-ज्ञाता द्रष्टा बन जाता है, कोई भी कर्म करते हुए वह उस में लिप्त न हो कर, उस में साक्षी भाव से रहता है, मात्र द्रष्टा बन कर ।

ऐसी अवस्था में न कुछ करना होता है तथा न ही कुछ छोड़ना होता है । करणीय स्वयं हो जाता है, त्याज्य स्वतः छूट जाता है । जो करणीय है, करने योग्य ही है, वह तब क्यों न होगा ? कोई कारण है ? जो त्याज्य है, छोड़ने योग्य है, वह क्यों न छूटेगा ? कोई कारण है ? जब आसक्ति नहीं, मोह नहीं, सन्तुलन है, समता है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु, सदृश भाव है, तो शेष साधना क्या रही ?

वस्तुतः सामान्य अवस्था में प्रत्येक मानव शांत ही होता है। जब तदनु रूप वातावरण मिलने के पश्चात् स्वार्थ सिद्धि के न होने की दशा में सत्ता में पड़े हुए मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभादि जागृत हो जाते हैं, तब योग की पढ़ी पढ़ाई, सुनी सुनाई सभी परिभाषाएं व्यर्थ हो जाती हैं। यही तो कर्म चक्र है। इसी को तो दूर करना है।

अतः एव श्री हेमचन्द्राचार्य, योग शास्त्र की टीका में कहते हैं कि “आत्मानं साध्येन सह युज्यते इति योगः”, अर्थात् जो क्रिया (ज्ञान, तप अथवा साधना) प्राणी को आत्मा के स्वरूप के साथ जोड़ दे, वही योग है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएं जीव को अपने सहज स्वरूप के साथ जोड़ती हैं।

अगले श्लोक में योग की परिभाषा में भी इसी कारण से ज्ञान दर्शन तथा चारित्र्य को परिगणित किया गया है। दर्शन तथा ज्ञान की प्राथमिक भूमिका के पश्चात् उपर्युक्त त्रिविध चारित्र्य ही साधु को ‘योगी’ बनाता है। (इस का विवेचन अगले श्लोक के विवरण के अंत में देखें।)

“पातञ्जल योग कार” महर्षि पातञ्जलि कहते हैं—“योग-श्चित्तवृत्तिनिरोधः” मन की प्रवृत्तियों को रोकने का नाम योग है। अशुभ प्रवृत्तियों के लिए शुभ प्रवृत्तियों की आवश्यकता है तथा योगी की कक्षा अत्युच्च हो जाने के पश्चात् शुभ को रोकना भी जब अनिवार्य हो जाता है, तो ‘शुद्ध’ की आवश्यकता होती है। यह शुद्ध ही ‘आत्म स्वरूप की सहज परिणति’ है। प्रतिक्षण आत्मा का ‘स्व स्वरूप’ ही दृष्टि में हो, उसे ‘सहज समाधि’ कहते हैं। उसे निर्जरा तथा संवर कहते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने ‘योगदृष्टि समुच्चय’ में योग का यही लक्षण किया है—

✓अतस्त्वयोगो योगानां, योगः पर उदाहृतः ।

मोक्षयोजन भावेन, सर्व संन्यास लक्षणः ॥

अर्थात्-मन, वचन तथा काया के योगों का अयोग ही वास्तविक योग है। यह 'अयोग' रूपी योग, आत्मा को मोक्ष में जोड़ता है। यह 'अयोग' रूपी योग, समस्त पदार्थों के त्याग रूप लक्षण वाला है। ✓

इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि त्याग के बिना योग का कोई अर्थ नहीं। जो योगी त्यागी नहीं, वह योगी कैसा ?

वर्तमान में विश्व में ऐसे अनेक योगी प्रख्यात हो चुके हैं, जो वेश से भले ही योगी प्रतीत होते हों, परन्तु वस्तुतः वे भोगी ही होते हैं। उनके पास मोटरों का काफिला, सहस्रों सेवक, विपुल धन राशि, कृषि योग्य भूमि, विशाल व्यापार, ऋद्धि, समृद्धि तथा शस्त्रों का भंडार होता है। जब वे अपने आश्रम से निकलते हैं, तो रोल्स रायस' गाड़ी के बिना नहीं। उन के आगे पीछे १०-१० मोटर कारें होती हैं। कई बार तो इन कारों में सुन्दरियों का एक पूरा ग्रुप नुमाइश (Exhibition) के लिए साथ होता है। पता नहीं लगता, कि इस ऐश्वर्य से योगी की महत्ता बढ़ती है या योगी के कारण ऐश्वर्य (सामान) की महत्ता बढ़ती है।

योग के साथ भोग का आखिर क्या सम्बन्ध है? अतीत के कुछ वर्षों में तो हमारे गौरवमय भारत से योगियों का निर्यात भी होने लगा है। ये 'निर्यात योगी', संभवतः समस्त विश्व को अध्यात्म प्रेमी बनाने का स्वप्न, मन में संजोए बैठे हैं।

विश्व में अध्यात्मवाद बढ़े या न बढ़े, इन योगियों का वैभव तो बढ़ता ही जा रहा है। यह समझ लेना चाहिए, कि त्याग के अभाव में कोई प्राणी अल्प-काल के लिए योगी बन सकता है, सदैव के लिए नहीं।

अतः एव आचार्य हेमचन्द्र इस योग के क्रम में यम नियम को प्राथमिकता देते हुए कहते हैं—

अहिंसा सूनृतास्तेय ब्रह्मा किञ्चनता यमाः ॥
 नियमाः शौच संतोषौ, स्वाध्याय तपसी अपि ।
 देवता प्रणिधानं च, करणं पुनरासनं ॥
 प्राणायामः प्राणायामः, श्वास प्रश्वास रोधनं ।
 प्रत्याहारस्त्वीन्द्रियाणां, विषयेभ्यः समाहृति ॥
 धारणा तु क्वचिद् ध्येये, चिन्तस्य स्थिर बंधनम् ।
 ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेक प्रत्यय संततिः ॥
 समाधिस्तु तदेकार्थ मात्राभासन रूपकम् ।
 एवं योगो यमाद्यंगैरष्टभिः सम्मतोज्ज्वला ॥

अर्थात्—योग के ८ अंग हैं—

१. यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ।
२. नियम—शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप, देवतानमन ।
३. करण—आसन आदि करना (व्यायामादि) ।
४. प्राणायाम—श्वास को लेना, रोकना तथा छोड़ना ।
५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को स्व स्व विषयों से हटाना ।
६. धारणा—किसी एक ध्येय में चित्त को स्थिर करना ।
७. ध्यान—उसी ध्येय विषय में एकलय (तन्मय) हो जाना ।
८. समाधि—उसी एक मात्र ध्येय का आभास (अनुभव) होना ।

योग के ये आठों ही अंग क्रमशः ही प्राप्त होते हैं । इन में से अन्तिम चार अंग साधना की मनोभूमि पर प्रकट होते हैं ।

परमात्मा या आत्मा में एकलय हो जाने से पहले बाह्य पदार्थों से मन (इन्द्रियों) को हटाना आवश्यक है, अन्यथा ध्यान से विचलित होते हुए देर न लगेगी ।

जब मन तथा इंद्रियां अपने विषयों की आसक्ति को छोड़ देंगी, वचन तथा काया, अहिंसा तथा सत्य आदि की अग्नि में तपाए जाएंगे, तब माला, जाप, साधना आदि में मन लगेगा। यह मन कहीं न कहीं अवश्य ही रहता है। इसे अशुभ में लगा लेंगे, तो यह और भी अशुभतर बन जाएगा। इसे शुभ में लगा-ओगे, तो यह शुभतर बन जाएगा।

The Human heart can never take the state of rest, Bad goes to worst and better goes to best.

वर्तमान के साधकों का मन इसी लिए भटकता रहता है, क्योंकि वह भोग तथा त्याग-दोनों में लगा रहता है। यदि योग, संन्यास एवं त्याग में मन को तल्लीन करना है, तो संसार से मन को थोड़ा-थोड़ा हटाते चले जाओ तथा प्रभु भक्ति में स्वयं को तल्लीन करते जाओ।

सम्राट अकबर एक बार मस्जिद में बैठ कर नमाज पढ़ रहे थे। इतने में एक युवती, जो अपने प्रेमी से मिलने के लिए जा रही थी, वहाँ से निकली। विलंब हो जाने के कारण वह मस्जिद के छोटे मार्ग से ही जा रही थी। वह अपने प्रेमी के प्रेम में मग्न हो कर यह भी न देख सकी, कि मार्ग में बादशाह बैठा है। वह भागते-भागते न केवल बादशाह से जा टकराई, अपितु बादशाह के ऊपर गिर पड़ी। अकस्मात् मानो वज्रपात हुआ हो, बादशाह चमक गया। उस ने उस युवती को देखा तथा क्रोधावेश में आ कर बोला, “अरी नादान! यह क्या कर रही है, देख कर चलना नहीं आता। सामने पड़ी हुई सूई भी नज़र आ जाती है और तुझे मार्ग में बैठा हुआ बादशाह भी नज़र नहीं आया? अन्धी तो नहीं हो गई है?”

बादशाह का क्रोध से रक्तम मुख देख कर युवती बौखला

उठी। परन्तु वह तो प्रेमी के प्रेम में प्रेमांध होकर चली जा रही थी। उसी ध्यान में वह बादशाह को देख न सकी थी, अतः उसका कोई दोष भी न था। वह बोली, “जहाँपनाह ! क्या आप नमाज पढ़ रहे हो ? नमाज क्या ऐसे पढ़ी जाती है ? मैं तो प्रेमी के प्रेम में भागी जा रही थी, अतः आपको देख न सकी, परन्तु आप तो प्रभु में दत्तचित्त हो रहे थे, आपने मुझे कैसे देख लिया ? प्रेमी के प्रेम में तो दूसरा पदार्थ दिखाई ही नहीं देता। आप तो परमपिता के प्रेम में तल्लीन थे। आपको दूसरा व्यक्ति कैसे दिखाई दिया ?

बादशाह को अपनी गलती का अनुभव हुआ। सन्त बुल्लेशाह ने पंजाबी में कहा है—

बुल्लेशाह ! मन का क्या लगाना ?
इधर से हटाना, इधर को लगाना।

मन को प्रभु भक्ति में लगाने का यही तरीका है, कि मन को संसार से हटा कर प्रभु में जोड़ दो। मात्र दृष्टि को इधर से हटा कर उधर को लगा दो। भौतिकवाद, शरीरवाद, श्रृंगारवाद तथा जगद्वाद में लगा हुआ मन आत्मवाद या त्यागवाद में कैसे लग सकता है ? अतः एव भगवान महावीर ने कहा है, कि बाह्य त्याग के द्वारा शनैः शनैः व्यक्ति आभ्यन्तर त्याग (सर्व संन्यास) की ओर प्रवृत्त होता है। अतः बाह्य त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि ‘योग’ का प्रथम अंग हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है, कि योगी ‘योग निरोध’ से अनेक प्रकार की बाह्य एवं आभ्यन्तर शक्तियों तथा लब्धियों को प्राप्त करता है। परन्तु उसे उन लब्धियों से कोई प्रयोजन नहीं होता। वह किसी विशेष समय के अतिरिक्त कभी भी अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में एक बार ही गोशाले तापस को तेजो-लेश्या से दग्ध होते हुए देख कर ‘शीतलेश्या’ का प्रयोग किया

था। केवल ज्ञान के पश्चात् गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या छोड़े जाने पर भी भगवान महावीर ने स्वरक्षा के लिए शीतलेश्या का प्रयोग नहीं किया।

योगी अपनी शक्तियों का प्रयोग करेगा भी क्यों? उसे तो परमात्मा के सहज स्वरूप का ध्यान करते हुए ऐसे अनन्य आनन्द की अनुभूति होती है, कि वह उस आनन्द का कथन भी नहीं कर सकता। जैसे मूक प्राणी गुड़ को खा कर उस के मधुर स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता, तथैव उस अनिर्वचनीय आनन्द का वर्णन नहीं, अनुभव ही हो सकता है।

इस ध्यान योग में वह योगी परमात्मा के साथ तदाकार, तद्रूप, तदात्म हो जाता है। उसके लिए एक मात्र आत्मा या परमात्मा का अस्तित्व ही शेष रहता है। वह संसार को तो स्मृतिशेष कर ही देता है, आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी परमात्मा के साथ जुड़ता हुआ अनुभव करता है। तब वेदान्त का "एकमेव द्वितीयं नास्ति" सूत्र चरितार्थ हो जाता है। मानो परमात्मा के साथ आत्मा का मिश्रित स्वरूप ही 'एक' तथा अनन्य होता है, वहां शेष तदन्य कुछ भी नहीं होता। वहां 'तत्त्व-मसि' का भान होता है। जो वह (परमात्मा) है, वही तू (आत्मा) है। इस स्वरूप से आत्मा उस से भिन्न नहीं है।

योगी वहां पर परमात्मा की ज्योति से स्वयं की ज्योति (लौ) को मिला देता है तथा इस प्रकार उस परम आत्मा को आत्मसात् कर लेता है। जैसे भिन्न-भिन्न प्रकाश मिल जाने से वे प्रकाश 'एक' ही प्रतीत होते हैं, तथैव दोनों प्रकाश-ज्योति (लौ) एक ही प्रतीत होते हैं।

दीपक की लौ प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होती हुई भी एक ही प्रतीत होती है, क्योंकि उस में एक शृंखला होती है, सातत्य होता है। सातत्य में क्षणमात्र की भी बाधा (व्यवधान) न होने

क कारण निरंतर प्रकाश मिलता रहता है। इसी प्रकार परमात्म ज्योति (लौ)के मिलन में भी सातत्य होता है। उस लौ में लौ के मिल जाने पर जो आनन्द का अनुभव होता है, उसे योगी कदापि छोड़ना नहीं चाहता। वह उध्वरेता बन जाता है। उस की शक्तियां उध्वंगामिनी हो जाती हैं। वहां वह 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' की सम्यक् व्याख्या को समझ जाता है। क्योंकि वहां दो ज्योति (लौ)में अभेद हो जाने से एक ही लौ शेष रह जाती है।

इस प्रकार साधना का श्री गणेश काया की माया के अपगम से होता है तथा अन्तः मन के पूर्ण निरोध में समाप्त हो जाता है। इस मध्य कई पथ मिलते हैं। कई पथिक मिलते और बिछुड़ जाते हैं। कई गुरु तथा मार्ग दर्शक मिलते हैं। व्यक्ति आगे बढ़ता हुआ उन से भी सम्बन्ध तोड़ देता है। अन्त में अनुभव ही उस का सब से बड़ा गुरु तथा पथ प्रमाणित होता है।

इस योग के मार्ग में कई बाधाएं आती हैं। उन बाधाओं का दृढ़ता पूर्वक सामना करना होता है। कभी काया की कुचेष्टाएं परेशान करती हैं, तो कभी वचन का मौन असह्य हो जाता है। कभी मन के विचार व्याकुल करते हैं, तो कभी परिस्थितियों की प्रतिकूलता मानस में सन्ताप को प्रादुर्भूत करती है। इन समस्त अवसरों पर सभ रहना सीख लिया जाए, तो कुछ भी कठिन प्रतीत नहीं होगा।

जो योगी 'योग' को पूर्णतः नहीं साध पाते अथवा किसी कर्म के उदय से योग भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें अगले जन्मों में योग के साधन प्राप्त हो जाते हैं। सात्यकी को सात जन्मों की साधना के पश्चात् रोहिणी आदि विद्याएं सिद्ध हुई थीं। जन्म जन्मान्तर की साधना से 'योग साधना' में विशुद्धि होती है तथा योग के द्वारा क्रमशः मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

✓ चतुर्वर्गगुणीर्भोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।

ज्ञानश्रद्धानचारित्र-रूपं, रत्नत्रयं च सः ॥१५॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थों में मोक्ष सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। उस मोक्ष का कारण 'योग' है। योग की परिभाषा है, "सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्चारित्र ।"

विश्लेषण—अर्थ तथा काम ये दोनों पुरुषार्थ मानव के लिए दुर्लभ नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों पुरुषार्थ प्रत्येक प्राणी को जन्म जन्मांतर से मिल रहे हैं। जब कभी बहुत पुण्य का उदय होता है, तो धर्म नाम के पुरुषार्थ के लिए मानव प्रयत्न होता है। धर्म नाम के पुरुषार्थ के द्वारा ही अर्थ तथा काम की प्राप्ति होती है तथा क्रमशः मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

आगे चल कर कहा है, कि धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है तथा अर्थ से काम की। परन्तु अर्थ तथा काम की मानव जीवन में ईषद् मात्र भी उपयोगिता नहीं है। पूर्वभवों में इस आत्मा को अर्थ तथा काम के अक्षय भण्डार प्राप्त हुए, परन्तु उसे इनसे तृप्ति नहीं हुई। अर्थ का कहीं अन्त नहीं है। सन्तोष ही इस अर्थ का अन्त है। धन अर्जन रूप पुरुषार्थ से क्या कोई सिद्धि हो पाती है ?

अर्थ—अर्थ आवश्यक है, जीवन निर्वाह के लिए। परन्तु जब यही अर्थ जीवन का साध्य बन जाता है, तो व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है।

वर्तमान में मानव का जीवन अर्थ-प्रधान हो गया है। अर्थ ही जीवन का सर्वस्व बन चुका है। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' समस्त गुण धन को ही आश्रित हैं। धन से ही प्रतिष्ठा मिलती है, धन से ही व्यक्ति को पूज्य गिना जाता है। धन ही जीवन के प्रत्येक पथ का लक्ष्य-बिन्दु है।

यह एक सामाजिक विडम्बना है, कि धन को कुछ अधिक ही

महत्त्व दे दिया गया। एक पूंजीपति जब अपना धन बढ़ाता रहता है, तो पार्श्वस्थ कोई भी व्यक्ति उसकी लालसा को देख कर स्वयं भी वैसा बनने का प्रयत्न करता है। वह उस श्रेष्ठी की सम्पन्नता, वैभव, मोटर गाड़ी, बंगला, सामान को देखता है, तो स्वयं भी वह सब प्राप्त करने के लिए बेचैन हो उठता है। इस प्रकार वह भी न्याय, अन्याय या किसी भी उपाय से सम्पन्न होना प्रारम्भ कर देता है। धन फिर आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं, इच्छा पूर्ति के लिए साधन बन जाता है।

धन की भी एक गर्मी होती है। ज्ञान की भी एक गर्मी होती है। जिस की जेब गर्म होती है, उस का स्वभाव अन्यथा रूप हो जाता है। वह फिर किसी को कुछ समझता नहीं। मद-गर्बित होकर वह आंखें ऊपर को उठा कर, छाती को तान कर, अकड़ कर चलता नजर आता है। धनवान् होना भी मानो अपराध है। धन से अनेक दुर्गुण प्राप्त होते हैं। स्थिति तब और भी गंभीर हो जाती है, जब इस धन का दुरुपयोग होता है।

धन के सदुपयोग से स्वर्ग मिलता है, तो धन के दुरुपयोग से नरक। धन का दुरुपयोग मानव को पतन की किसी भी सीमा तक ले जा सकता है।

अन्ततः अधिक धन किस काम आएगा? क्या मात्र संग्रह करने से धनी लोग संतुष्ट हो जाते हैं? संग्रह करने में ही संतुष्ट रहने वाले लोग इस दुनियाँ में हैं। मम्मण सेठ ने मात्र धन का संग्रह ही तो किया था, परन्तु वह उस धन का उपभोग नहीं कर सका।

धन का दुरुपयोग कुसंगति, सिनेमा, व्यसन, नशा आदि में होता है। एक पैसा भी १८ पाप स्थानों के सेवन से प्राप्त होता है। पाप से उपाजित पैसा पाप में लग जाए, तो इससे बड़ा दुर्भाग्य कोई नहीं हो सकता। धन यदि पुण्य कार्य में लग जाए तो

समझना चाहिए, कि धनोपार्जन के समय किए गए पाप का व्याज चुका दिया है, पाप का फल तो शेष है।

धन की उपयोगिता क्या है? क्या यह धन रोग, शोक अथवा मृत्यु से बचा पाता है? धन से दवाई खरीदी जा सकती है, आरोग्य नहीं। धन से रिश्तेदार खरीदे जा सकते हैं, प्रेम नहीं। धन के द्वारा भय से सुरक्षा हो सकती है; मृत्यु से नहीं। धन के द्वारा भौतिक सामग्री प्राप्त हो सकती है, सुख नहीं। अतः धन को आवश्यक पदार्थों तक ही सीमित रख कर सन्तोष से जीवनयापन करना चाहिए।

काम - काम भी एक पुरुषार्थ है, जो इस गृहस्थ जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक गिना जाता है। परन्तु यह 'काम' मानव की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता वह होती है, जिस के बिना व्यक्ति जी न सके। क्या काम-सेवन के बिना व्यक्ति जी नहीं सकता? वस्तु स्थिति तो यह है, कि ब्रह्मचारी तथा संयमी पुरुष अधिक नीरोग होते हैं, उन का शरीर सौष्ठव भी भोगी व्यक्ति से श्रेष्ठ होता है तथा मस्तिष्क (mind) ताजा होता है।

(काम सेवन से अनेक रोगों का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति अशक्त हो जाता है। महर्षि विवेकानन्द ने अपने ब्रह्मचर्य के बल से चलती हुई घोड़ा गाड़ी को भी रोक दिया था। ब्रह्मचर्य के कारण ही आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज की आंखों में ज्योति पुनः लौट आई थी।)

काम-पुरुषार्थ भी गृहस्थ के लिए 'स्व स्त्री सन्तोष व्रत' के रूप में ही होना चाहिए। समाज ने गृहस्थ के लिए काम की एक सीमा बांधी है। यदि काम को ही सर्वस्व समझ लिया जाए तो सर्वस्व नष्ट हो जाता है। धनार्जन की भी एक मर्यादा है। काम सेवन की भी एक मर्यादा है।

एक बार एक व्यक्ति ने एक योगी से पूछा, कि काम सेवन कितनी बार करना चाहिए ? योगी ने उत्तर दिया, कि करना ही पड़े, तो जीवन में एक बार करना चाहिए। उस ने पूछा, कि यदि इतने से सन्तोष न हो तो ? योगी ने उत्तर दिया, "सिंह की तरह वर्ष में एक बार करना चाहिए।"

"यदि इतने से भी सन्तोष न हो तो ?" उस ने अधीर हो कर पूछा।

योगी ने उत्तर दिया, "मास में एक बार।"

"यदि इतने से भी सन्तोष न हो तो..." उस ने पुनः पूछा।

"सप्ताह में एक बार।" योगी ने कहा।

"यदि इतने से भी सन्तुष्टि न हो, तो....."

"तो दिन में एक बार, परन्तु प्रतिक्षण कफन को ओढ़ कर ही यह कार्य करना चाहिए।" योगी ने ठंडे दिल से उत्तर दिया।

यह एक कल्पना नहीं, यथार्थ है। सन्त तुलसी दास ने भी ठीक ही कहा है—

कार्तिक मास के कूतरे, तजें अन्न और प्यास।

तुलसी उन की क्या गति, जिन के बारह मास ॥

एक कवि ने कहा था—

भूख न देखे, जूठे भात।

नींद न देखे, टूटी खाट।

काम न देखे, जात कुजात ॥

काम के पीछे भागने वालों को वय तथा जाति से कोई प्रयोजन नहीं होता। वह तो स्त्री में मात्र स्त्रीत्व ही देखता है।

चार्वाक मतानुयायी तथा काममार्गी भारतवर्ष में रह कर भी 'काम संस्कृति' का प्रचार करते रहे। उन के अनुसार कुछ भी अभोग्य नहीं था। उन की काम लीलाएं सीमा से रहित थीं। परन्तु भारतीय महर्षियों ने तो सदा संयम का ही गुणगान किया

है। कामी व्यक्ति को तो उन्होंने अद्भुत पशु पक्षी की उपमा दी है—यथा

दिव्या पश्यतिनो धूकः, काकः नक्तं न पश्यति ।

अपूर्वो ज्ञातु कामांधः, दिवानक्तं न पश्यति ॥

उल्लू दिन में नहीं देखता, कौआ रात्रि में नहीं देखता, परन्तु कामान्ध व्यक्ति तो न दिन में देखता है, न रात्रि में। उस की दृष्टि पर आवरण आ जाता है। जैसे बिल्ली मात्र दूध को ही देखती है, डंडे को नहीं देखती। उसी प्रकार से कामान्ध व्यक्ति मात्र भोग को ही देखता है, उस के परिणाम को नहीं।

गृहस्थ को अर्थ तथा काम-पुरुषार्थ को उतना ही महत्त्व देना चाहिए, जिस से उस का धर्म-पुरुषार्थ, अबाध एवं गतिशील हो सके। काम तथा अर्थ, धर्म के बाधक नहीं बनने चाहिए। जब मानव-धर्म कार्य भी सीमित रूप से करता है, तो अर्थ तथा काम-पुरुषार्थ में अधिक रुचि क्यों लेता है? कारण स्पष्ट है, कि मानव की वृत्ति कामादि में अधिक है, जिसका कारण है—अनादि कालीन संस्कार। इन संस्कारों को समाप्त करने के लिए ही धर्म-पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

धर्म :—धर्म मानव कल्याण के लिए अत्यधिक उपयोगी है। धर्म के द्वारा मानव को आत्म-शांति की प्राप्ति होता है। धर्मारोधन से मानव क्रमशः मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। धर्म मानव के जीवन की शुद्धि के लिए है। जीवन में जो पाप निरन्तर रूप से होते रहते हैं, उन पापों का परिमार्जन धर्म के द्वारा होता है। धर्म आत्मा का आदिम स्वभाव है, जिसे मानव भूला हुआ है। धर्म मानव की प्रथम आवश्यकता है, जिसे मानव ने अन्तिम आवश्यकता मान लिया है। मानव समस्त कार्यों के लिए समय निकाल सकता है, मात्र धर्म के लिए नहीं। धर्म को उस ने 'खाली समय' के लिए रखा हुआ है।

मानव के जीवन का सार धर्म है। एक कवि ने कहा था।

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।

धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान ॥

धर्म के बिना मनुष्य पशु से भी हीन बन जाता है।

एक कवि के शब्दों में—

भजन बिन नर, कूकर-सूकर जँसो।

धर्म मानव के जीवन का अंग बन जाना चाहिए। धर्म कभी कभी नहीं होना चाहिए, शोक से होना चाहिए, निरन्तर होना चाहिए। क्या धन कभी कभी अर्जित किया जाता है? नहीं! तो धर्म को मेहमानों की तरह जीवन गृह में कभी-कभी ही क्यों आने देते हो। धर्म तो महान् मंगल है। दुःख के समय सभी व्यक्ति धर्म तथा प्रभु स्मरण करते हैं, परन्तु सुख में धर्म करने वाले कितने हैं?

दुःख में सिमरण सब करें, सुख में करे न कोय।

जो सुख में सिमरण करे, दुःख काहे को होय ॥

जो मानव, जीवन में, धर्म को निरन्तर स्थान देता है, उसे दुःख, विपत्तियाँ, रोग, शोक कभी नहीं आते। यदि आते भी हैं तो शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। धर्म अमृत है, जिस के पाने से व्यक्ति अमर हो जाता है। धर्म गंगा है, जिस में निमज्जन तथा स्नान करके व्यक्ति पावन हो जाता है।

धर्म जीवन की परम आवश्यकता है। धर्म के बिना मुमुक्षु व्यक्ति का जीवन ही भार-भूत हो जाता है। मोक्ष की अभिलाषा उस के मन को सदैव प्रमुदित रखती है। फिर वह पथ पर से विचलित नहीं होता, पथ से भ्रष्ट नहीं होता, पथ पर चलते हुए आने वाली बाधाओं का साहस से सामना करता है। इस प्रकार धर्म की कृपा से वह समस्त असफलताओं तथा बाधाओं को पार करता हुआ अन्तिम लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

मोक्ष--'चतुर्णामगुणीर्मोक्षः' अर्थात् चारों पुरुषार्थों में मोक्ष-पुरुषार्थ प्रमुख है। मोक्ष-पुरुषार्थ, धर्म से भी ऊपर है। धर्म साधना का नाम है, तो मोक्ष-पुरुषार्थ सर्व साधना का। प्रत्येक व्यक्ति को जो दुःखों से छूटने की तड़प होती है, उसके फलस्वरूप व्यक्ति मोक्ष-पुरुषार्थ के लिए यत्न करता है। संसार के सुखों में तारतम्य है, अतः संसार के सुख तुच्छ हैं। प्रतियोगिता रहित मोक्ष का सुख समस्त मुक्त जीवों के लिए समान रूप से उपभोग्य होता है। अतः वही स्वीकार्य है।

| **योगः तस्य च कारणं**—मोक्ष का कारण योग है। हेमचंद्राय योग को मोक्ष का कारण क्यों बताते हैं? स्पष्ट है, कि वे केवल योगी को ही मोक्ष के योग्य समझते हैं। संसार में उलझा हुआ व्यक्ति योग की साधना कैसे कर सकता है? श्री हेमचन्द्राचार्य ने यह भी स्पष्ट कह दिया, कि यह योग 'ज्ञानदर्शन चारित्र' रूप है। 'उमास्वाति जी ने भी "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः" कह कर मोक्ष का यही उपाय माना है।)

पूर्व में सम्यग्दर्शन होना चाहिए, क्योंकि तत्त्वार्थ की श्रद्धा न होगी तो ज्ञान प्राप्ति कौन करेगा? 'सर्वं प्रेमयं सत्त्वात्'-सभी कुछ प्रमेय (ज्ञेय) है। आत्मा भी ज्ञेय है। वह श्रद्धा का विषय न बनेगी, तो उस का ज्ञान कैसे होगा? आत्मा का ज्ञान न होगा, तो चारित्र आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न कैसे होगा?

| सम्यग्दर्शन से मुक्ति होती है। श्रेणिक, कृष्ण, रावण, वज्र-बाहु आदि सम्यग्दर्शन के कारण ही मुक्ति की ओर अग्रसर हुए।

सम्यग्ज्ञान से मुक्ति होती है। गौतम गणधर आदि ज्ञान से ही मुक्त हुए।

सम्यक् चारित्र से मुक्ति होती है। कूरगड, माषतूष, अतिमुक्त आदि चारित्र से मुक्त हुए।

परन्तु एक से मुक्ति कभी नहीं होती। मोक्ष के प्रति तीनों

समुच्चय में ही कारण हैं। जब साधक के पास एक साधन होता है, तो मार्ग भ्रष्ट होने में देर नहीं लगती। तीनों साधनों से मुक्ति में विलम्ब नहीं होता।

उपरोक्त में ज्ञान को प्रधानता दी गई है, जिस का कारण यह है, कि ज्ञान से ही दर्शन में विशुद्धि आती है। ज्ञान के द्वारा ही सम्यग्दर्शन होता है।

अग्र पृष्ठों में इन तीनों का वर्णन विस्तार से किया जा रहा है।



ज्ञान : श्रेयस् का योग

योग शब्द की व्याख्या करते हुए, आचार्य श्री हेमचन्द्र जी कहते हैं, कि ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य यही योग है। तत्वार्थ सूत्र में यह स्पष्ट कहा गया है, कि “सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि, मोक्ष मार्गः।”

यहां सर्व प्रथम ‘ज्ञान क्या वस्तु है?’ इस को समझना बहुत आवश्यक है। यहां शास्त्रकार ज्ञान की परिभाषा देते हैं।

यथावस्थित तत्त्वानां, संक्षेपाद् विस्तरेण वा ।

योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यक्ज्ञानं मनीषिणः ॥१७॥

अर्थ—तत्व ज्ञान क्या है? जो वस्तु जैसी है, उस को वैसा जानना। भले वह संक्षेप से जानो, भले विस्तार से जानो, लेकिन जो कुछ जानो, जैसा है, वैसा जानो। इसे कहते हैं सम्यक् ज्ञान।

बिबेचन—यह छोटी सी परिभाषा है। वर्तमान में व्यक्ति सम्यक् ज्ञान की परिभाषा कर लेता है, सम्यक् ज्ञान को समझ लेता है, लेकिन सम्यक् ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को क्या-क्या प्राप्त होता है, यह समझने की कोशिश नहीं करता। भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद् भगवद गीता में ज्ञान के विषय में बहुत सुन्दर बात कहते हैं। उन का कहना है—

न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्र मिह विद्यते ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

सारी गीता में सबसे अधिक सारभूत श्लोक यही माना गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—कि सारे संसार में ज्ञान के समान पवित्र कोई नहीं। सब से पवित्र वस्तु सम्यक् ज्ञान है।

हे पार्थ ! जितने भी दुनियां के अच्छे कर्म हैं, अच्छे-अच्छे काम हैं, वे सारे के सारे काम ज्ञान में जा कर ही समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति हो जाती है, तो ज्ञान पाने के बाद उसे बाकी कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। गीता कहती है, कि ज्ञान को पाने के बाद सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। जैन शास्त्रों में भी ज्ञान का वैसा ही महत्व बताया गया है। हमारे पूर्वाचार्य स्पष्ट कहते हैं, कि “नाणं नरस्य सारं”, अर्थात् मनुष्य का सार है ज्ञान। यदि मनुष्य के पास ज्ञान नहीं है, तो उस मनुष्य को मनुष्य भी नहीं कहना चाहिए। ‘ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः’ जिस मनुष्य के पास ज्ञान नहीं है, वह मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। आप जानते हैं, कि संसार में इतने प्राणी हैं, पशु-पक्षी हैं, उन सब से मानव ऊंचा क्यों है ? ऊंचा होने का कारण है, ज्ञान और विवेक। ज्ञान के द्वारा मानव जान सकता है, कि अच्छा क्या है ? बुरा क्या है ?

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावणं।

उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥

दशवैकालिक सूत्र में शयम्भव सूत्र महाराज स्पष्ट कहते हैं, कि ज्ञान सुनने से होता है, पढ़ने से भी होता है। ज्ञान जैसे मर्जी हो सकता है। जिस व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है, उस को फिर क्या चाहिए ? एक दार्शनिक ने यहां तक कहा है—“अमृतं तु विद्या।” विद्या क्या है ? अमृत क्या है ? ज्ञान ही अमृत है। अमृत कुछ और नहीं, सिर्फ ज्ञान ही एक वस्तु है, जो अमृत से उत्कृष्ट है, ज्ञान ही सब से बड़ा अमृत है। ज्ञान को समझने के लिए हमें एक बात जाननी आवश्यक होगी, कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें बहुत प्रयत्न करना होगा। “तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्-”

वह तो हो गया सम्यग् दर्शन। जो तत्व का ज्ञान है, वह सच्चा ज्ञान है। तत्व का बोध, ज्ञान है। जो वस्तु जैसी है, उस को वैसा जानना ही सम्यक् ज्ञान है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष—इन नव तत्वों को सही तरह से जान लेना, इन की सही Definition (व्याख्या) जान लेना, इनके सही examples और इनके सही स्वरूप, को भली-भांति जान लेना, उस का नाम है, सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते। मान लीजिए, आप मार्ग पर चले जा रहे हैं, मार्ग पर जाते-जाते आप मार्ग भटक जाते हैं, तो वहाँ पर क्या वस्तु काम आती है? एक मात्र जो ज्ञान है, विवेक है, वह काम आता है। ज्ञान के विषय में किसी अंग्रेज विद्वान ने बहुत सुन्दर बात कही थी।

Knowledge is Light, Knowledge is power, knowledge is the best virtue.

Knowledge क्या है? ज्ञान क्या है? Knowledge is Light, ज्ञान एक प्रकाश के समान है। जैसे आप प्रकाश में रास्ता भूल नहीं सकते हैं, वैसे अगर आप के पास ज्ञान है, तो आप मोक्ष का रास्ता भूल नहीं सकते। मोक्ष के रास्ते पर आप तभी सही तरह से चल सकते हैं, जब आपके पास ज्ञान का प्रकाश है। जिस व्यक्ति के पास ज्ञान रूपी प्रकाश है, वह कभी चिंतित नहीं रहता। ज्ञान क्या है? एक Power है, एक ताकत है, एक शक्ति है। जिस व्यक्ति के पास बुद्धि का बल होता है, वह बड़े-बड़े पहलवानों को भी हरा सकता है।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलं ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति की ही विजय होती है। बलवान् यदि ज्ञानहीन हो, तो उस की विजय नहीं हो सकती। ज्ञान की शक्ति से मानव, जीवन पथ पर अग्रसर होता है।

Knowledge is the best virtue—ज्ञान सर्वोत्तम गुण है। यदि मानव के पास ज्ञान है, तो समस्त गुण स्वयमेव आकर्षित होते चले आते हैं। अज्ञानी के समस्त गुण समाप्त होते जाते हैं। उपाध्याय श्री यशोविजय जी म० कहते हैं, कि—

“ज्ञानस्य परासंवित्ति चारित्रम्”

ज्ञान का परम अनुभव ही चारित्र है। चारित्र, कुछ अन्य पदार्थ नहीं है। ज्ञान में पूर्णतः मग्न हो जाना, आत्म ज्ञान में ही तल्लीन हो जाना, विवेकी हो जाना ही चारित्र है। ज्ञानानुभव के बिना चारित्रशश शृंग बन जाता है। ज्ञान का चितन, अनुभव, तीव्र दशा ही चारित्र है।

ज्ञान के द्वारा अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है। सच्चा ज्ञानी पाप मार्ग से हट कर अवश्य ही पुण्य मार्ग की ओर अग्रसर होगा। जब यह ज्ञान हो जाता है, कि विष के द्वारा मृत्यु हो जाएगी, तो कोई भी इच्छा से विषपान नहीं करता। अमृत से जीवन मिलता है। यह ज्ञान प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति अमृत पान करने को उत्सुक होगा। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् स्व-पतन कौन करेगा। अतःएव ज्ञान की उत्कट दशा ही चारित्र कही गई है।

ज्ञान एक जन्म की साधना से नहीं मिलता। ज्ञान के लिए जन्म-जन्म की साधना चाहिए। यदि मानव का पूर्वभव का क्षयोपशम अच्छा है, तो एक बार पढ़ लेने से ही अन्तरंगवर्ती अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यदि पूर्वभव का क्षयोपशम अच्छा नहीं, तो अनेक प्रयत्न करने पर भी व्यक्ति शिक्षार्जन नहीं कर पाता।

एक ग्रन्थ के पढ़ने से जो विस्तृत ज्ञान होता है, वह पूर्व ज्ञान के स्मरण का परिणाम है। ज्ञान तथा चारित्र दोनों अकस्मात् प्राप्त नहीं होते।

क्या धन रोगी को बचा पाता है? धन-दौलत होने से व्यक्ति अच्छी चिकित्सा प्राप्त कर सकता है। चिकित्सा के लिए

विदेश में भी जा सकता है। थोड़े समय के लिए मौत से भी बच सकता है। परन्तु, ज्ञान से व्यक्ति जन्म-जन्मांतर की मृत्यु से बच जाता है।

‘सुरक्षा कैसे की जाती है’- यह ज्ञान ही सुरक्षा के लिए पर्याप्त है। ज्ञान होगा, तो इहलोक में सुरक्षा होगी। ज्ञान के बल से परलोक में भी सुरक्षा होगी। ज्ञान का धन परलोक में भी साथ जाता है। ज्ञान की थाती मानव का मूल्य बढ़ाती है। एक जन्म में मानव दो भाषाओं या दो विषयों का ज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह दो आदमियों के कार्य की पूर्ति कर सकता है। जीवन में अनेक विद्याओं की प्राप्ति करने वाला अनेक जन्म में सुख को प्राप्त क्यों नहीं कर सकता। “एकः शब्दः सम्यग्ज्ञानः सुप्रयुक्तः स्वर्गं लोकेच कामधुक् भवति”, एक ही शब्द का सम्यक्तया ज्ञान हो जाए तो वह व्यक्ति के लिए इहलोक में व परलोक में कामधेनु के समान इच्छाओं का पूरक होता है।

अज्ञान के कारण ही प्राणी को जन्म-जन्म में विपत्तियों को भोगना पड़ता है। अज्ञान से ही जन्म-मरण का चक्र चलता है। यदि अज्ञान ही न हो, तो ज्ञान के सद्भाव में न जन्म की शक्यता है, न मरण की।

ज्ञान का प्रभाव प्राप्त होने के पश्चात् प्राणी मौत से भयभीत नहीं होता। उसे ज्ञान होता है, कि ‘मरना सच और जीना झूठ’। मौत तो आनी ही है, किसी भी उपाय से मौत से बचा नहीं जा सकता। एक बार तो मरना हो पड़ेगा, अतः मरने से डरना क्या? कोई भी प्राणी दो बार नहीं मरता। ज्ञानी की दृष्टि मरण पर होती है, जीवन पर नहीं। वह मरण को याद करके निराश नहीं होता। वह जीवन के महत्व को समझता है।

**ज्ञानी श्वासोच्छ्वास मां, करे कर्म नो क्षय ।
अज्ञानी भव कोडि लगे, कर्म खपावे तेह ॥**

ज्ञानी २-३ सैकण्ड में बहुत कर्मों का क्षय कर देता है, जबकि अज्ञानी श्रोड़ों वर्षों तक तपस्या करता है, चरित्र का पालन करता है, परन्तु फिर भी उतने कर्मों का क्षय नहीं कर पाता है। ज्ञानी में विपत्तियों को सहन करने की विशेष योग्यता होती है। वह प्रत्येक विपत्ति को कर्म का विपाक मानता है तथा उस समय राग-द्वेष नहीं करता। परिणामतः नवीन कर्मों का बंध नहीं होता। निर्जरा तथा संवर का मार्ग उस के लिए प्रशस्त हो जाता है।

एक विद्वान् था। उससे किसी ने पूछा, कि तुम इतने विद्वान् कैसे बने? विद्वान् ने उत्तर दिया, कि मैंने आज तक कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा, परन्तु लोग मुझे फिर भी विद्वान् कहते हैं। मैंने ६ व्यक्तियों को अपना गुरु बनाया है। मेरा ज्ञान उन ६ व्यक्तियों की कृपा का फल है। वे ६ व्यक्ति हैं—

What & why, How & who, when & where.
है न आश्चर्य! क्या ये शब्द गुरु हो सकते हैं? बिलकुल हो सकते हैं।

जब कोई बात चलती है, तो पहले पूछना चाहिए, what (क्या)? चुपचाप सुनने से कई बार बात का ज्ञान नहीं होता। प्रश्न पूछने से पहले कई बार व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा के कारण हिचकिचाता है, झिझकता है। बिना लज्जा के जो व्यक्ति प्रश्न प्रारम्भ कर देता है, उसे ज्ञान प्राप्त होना प्रारम्भ हो जाता है। शर्म करने वाला, अज्ञानता को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाने वाला, यहीं पर अयोग्य प्रमाणित हो जाता है। पूछा के द्वारा अभिमान पर चोट लगती है तथा वह चूर-चूर हो जाता है।

Why (क्यों)—इस why में तर्क-शास्त्र का सार छिपा है। यह क्यों हुआ? यह प्रश्न करते ही समस्त विषय, तर्क-युक्त रीति से आप के सन्मुख उपस्थित हो जायेगा। मानव तर्क के

कारण सन्तुष्ट हो जाता है।

How(कैसे)— यह बात कैसे है? किस रीति से बनी? यह तीसरा प्रश्न है। यह बात ऐसे ही बनी, अन्यथा रूप से क्यों न बनी? इस की पृच्छा करते ही ज्ञान की वृद्धि होती है।

Who(कौन)— जिस की बात तुम करते हो, वह कौन है, किस आकृति-प्रकृति का स्वामी है। अतः यह who भी ज्ञान-वर्धक है।

When(कब)— यह प्रसंग कब हुआ? सारा इतिहास इस 'when' से ज्ञात हो जाता है।

Where(कहां)— यह सब किस स्थान पर हुआ?

किसी भी प्रसंग पर मेरे ६ प्रश्न होते हैं। वर्तमान में मेरा समस्त ज्ञान इन बातों पर आधारित है।

ये प्रश्न मात्र व्यवहार में ही नहीं, अध्यात्म में भी काम आते हैं।

What—आत्मा क्या है?

Why—वह संसार में क्यों भ्रमण करती है?

How—वह किस रीति से जन्म-मरण धारण करती है? वह कैसे फल भोगती है तथा मोक्ष में कैसे स्थान ग्रहण करती है?

Who—यह आत्मा कौन है? जड़ है या चेतन? या कुछ और?

When—आत्मा के पाप-पुण्य कब से प्रारम्भ हुए? आत्मा को मोक्ष कब होता है?

Where— आत्मा कहां-कहां भ्रमण कर रही है? तथा उस का मोक्ष कहां होगा?

आप ने कितने गुरु बनाए हैं? साधुओं के व्याख्यान तो सुने, परन्तु सम्भवतः उन में एक को भी अपना गुरु नहीं बनाया।

व्यवहार में तो आपके सैकड़ों गुरु होंगे, परन्तु ज्ञान का प्रकाश जिस से प्राप्त होता है—ऐसे गुरु कितने ?

वस्तुतः गुरु भी कुछ नहीं कर सकता। यदि शिष्य के मन में ज्ञान के प्रति तड़प न हो। जिस के मन में तड़प होती है, वह जिज्ञासा की दृष्टि से पूछता रहता है। पूछता नर पंडिता।

परीक्षा की बुद्धि से पूछने वाले भी इस संसार में बहुत व्यक्ति हैं। परन्तु परीक्षा से पूछने वालों की ही जब परीक्षा हो जाती है, तो उस वराक का मुख मंडल म्लान हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति में दूसरों की परीक्षा कैसी ?

आप किसी संदेह के उत्पन्न होने पर किसी विद्वान् या साधु के पास पहुंचेंगे, तो शंका का समाधान हो जाएगा। परन्तु पूछने में छोटा बनना पड़ता है। 'मैं प्रतिष्ठित हूँ--पूछूँ क्यों ?' यह भाव व्यक्ति को, ज्ञान के क्षेत्र में सीमित कर देता है।

पृच्छा करने से ही 'कुछ' प्राप्त होता है। मात्र गुरु बना लेने से कुछ नहीं।

गु शब्द स्त्वंधकारः स्याद्, रु शब्दः प्रतिरोधकः ।

अंधकार निरोधित्वाद्, गुरु इत्यभिधीयते ॥

यदि आप ने किसी को गुरु बनाया है, तो उस से अपना अज्ञान-अंधकार दूर कर लेना, अन्यथा गुरु करना व्यर्थ होगा।

एक बार एक शिक्षित महिला दर्शनार्थ आई। वार्तालाप से ज्ञात हुआ, कि वह स्थानकवासी सम्प्रदाय से है तथा एक साधु को अपना गुरु भी बना चुकी है। मैंने उस से पूछ लिया, बहिन ! क्या तुम व्याख्यान सुनने जाती हो ? घर में बैठ कर कुछ पढ़ती हो ?

उस ने उत्तर दिया—“मैंने एक साधु जी को गुरु बना लिया है, अतः अब पढ़ने-पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। अब जो भी कोई शंका या समस्या होगी, अपने गुरु जी से समाधान करा

लेना है। अब पढ़ने या व्याख्यान सुनने से क्या लाभ? ”

मैंने पूछा ‘जिस ने तुम्हें गुरु मन्त्र दिया है, क्या उन्होंने तुम्हें कुछ ज्ञान देने का भी प्रयास किया है ? उत्तर था, “नहीं” ।

तो फिर उसने तुम्हें अपना शिष्य क्यों बनाया ? जो ज्ञान न दे, वह गुरु कैसा ? उस ने उत्तर दिया, मैंने सुन रखा है, कि “गुरु बिना गत (गति) नहीं, शाह बिना पत (प्रतिष्ठा) नहीं” अर्थात् गुरु के बिना गति नहीं होती। अतः एव मैंने एक गुरु बना लिया है। उन से मुझे कुछ मिले या न मिले—वे मुझे सद्गति में तो पहुंचा ही देंगे।

मैंने कहा, ज्ञान प्राप्त करोगी, तभी गुरु बनाना सार्थक है, अन्यथा संकड़ों गुरु बनाने से भी कुछ न होगा।

जिस के पास ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि हो उसे अवश्य ही कहीं न कहीं से ज्ञान भी प्राप्त हो जाएगा और वैसा वातावरण भी मिल जाएगा।

ज्ञान तथा क्रिया—इन दोनों में ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है। यदि आप के पास ज्ञान है, तो क्रिया भी सार्थक है। यदि ज्ञान नहीं, तो क्रिया भी विशेष फल न दे पाएगी। आचार्य श्यामभव ने कहा है—

पढमं नाणं तओ वया, एवं चिट्ठई सव्व संजए ।

अन्नाणी किं काही किं वा नाहीई छेय पावगं ॥

प्रथम ज्ञान है, बाद में क्रिया। जो अज्ञानी है, वह क्या करेगा ? तथा पाप-पुण्य को क्या जानेगा ? जीवादि तत्त्वों के ज्ञान के अभाव में वह दया आदि का पालन क्या करेगा ?

जो क्रिया, ज्ञान सहित हो जाती है—वह अमृत क्रिया बन जाती है। उस विवेकपूर्ण क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब कि ज्ञान विवेक रहित क्रिया से क्या प्राप्त होगा ? वह क्रिया तो विष-क्रिया है, उस से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। क्या

विष के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है? ऐसी विष क्रियाएं प्राणी ने हजारों बार की होंगी, परन्तु परिणाम शून्य।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबांधव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलति न भाव शून्याः ॥

अर्थात्—हे प्रभो, मैंने पूर्व भवों में आप की वाणी को सुना। आप को देखा भी, आप की पूजा-अर्चा भी की, किन्तु मैंने आपको भक्ति से चित्त में नहीं बिठाया। अतः हे जन बन्धु! मैं सदैव दुःख का पात्र बना रहा, क्योंकि भाव-शून्य क्रियाएं फल प्रदान नहीं करती।

वस्तुतः यह फलप्रदायी भाव, ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। ज्ञान, भाव का साधन है। ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् मानव स्वविवेक से शुभ तथा शुद्ध की ओर बढ़ सकता है। जैन दर्शन में कर्म ग्रन्थों का ज्ञान भी इसी लिए है, कि मानव कर्मों से भयभीत रहे, सत्कर्म करे तथा ज्ञान एवं भाव के द्वारा जीवन का उद्धार करे।

वर्तमान में जो व्यक्ति प्रतिक्रमण करते हैं, क्या वे ज्ञान युक्त क्रिया करते हैं? वे प्रतिक्रमण में तोता रटन करते हैं। जैसे तोता 'राम-राम' करता रहता है। परन्तु राम-राम कहने मात्र से उस को कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार हम भी प्रतिक्रमण में सूत्रों का उच्चारण करते हुए उस के अर्थ का चिंतन करें, तो प्रतिक्रमण विशेष सार्थक हो सकता है। अन्यथा प्रतिक्रमण के भावों के बिना यह प्रतिक्रमण भी कैसा होगा? कितने प्रतिशत फलदायी होगा?

एक समस्या और भी है। साधु-साध्वीगण, तो प्रायः संस्कृत-प्राकृत का अभ्यास करते हैं, वे प्रतिक्रमण के अर्थों को जानते भी

हैं। परन्तु गृहस्थ प्रायः संस्कृत-प्राकृत का अध्ययन नहीं कर पाते। अतः वे इन सूत्रों का कभी-कभी अर्थ पारायण करते हैं, परन्तु प्राकृत भाषा के ज्ञान के अभाव में यह अर्थ उन की बुद्धि में निश्चित नहीं होता। अर्थ की विस्मृति ही जाती है। अतः संस्कृत प्राकृत भाषाओं की ओर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है।

★ हथौड़ा मारने का मूल्य दस हजार ★

एक व्यक्ति ने एक मशीन खरीदी। उस मशीन पर बनने वाले माल का निर्यात होता था। मशीन कीमती थी। एक बार वह मशीन खराब हो गई। उत्पादन रुक गया।

सेठ ने मकैनिक को बुलाया। मकैनिक ने उस मशीन को चारों ओर से देखा। पुर्जा-पुर्जा खोल कर देखा। काफी छानबीन के बाद भी उसे मशीन के दोष का पता न चल सका। मकैनिक की बुद्धि चकरा गई।

सेठ ने दूसरे मकैनिक को बुलाया, परन्तु वह भी फेल। अनेक मकैनिक आए तथा चले गए। सेठ ने लगभग २० हजार रुपया खर्च कर दिया। परन्तु मशीन ठीक न हुई। सेठ निराश हो गया।

सेठ ने न्यूज पेपर में विज्ञापन दिया। एक कुशल मकैनिक वहां पहुंचा। सेठ ने कहा, “यहां तुम्हारे जैसे कई इंजीनियर फेल हो गए। क्या तुम यह कार्य कर सकोगे ?

“गारण्टेड !” अवश्य ही मैं यह काम कर दूंगा। परन्तु सेठ जी ! इस कार्य के लिए आप को १० हजार रुपये देने होंगे। सेठ को उस का Rate अधिक लगा। परन्तु फिर भी उसकी शर्त को स्वीकार दिया।

मकैनिक ने मशीन को चारों तरफ से देखना प्रारम्भ किया। उस ने विचार किया, कि बड़े-बड़े मकैनिकस ने मशीन को देखा है। लगता है, दोष कोई सामान्य होना चाहिए। वह ४-५ घंटे तक मशीन को देखता रहा।

उस ने सोचा, कि मशीन का जोड़ (संधि-स्थल) कहीं जुड़ा न हो, जिस से मशीन चल न पाती हो। उस ने देखा, तो सचमुच मशीन के २ पुर्जों परस्पर स्पर्श कर रहे थे, जिस के कारण मशीन चल नहीं रही थी। मशीन देखने के बाद उसने हथौड़ा मंगवाया तथा उसी स्थल पर हथौड़े की चोट लगायी। बस फिर क्या था ? मशीन चल पड़ी। मकैनिक ने १० हजार रु० मांगा, परन्तु सेठ ने देने से इंकार कर दिया तथा कहा, कि “एक हथौड़ा लगाने का इतना रुपया कैसे ? यह हथौड़ा तो मैं भी लगा सकता था। हथौड़ा लगाने का तो मैं एक रुपया ही दे सकता हूँ।” मकैनिक ने कहा, “सेठ जी ! हथौड़ा मारने का तो एक रुपया ही है। हथौड़ा कहां मारना है ? इस बात के ६६६६ रु० हैं।” वास्तव में क्रिया का मूल्य एक रु० ही होता है। ज्ञान अधिक मूल्यवान होता है।

आज हमारी समाज में स्वाध्याय करने वालों की बहुत कमी है। स्वाध्याय का कार्य मानो समाज ने साधुओं के मस्तक पर डाल दिया है। गृहस्थों को मानों ! ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं।

दिगम्बर समाज में आज भी स्वाध्याय की बहुत रुचि है। उन के पास सैंकड़ों विद्वान पंडित हैं, जो प्रत्येक विषय का अध्ययन करा सकते हैं। उन के मन्दिरों में पठनकक्ष तथा लायब्रेरी भी होती हैं। मन्दिर में जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति कम से कम १० मिनिट स्वाध्याय करके ही घर वापिस आता है।

ज्ञान का क्षयोपशम भी सतत अभ्यास करने से होता है। जो पुरुषार्थ ही नहीं करता, उस का क्षयोपशम कैसे होगा ? व्याख्यान श्रवण की प्रवृत्ति आज भी हमारी समाज में है, परन्तु स्वाध्याय की रुचि नहीं है।

एक बार एक गृहस्थ से मैंने पूछा, “भाई ! तुम व्याख्यान में क्यों नहीं आते ?”

“महाराज ! मेरी पत्नी व्याख्यान में आती है।” उस का उत्तर था ।

मैंने उस से पुनः पूछा, कि पत्नी के धर्म का लाभ क्या तुम को मिल सकता है ? पत्नी का खाया हुआ भोजन क्या तुम्हारा भी पेट भर देगा ? पत्नी को अर्द्धांगिनो कहते हैं, जिस का अर्थ है, कि पति के किए हुए धर्म का आधा भाग पत्नी को मिल सकता है । परन्तु पति को पत्नी का अर्द्धांग नहीं कहा जाता । अतः पत्नी के धर्म का फल पति को कैसे मिल सकता है ?

वस्तुतः जो भोजन करता है—पेट उसी का भरता है । अतः ज्ञान प्राप्ति के लिए व्याख्यान श्रवण तक सीमित नहीं रहना चाहिए । चातुर्मास के अतिरिक्त समय में (८ मास में) आप के पास ज्ञान-प्राप्ति का क्या अन्य साधन है ? याद रखिए, कि स्वाध्याय करने वालों की शंकाएं स्वतः निर्मूल हो जाती हैं । स्वाध्याय के द्वारा पूर्व तैयारी करने वाला ही व्याख्यान श्रवण में तत्त्व ज्ञान के रहस्य को प्राप्त कर सकता है ।

साधु स्वयं पढ़ कर आपको कहीं तक ज्ञान परोस सकता है । गृहस्थ के पास तो मानो समय ही नहीं है । साधु का ज्ञान तो साधु के काम ही आ सकता है । स्वयं का ज्ञान ही समय पर काम आता है । उधार लिया हुआ ज्ञान समय पर विस्मृत भी हो सकता है ।

एक सेठ था । वृद्धावस्था में उस की आंखों का प्रकाश समाप्त हो गया । सेठ को सभी सज्जनों ने कहा, कि आप अपनी आंखें ठीक करवा लो । सेठ ने उत्तर दिया, कि मेरी पत्नी मेरी पूर्ण सेवा कर रही है । मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्रवधुएं हैं, इस प्रकार १ पत्नी, ८ पुत्र तथा ८ पुत्रवधुओं को मिलाकर उनकी ३४ आंखें मेरे पास हैं । मेरी २ आंखों से कोई प्रयोजन नहीं है । परिवार के सदस्यों ने भी बहुत समझाया, परन्तु वह वृद्ध अपनी बात पर

अड़ा रहा तथा उस ने आँखें ठीक न करवाईं ।

एक बार घर में आग लगी, आग ने उग्र रूप धारण कर लिया । समस्त परिवार को अपने प्राणों की सुरक्षा का ही विचार आया । सभी अपना-अपना माल तथा अपने प्राण ले कर वहां से भाग खड़े हुए । वृद्ध व्यक्ति चिल्लाता रहा, 'मुझे बचाओ-मुझे बचाओ ।' परन्तु उसकी ३४ आँखें इस समय बिल्कुल निरर्थक थीं क्योंकि वे परकीय थीं, पराई थीं । यदि वह वृद्ध अपनी आँखें बनवा लेता, तो अवश्य ही उस ज्वलंत अग्नि से बच जाता । वह बूढ़ा अग्नि की भेंट हो गया ।

इसी प्रकार दूसरों के ज्ञान से आत्मा की मुक्ति चाहने वाले मुक्त नहीं हो सकते । जो स्वयं अपने ज्ञान के नेत्र को प्रकट करते हैं, वे ही अज्ञान अन्धकार की अटवी से पार हो जाते हैं ।

शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त होता है । शब्दों से ज्ञान प्राप्त होता है । शब्द तथा शास्त्र की अवज्ञा और अवहेलना से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है । अतः एव सदैव अपनी वाणी को भी सुशब्दों में व्यक्त करना चाहिए । ज्ञानी के साथ ज्ञान की बात करनी चाहिए । मूर्ख व्यक्ति के साथ बात करने से ज्ञान का विनास होता है । किसी कवि ने कहा है—

ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे बात से बात ।

मूर्ख से मूर्ख मिले, करे लात से बात ॥

मूर्ख व्यक्ति दूसरों से अपनी बात मनवाने के लिए कई बार बिबाद करता है ।

गुरु नानक ने कहा था—

एक ने कही, दूसरे ने मानी ।

नानक कहे, दोनों ज्ञानी ॥

दूसरे व्यक्ति की बात को काटने की आवश्यकता नहीं है, समझने की आवश्यकता है ।

ज्ञानी महापुरुषों के जीवन की दृष्टि ही कुछ और होती है। वे सुख में ही नहीं, दुःख में भी सुख के दर्शन करते हैं। दुःख को वे अवश्य मानते हैं। दुःख के अभाव में वे पीड़ित से दृष्टिगत होते हैं। दुःख को वे जीवन की चाबी मानते हैं। संघर्षों को वे जीवन का उपनाम समझते हैं।

यह सब क्यों होता है? ज्ञान-दृष्टि के कारण। ज्ञान की दृष्टि उन के दृष्टि कोण में 'अमृत' भर देती है। उन का प्रत्येक विचार ज्ञान पर आधारित होता है। इसीलिए वे सुख में अतिरेक रूप से सुखी नजर नहीं आते तथा दुःख में निराश-उदास नजर नहीं आते।

महापुरुष कहते हैं—O God ! I Love worries and troubles. I want sorrows because these are the ways to find your greatness.

ये चिन्ताएं ये विपत्तियाँ, ये शोक तथा रोग तो God Gift हैं - ईश्वर के वरदान हैं, किसी भाग्यशाली को ही ये वरदान प्राप्त होते हैं, ईसा मसीह की ज्ञान दृष्टि ने उन्हें शूली पर चढ़ते-हुए भी निराश-हताश न होने दिया। भगत सिंह, सुखदेव तथा राजगुरु का बलिदान क्या भारत के लिए व्यर्थ प्रमाणित हुआ? सुदर्शन सेठ की शूली क्या अनायास ही सिंहासन बन गई। उन के सत्व में, तेज में, ज्ञान का बल था।

महापुरुषों के चितन में रोग, रोग नहीं होते, कर्मक्षय के अभूतपूर्व साधन होते हैं। वे दुःखों और रोगों से भागते नहीं हैं। वे इस जन्म के कष्टों को हंस हंस कर सहन करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि हंस कर या रो कर-कर्मों को भोगना तो पड़ेगा ही। इसी सहनशीलता से कई बार उन के कर्मों की उदीरणा होती है। इन समस्त कर्म परिणामों से वे कर्मों से मुच्यमान होते हुए मुक्ति की मंजिल को तय कर रहे होते हैं।

उन की चितन विधि न जाने किस 'फरिश्तो' को जन्मत' से उधार ली हुई होती है। वे कहते हैं, कि इस जन्म के दुःखों का स्वागत है, साथ में अन्य जन्मों के दुःखों का भी स्वागत है। जो दुःख परभव में आने वाले हैं, वे इसी जन्म में आ जाएं। क्योंकि इस जन्म में यदि दुःख आता है, तो वह ज्ञान दृष्टि होने के कारण निर्जरित हो जाता है। दुःख विपाक के समय स्वकृत कर्मों पर विचार दृढ़ हो जाता है। दुःख भोगते समय परिणाम क्लेशमय नहीं होते। उस समय किसी पर द्वेष या घृणा नहीं होती। 'सर्वभूतेषु मैत्री' की भावना होती है। प्रतिशोध की अग्नि नहीं होती। अतः नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता।

वर्तमान में तो ज्ञान दृष्टि है, अतः कर्मों के उदय को सहन-शीलता से भोग लिया जाता है। यदि यह ज्ञान-दृष्टि परभव में न मिली तो ? कर्म का तो उदय होगा ही। सहनशीलता न होने से कर्म के विपाक से व्यक्ति बच न जाएगा। इस के विपरीत वह कर्मों को भोगते हुए राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा आदि के भाव से नवीन कर्मों का संचय करेगा।

विचारवान् तो सोचेगा, कि आज मेरे पास ज्ञान शक्ति है अतः मैं कर्म फल को कर्म बन्ध के बिना भोग रहा हूँ। जब आगामी भव में मेरे पास में यह ज्ञान-विवेक का बल न होगा, तब यह कर्म फल कैसे भोगा जाएगा ? तब द्वेषादि से कर्म बन्धन होगा। परिणामतः कर्मों की तथा जन्म-मरण की शृंखला प्रारम्भ हो जाएगी।

यह समस्त विचार सरणि क्या अज्ञानी के हृदय में प्रादुर्भूत हो सकती है ? "नहीं"। अतः ज्ञान ही पूर्णतः कर्मक्षय में कारण है। यदि साधक में ज्ञान दृष्टि विकसित न हो, तो वह साधना के पथ पर साहस पूर्वक बाधाओं-संघर्षों का सामना करते हुए आगे नहीं बढ़ सकता। श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार—

जीव ! तबैव दोषोऽयं, निज प्रास्कृत कर्मणः ।

नाकृतं भुज्यते कर्म, कृतं भुज्यत एव हि ॥

अर्थात्—हे जीव ! यह रोगादि तेरे ही पूर्व जन्म में कृत कर्मों का फल है । 'अकृत कर्म' का भोग (विपाक) नहीं होता तथा कृत को भोगना ही पड़ता है ।

यह आत्मज्ञान ही मानव का सर्वोत्कृष्ट निर्जरा पथ है । जहां निर्जरा ही निर्जरा है, बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं ।

उपाध्याय श्री यशोविजय जी म० ज्ञान को ही तप के नाम से अभिहित करते हैं—

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात्तपः ॥

ज्ञान से कर्मों का क्षय होता है । मन एकाग्र होता है । मन के अशुभ विचारों का नाश होता है । विशेषतः मोहनीय कर्म दुर्बल होता है । ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम होता है ।

ज्ञान पंचमी के चैत्य वदन में भी ज्ञान को क्रिया से उत्कृष्ट बताया गया है—

क्रिया देश आराधक कही, सर्व आराधक ज्ञान ।

क्रिया से देश (अल्प-आंशिक) आराधना होती है तथा ज्ञान से सर्व आराधना होती है । अर्थात् क्रियाओं के द्वारा सामान्य साधना होती है, जब कि ज्ञान के द्वारा विशेष । परन्तु यह ज्ञान बातों का नहीं, अनुभव का होना चाहिए ।

एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आया तथा कहने लगा, "महाराज ! आत्म साक्षात्कार कैसा होता है ?" मैंने विचार किया, "यह व्यक्ति आत्मा के साक्षात्कार की बातें करता है, परन्तु क्या इस के मन में आत्मा की प्राप्ति की तड़प है ?" वस्तुतः पहले आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए, बाद में ही उसकी प्राप्ति की बात हो सकती है । मैंने उस से पूछा, "क्या तुम आत्मा के

विषय में कुछ जानते हो ?” उस ने उत्तर दिया, “नहीं।” मैंने उस से कहा, “साक्षात्कार तो बाद में होगा, पहले आत्मा को जान आओ। आत्मा का ज्ञान किए बिना उस का साक्षात्कार तो ही न सकेगा।” और वह व्यक्ति मेरे उत्तर से सन्तुष्ट हो कर चला गया।

आत्म ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् प्राणी उस के अनुभव के लिए साधना करता है तथा एक दिन मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।

सम्पूर्ण ज्ञान का मुख्य केन्द्र ‘नवतत्व’ है। नवतत्व का कुछ वर्णन करना यहां अभिप्रेत है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव संवर, बन्ध, निर्जरा तथा मोक्ष-ये नवतत्व हैं। इन का क्रमशः विवेचन निम्न रूप से है।

१. जीव :—यह दो प्रकार का है : संसारी तथा मुक्त। संसारी के २ भाग हैं, त्रस तथा स्थावर। (इन के भेद-प्रभेदों के लिए जैन प्रश्नमाला देखें)

संसारी जीव कर्मों से युक्त होता है, वह अनादि संसार में भ्रमण करता है। जब वह सद्गुरु के योग से स्वयं को ‘आत्मा’ रूप जान लेता है, तो वह कर्मों का नाश करने में समर्थ हो जाता है। आत्माएं अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा अनादि है, वह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है।

मात्र आत्मा के कर्मों के कारण इस के शरीरों में परिवर्तन होता रहता है। कभी वह घोड़ा आदि पशु बन जाता है, तो कभी नारकी। कभी वह मनुष्य बन जाता है, तो कभी देव। कभी वह स्वस्थ होता है, तो कभी रोगी। ये सब कर्म के ही विपाक हैं। आत्मा के पर्याय हैं। पर्याय कैसा भी हो सकता है, परन्तु मूलतत्व कभी परिवर्तित नहीं होता। मिट्टी से घड़ा चूल्हा आदि बनता है

परन्तु उन की मिट्टी (मूल द्रव्य) तो समान ही होती है। अनेक उपाधियों से ग्रस्त आत्मा मूलतः उपाधि-रोग-शोक रहित ही होता है। इस प्रकार आत्मा मूल रूप में 'नित्य' है और पर्याय रूप में अनित्य है। मोक्षावस्था में उस का मूल नित्य रूप प्रकट होता है, अनित्यता समाप्त हो जाती है। आत्मा कर्मों का स्वयं ही कर्ता है। स्वयं ही भोक्ता है तथा कर्मों को दूर करने में भी स्वयं समर्थ है। यथा स्वर्ण अग्नि में शुद्ध हो जाता है, वैसे ही ज्ञान ध्यान रूपी अग्नि से आत्मा भी शुद्ध हो जाती है। कर्मों के उपाजन तथा नाश का कार्य आत्मा का स्वयं का ही कार्य है।

२. अजीव— इसके घर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय काय तथा पुद्गलास्तिकाय, ये भेद हैं। इनमें चार अरूपी हैं तथा पुद्गलास्तिकाय रूपी है। (इन का वर्णन जैन प्रश्नमाला में देखें)।

पुद्गल का स्वभाव है, उत्पन्न होना, स्थिर रहना तथा नष्ट हो जाना। पुद्गल में ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्दादि घर्म रहते हैं। पृथक्-भूत पुद्गल को अणु तथा एकत्र-भूत पुद्गलों को स्कंध कहते हैं। सूक्ष्मता, स्थूलता, अन्धकार, आतप, उद्योत, भेद तथा छाया—पुद्गलों के ही रूप हैं।

जीव, घर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोकाकाश-ये चार द्रव्य अमूर्त तथा असंख्य प्रदेश वाले हैं। पुद्गल के मोह के कारण प्राणी संसार में भटकता है। मनमोहक रूप, कोमल स्पर्श, सुश्राव्य शब्द, आनन्ददायक गंध तथा स्वादिष्ट रस, इन समस्त पुद्गलों पर गृह्य होने वाला जीव कर्मों का बन्ध करता रहता है तथा तद्विपरीत पुद्गलों पर द्वेष करने से भी वह कर्म बन्ध करता रहता है।

पुण्य—शुभक्रियाओं के द्वारा शुभ कर्मों का संचय।

पाप—अशुभ क्रियाओं के द्वारा अशुभ कर्मों का संचय।

आश्रय—शुभाशुभ क्रियाएं तथा कर्म बन्ध के कारण-मिथ्यात्व,

अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग ।

संवर—आते हुए कर्मों को रोकना ।

बंध—गृहीत कर्मों को प्रकृति, स्थिति, रस, तथा प्रदेशादि के रूप में बांधना ।

निर्जरा—विपाक के द्वारा या जप तप आदि के द्वारा कर्मों को आत्मा से पृथक करना ।

मोक्ष—'सर्वं कर्म क्षयो मोक्षः—समस्त कर्मों के क्षय का नाम मोक्ष है । विशेष विस्तार के लिए जिज्ञासुओं को जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रकरण, भाष्य, कर्मग्रन्थ, पन्नवणा आदि ग्रन्थ देखने चाहिए ।

सम्यग्ज्ञान के निरूपण के पश्चात् सम्यग्दर्शन का वर्णन इस से अगले पृष्ठ पर देखिए ।



सम्यग् दर्शन : मोक्ष का प्रथम सोपान

रुचि जिनोक्त तत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।

जायते तन्निसर्गो, गुरोरधिगमेण वा ॥

अर्थ—जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त में रुचि ही सम्यक् दर्शन है। यह सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) स्वभाव से तथा गुरु के उपदेश से ही होता है।

विवेचन— इस श्लोक में रचयिता ने जिन सिद्धान्त को सम्यग् दर्शन कह कर अनेक शंकाओं का समाधान कर दिया है। अंध श्रद्धा या अंध विश्वासों को सम्यग् दर्शन अथवा धर्म कहने वालों को उन्होंने सम्यग् दृष्टि की कोटि से बाहर रखता है। मात्र श्रद्धा होना कुछ और वस्तु है तथा जिज्ञासा पूर्वक किसी तत्व को ग्रहण करना कुछ और बात है। जब रुचि की वृद्धि होती है तो श्रद्धा पुष्ट होती है तथा अनेक कुतर्कों से सिद्ध, असत्य तत्वों की अंधश्रद्धा समाप्त हो जाती है। जिस को रुचि होती है, वह मन में उत्पन्न सिद्धान्त की शंकाओं को मन में रख कर समाधान के लिए अचेष्ट न रहेगा। वह समाधान तथा गुरुगम के द्वारा शंकाओं का विवेचन करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार उस का सम्यग् दर्शन निर्मल होगा।

यथा भोजनादि की रुचि न हो, तो भोजन ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। तथैव यदि सम्यक् तत्त्व के ज्ञान में रुचि न हो, तो व्यक्ति उस ज्ञान की प्राप्ति तथा उस की श्रद्धा के प्रति भी उत्साहित नहीं हो सकता। श्रुत ज्ञानी अंगारमर्दक

आचार्य सदृश अभव्य प्राणी भी रुचि न होने के कारण सम्यग् दर्शन को प्राप्त न कर सके ।

यथा पत्थर नदी में घर्षण को प्राप्त हो कर काल परिणाम से स्वयं छोटे तथा गोल बन जाते हैं, तथैव स्वयमेव जब कर्मों की अवधि एक कोटाकोटि सागरोपम तक परिसीमित हो जाती है तो प्राणी यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा ग्रंथि देश में आता है, वहां कुछ भव्य प्राणी कुछ देर स्थिर रह कर भी उस राग द्वेष की ग्रंथि को छेद देते हैं । यह अपूर्व करण है । तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण तथा अन्तरकरण करने के बाद मिथ्यात्व को दूर करते हुए अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाले औपशामक् सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । यह सम्यक् दर्शन स्वतः प्रकट होता है । परन्तु गुरु कृपा एवं गुरुबोध के द्वारा जो सम्यक् दर्शन होता है, वह अधिगम सम्यक्त्व कहा जाता है । अर्थात् भटका हुआ व्यक्ति कभी कभी अकरमात् ही सही मार्ग को पा लेता है, तो कभी-कभी किसी मार्ग-दर्शक की कृपा से ।

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही यम, नियम, श्रुतज्ञान, चारित्र, तप आदि की प्राप्ति सार्थक है । यदि सम्यक् दर्शन का अभाव हो, तो समस्त धर्म क्रियाएं मोक्ष सुख की प्राप्ति में साधक नहीं बन सकती हैं । श्रीकृष्ण, रावण तथा श्रेणिक महाराजा ने इसी सम्यक्त्व की कला से अपनी भवस्थिति को सीमित कर लिया था ।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में राग तथा द्वेष की विशेष अल्पता होनी चाहिए । जब तक राग द्वेष रूपी प्रगाढ़ बादल आत्मा पर छाए रहते हैं, तब तक सम्यग् दर्शन का सूर्योदय नहीं हो सकता । सम्यक्त्वी जीव भी राग द्वेष के वशीभूत होकर सम्यक्त्व से पतित हो जाता है, अतः मूलतः यह सम्यक् दर्शन जहाँ धर्म का मूल है, वहाँ राग द्वेष का त्याग समस्त साधनाओं का

सार है। जब तक अन्यान्य साधनाओं, सम्प्रदायों या क्रियाओं के कारण राग द्वेष की वृद्धि होती हो, तब तक सम्यग्दर्शन में संदेह समझना चाहिए।

देव गुरु धर्म में (श्रद्धा)—यह पूर्ण विश्वास हो जाना चाहिए, कि देव तथा गुरु ने जो कुछ कहा है, बिल्कुल सत्य ही कहा है। इस का नाम सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में देव गुरु धर्म में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। जिस को हम ने देव मान लिया, वह देव सच्चा होना चाहिए। हमें उस का ज्ञान पहले प्राप्त करना पड़ेगा। मानो आप बाजार में गए। वहाँ एक घड़े को देखा। आप ने घड़े को लिया। छोटा सा घड़ा, मिट्टी का घड़ा, २-४ रुपये का घड़ा, परन्तु आप उसे भी ग्रहण करने से पहले टकोर कर देखते हो। देखते हो न ! 'कि यह घड़ा कैसा है।' जब २-४ रुपए का घड़ा भी आप टकोर कर देखते हैं तथा जांच परख कर लेते हैं, तो जिस परमात्मा को हमने ग्रहण करना है, पाना है, जिस परमात्मा पर श्रद्धा विश्वास रखना है, उस परमात्मा को भी कितना टकोर कर देखना चाहिए, यह सोचने की आवश्यकता है। छोटे से घड़े की तरह परमात्मा को भी जांच परख कर स्वीकार करना है। कहीं ऐसा न हो, कि जो सुदेव हैं, उन का आप के हृदय में वास न हो तथा जो कुदेव हैं, भवसागर में डुबोने वाले हैं, उन पर आप की श्रद्धा हो जाए। ऐसी अयथार्थ की श्रद्धा आपके संसार को बढ़ाएगी ही, घटाएगी नहीं।

सच्चे देव के ऊपर सच्चा विश्वास ! आप का परमात्मा कौन है ? आप का लक्ष्य कौन है ? इसी प्रश्न पर आप की सारी साधना आधारित है। आप को जहां पहुंचना है तथा जिस तक पहुंचना है, उस परमात्मा का सच्चा ज्ञान कर लेना जरूरी है। महावीर, बुद्ध, राम, विष्णु, महेश, गणेश इन नामों से हमें कोई भ्रम नहीं। परमात्मा उसे मानो, जिस में वास्तव में वीतरागता

हो । कलि-काल सर्वज्ञ, आचार्य देव के शब्दों में—

भव बीजांकुर जनना, रागाघा क्षय मुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा, विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वह परमात्मा कर्म के कालुष्य से मुक्त हो, संसार के बीज (राग द्वेष) से रहित हो । जब ऐसे परमात्मा का ज्ञान होगा, तभी उस पर वास्तव में श्रद्धा होगी, तभी आप सम्यग्दर्शन के अधिकारी हो सकेंगे ।

देव पर श्रद्धा ! गुरु पर श्रद्धा ! गुरु वह है, जो पंच महाव्रत धारी हो । गुरु वह है, जो निर्ग्रन्थ हो । जिस के पास रागद्वेष की ग्रन्थि आप को देखने को बहुत कम मिले या न मिले । जो संयम पालन में पूर्ण हो, जो कंचन कामिनी का त्यागी हो । ऐसे गुरु पर श्रद्धाभाव होना सम्यग्दर्शन है ।

केवली प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा—जो कुछ केवली भगवन्त ने कहा है, वह सत्य है, नितान्त सत्य है । उस में शंका की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती । शास्त्रों की बात में सन्देह को कोई स्थान नहीं । यह भी सम्यग्दर्शन है ।

कई बार आप को भगवान् के द्वारा कथित तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं होती । भगवान् ने कहा—पृथ्वी गोल नहीं है, यह सुन कर हमारे युवक श्रद्धा भ्रष्ट हो जाते हैं, कि वर्तमान विज्ञान तो पृथ्वी को गोल मानता है । हम भगवान् की बात को कैसे मानें ? भगवान् ने कहा, कि चन्द्रमा पर देवता रहते हैं, तो युवकों को इस बात पर भी विश्वास नहीं होता । भगवान् ने कहा, कि जब व्यक्ति इस संसार में आता है, तो वह दुर्लभ मानव जीवन को ले कर आता है । विश्व में मानव बहुत कम हैं और आप कहते हैं, कि मानव बढ़ते ही जा रहे हैं ? भगवान् की वाणी पर भी श्रद्धा नहीं होती है । क्या सचमुच मानव बढ़ रहे हैं ? भगवान् महावीर ने कहा था, कि मनुष्य जीवन दुर्लभ है । मनुष्यत्व की प्राप्ति उससे भी दुर्लभ

है। परन्तु वर्तमान युग में मनुष्य बन जाना बहुत सरल लगता है। मनुष्य के जन्म को रोका जा सकता है, कि कहीं मनुष्य बढ़ न जाएं। महावीर की वाणी क्या असत्य होगी, कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। महावीर का सिद्धान्त क्या सारा असत्य है, कई बार मन में शंका हो जाती है। शंका का समाधान भी प्राप्त कर लेना चाहिए। पहली बात, कि मनुष्य थोड़े हैं। गणना की दृष्टि से मनुष्य सचमुच बहुत थोड़े हैं। आप संसार पर दृष्टिपात कीजिए, कीड़े मकौड़े, पशु पक्षी कितने हैं। उन की अपेक्षा मनुष्य कितने कम हैं, मात्र आटे में नमक के समान। बहुत थोड़े। आप देखते हैं, कि सर्प कितने हैं? बिच्छु कितने हैं? जब वर्षा होती है, तो वर्षा में द्वी-इन्द्रिय, त्री-इन्द्रिय प्राणी अगणित संख्या में जन्म लेते हैं, ऋद्धों-अरबों की संख्या में। मनुष्य आज कितने हैं? मात्र ४ अरब। अतः मनुष्य अधिक नहीं हैं। सत्य है, कि मनुष्य कम हैं। यह संख्या तो दृश्यमान भरत क्षेत्र की है। यदि हम संसार के अन्य क्षेत्रों के मनुष्यों की भी गणना कर लें, तो भी मनुष्य उन जीवों की अपेक्षा ऋद्धों-अरबों गुना कम होंगे।

जनसंख्या की वृद्धि भी एक वहम है। पूर्व युग में जितने लोग जन्मते थे, उतने ही मर भी जाया करते थे। अतः प्रतीत होता था, कि जन संख्या उतनी ही है। उस की वृद्धि रुक गई है। मानो १०० व्यक्तियों ने जन्म लिया तथा लगभग १०० ही बच्चे या बूढ़े मर गए, तो संख्या में कितनी वृद्धि होगी? यानि समान रहेगी।

परन्तु आज विज्ञान के युग में बड़े-बड़े अविष्कार हो चुके हैं। ऐसी-ऐसी दवाईयां आविष्कृत हो चुकी हैं, कि बड़े-बड़े रोगी व्यक्ति भी थोड़े समय के लिए मृत्यु से बच सकते हैं। आज मनुष्य की औसत आयु कितनी है? शायद ५८ वर्ष हो, परन्तु १० वर्ष पूर्व यह औसत ४७ वर्ष थी तथा ५० वर्ष पूर्व यह औसत ४० वर्ष

थी। जिस का तात्पर्य है, कि जितने व्यक्ति जन्म लेते थे, उसी अनुपात से मरते भी अधिक थे। परन्तु आज मृत्यु की संख्या कम हो गई है और चूँकि मरते कम हैं, अतः जनसंख्या वृद्धि प्रतीत हो रही है। बच्चे उत्पन्न इतने नहीं हो रहे। बूढ़े (४७ से अधिक आयु वाले) मरते कम हैं। जब वे मरते कम हैं, तो संसार में रहेंगे, फलतः जनसंख्या बढ़ती तब जरूर अवश्य आएगी, जन्म दर बढ़ी नहीं है, मृत्यु दर कम हो रही है। अतः जनसंख्या वृद्धि हो रही है और मृत्यु की दर तो कम होनी ही चाहिए। आज विज्ञान ने नई चिकित्सा पद्धति तथा नए आविष्कार किए हैं। यहां तक कि मानव का दिल निकाल कर टेबल पर रख दिया जाता है तथा उस के स्थान पर दूसरा दिल आरोपित कर दिया जाता है। कैंसर जैसे रोगों का इलाज होने लगा है। बताइए! मरण संख्या कम होने से जन संख्या वृद्धि का अध्यास क्यों न होगा? तात्पर्य यह है, कि जो कुछ महावीर ने कहा, वास्तव में वही सत्य है।

हमें शंका हो सकती है, लेकिन यदि शंका का समाधान नहीं मिलता, तो समझो, कि हमारी बुद्धि में कमी है। शास्त्र के ज्ञान में कमी हरगिज़ नहीं। हमारी बुद्धि कितनी है? बहुत कम। तत्व को हम पूर्णतया नहीं समझ सकते। ऐसी स्थिति में शास्त्रों को गलत कहने के बदले अपनी बुद्धि को गलत कहो, यही बुद्धिमत्ता है। देव, गुरु, धर्म तथा शास्त्रों में श्रद्धा रखना, इस का नाम है सम्यग्दर्शन।

सम्यग्दर्शन की महत्ता—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्यों आवश्यक है। अभव्य प्राणी चारित्र्य की साधना करके २१ वें देवलोक तक चला जाता है। परन्तु वह अनन्त संसार में भटकता रहता है, उसे मोक्ष कभी भी नहीं मिलता। कारण, कि उस ने सम्यग्दर्शन को पाया नहीं है। उस का चारित्र्य भी किस काम का, यदि साथ में श्रद्धा न हो, सम्यग्दर्शन न हो?!

निश्चय सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा, यह व्यव-

हारिक अर्थ है। परन्तु सम्यग्दर्शन का नैश्चयिक अर्थ है—भेद विज्ञान। आप को शरीर तथा आत्मा की पृथक्ता का न केवल विश्वास हो, अपितु उस की प्रतीति भी हो। किसी व्यक्ति या वस्तु अथवा घन के वियोग में दुःखी होना, शोकातुर हो जाना, यह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं। यदि उस ने घन या प्रियपात्र को शरीर की तरह पृथक् माना होता, तो वह शोक क्यों करता ? यही मोहनीय कर्म का उदय है, जिस के कारण मिथ्यात्व-मोहनीय का भी उदय होता है। यदि व्यक्ति को स्व तथा पर का, जड़ तथा चेतन का, भेद ज्ञान नहीं, तो अकेला व्यवहारिक श्रद्धात्मक सम्यक्त्व, व्यक्ति का कल्याण करने में सक्षम न होगा। व्यवहारिक श्रद्धा तो अभव्य को भी हो सकती है, अतः सम्यक्त्व के इस लक्षण से ऊपर उठने की आवश्यकता है।

पञ्च लक्षणी—सम्यक्त्व की पंचलक्षणी में शम, संवेग, निर्वेद, आस्था तथा अनुकम्पा सम्मिलित हैं। इनमें आस्था प्रथम है, तत्पश्चात् ही क्रमशः अनुकम्पा निर्वेद, संवेग तथा शम का उदय होता है। आस्था बीज है। आत्मा नींव है। आस्था से जीवन निर्माण प्रारम्भ करना है। आस्था को जीवन का सूत्र बनाना है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की भी अद्भुत प्रक्रिया है। कैसे व्यक्ति अमुक कर्मों के क्षयोपशम के पश्चात् ग्रन्थि देश तक आता है तथा तत्पश्चात् ग्रन्थि भेद करता है। अपूर्व करण का अपूर्व रसास्वादन करता हुआ वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, यह भी ज्ञातव्य है, परन्तु स्थानाभाव से इस का विशेष वर्णन नहीं करूंगा। सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् जीव में आत्मोत्थान के लक्षण प्रकट होने प्रारम्भ हो जाते हैं। आस्था, श्रद्धा, देव गुरु धर्म की हो, आत्मा परमात्मा की हो। आत्मा नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष का उपाय भी है। आत्मा के ये लक्षण सम्यक् दृष्टि में होने आवश्यक हैं।

हमारी समस्त धर्म क्रियाओं का सार सम्यक्त्व है। मानो आपने २० शून्य लगा दिए हों, तो क्या उन का कोई मूल्य है? शून्य की कीमत हो भी नहीं सकती। समस्त धर्म क्रियाओं की महत्ता भी शून्य से अधिक नहीं, परन्तु सम्यक्श्रद्धा-सम्यग्दर्शन "१" के समान है। शून्य का अपने आप में मूल्य नहीं, जब कि "१" का अपने आप में भी कोई अर्थ है। दो-चार शून्य लगाने के पश्चात् उसके आगे "१" लगा दिया जाए, तो उसमें से प्रत्येक शून्य का मूल्य १० गुणा वृद्धिगत होता जाएगा। वह अरब खरब तक पहुँच जायेगा। महत्ता "१" की है। जब तक जीवन में श्रद्धा का "१" संयोजित न किया जाएगा, धर्म क्रिया रूप शून्य अर्थहीन रह जाएगा। एक लगने से संयुक्त शून्य, न केवल "१" की कीमत को बढ़ाता है, अपितु स्वयं भी मूल्यांकित हो जाता है। पहले एक लगाओ, फिर शून्य लगाओ। एक लगने के पश्चात् शून्य न होगा तब भी आप एक पर स्वामित्व करेंगे। यदि शून्य होने के पश्चात् एक न होगा, तो आप किस पर शासन करेंगे। संख्या पृथ्वी है, शून्य आकाश है। राज्य पृथ्वी पर ही हो सकता है। आकाश पर शासन कैसा ?

तात्पर्य यह नहीं, कि धर्म क्रियाओं का कोई मूल्यांकन नहीं। हाँ! ये धर्म क्रियाएँ स्वयं में मूल्य हीन हैं। "१" से संयुक्त होने के पश्चात् उन में अर्थ क्रिया कारित्व उत्पन्न हो जाता है (यहाँ अर्थ क्रिया कारित्व का अर्थ मोक्ष लक्ष्य प्राप्ति रूप में परिलक्ष्य है।) वह आप को मोक्ष तक ले जाएगी। यदि किसी अन्य वेष-धारी में स्पष्ट श्रद्धा का दर्शन नहीं, परन्तु वह 'आत्मा है, इत्यादि षड्लक्षण तथा भेद विज्ञान की अन्तरंग अनुभूति करता है, तो वह भी सम्यक्दृष्टि ही कहा जायेगा।

जरा विचार कीजिए, कि आप धार्मिक तो हैं, परन्तु श्रद्धा में कहां तक अग्रसर हैं? श्रद्धा भी अविचल तथा अटल होनी चाहिए। जब देवता ने परीक्षा ली, तो राजा श्रेणिक गर्भवती साध्वी

तथा मच्छीमार साधु को देख कर भी श्रद्धा भ्रष्ट न हुआ। उसके मुख से यही उच्चारण हुआ, कि महावीर के सभी साधु श्रेष्ठ हैं। इस अकेले में दूषण होने से सभी दोषपात्र परिगणित नहीं किए जा सकते। वर्तमान में कोई श्रावक किसी साधु का कोई दूषण देख ले, तो उस दूषण के सुधार का प्रयत्न न करके वह उस साधु की निंदा करेगा, साधु संस्था का उपहास उड़ाएगा, समाज में साधु की उस कमी का डिंडिमघोष करेगा। एक शिथिल साधु को देख कर साधु मात्र के प्रति अनास्थावान् हो जाएगा तथा झट कह देगा, कि सभी साधु ऐसे ही शिथिल हैं। अतः श्रद्धा हो तो अटूट हो।

सम्यग् दृष्टि को राग द्वेष बहुत कम होता है। वह कभी भी छोटी-छोटी बातों को लेकर कलह अथवा क्लेश नहीं करता। 'शम' अर्थात् आत्म शांति उस का आत्म धन होता है। वह कभी भी किसी भी परिस्थिति में उस का हरण नहीं होने देता। गुणवान को देख कर वह प्रमोद भावना से श्रद्धावन्त हो जाता है।

पंचम लक्षण शम—सम्यग् दृष्टि राग द्वेष के वातावरण से सदैव दूर रहता है। पारिवारिक क्लेश, परिस्थिति जन्य हो सकता है, परन्तु अद्यकाल में धार्मिक स्थान भी जब राग द्वेष के अभिवर्धक हो जाते हैं, तो मुख मण्डल म्लान हो जाता है। पारिवारिक तथा सामाजिक क्लेश को धार्मिक स्थानों में ला कर धर्म को बदनाम किया जाता है। ऐसा कार्य करने वाला व्यक्ति क्या सम्यग्दृष्टि कहलाने का अधिकारी हो सकता है? कदापि नहीं। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वृद्धि के स्थान का दूर से ही त्याग कर देता है। वह सदैव समता के भाव में रमण करता है। वह क्रिया, संप्रदाय या मतभेद को लेकर आत्म शांति को भंग नहीं होने देता है। संप्रदायवादी का सम्यग्दर्शन भी संदिग्ध होता है। किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय, किसी भी व्यक्ति के अपराधी होने पर, वह व्याकुल न होकर शांत

चित्त रह कर मैत्री भाव की साधना करता है। उसका अनन्तानु-
बन्धी कषाय उपशांत होता है। वह देहाभिन्न आत्मा के कर्मफल
को मानता है। ऐसी स्थिति में न आसक्ति होती है, न मिथ्यात्व।

संबन्ध—वह देवता तथा मानव के भौतिक सुखों को तुच्छ
समझता है तथा मोक्ष सुख को ही आत्म सुख मानता है।

सम्यग्दृष्टि जीवड़ो, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।

अन्तर से न्यारा रहे, ज्यूँ धाय खिलावे बाल ॥

जैसे धाय माता (धात्री) बालक का पालन पोषण करते हुए
अन्तर्मन से प्रेमाकुल न हो कर, प्रतिक्रिया यही समझती है, कि
यह बच्चा मेरा नहीं है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी
संसार में रहता हुआ, परिवार का पालन पोषण करता हुआ
महल आदि में अन्तर्मन से उस में लिप्त नहीं होता। उस में
ममत्व बुद्धि कम हो जाती है। उसका मन 'निर्वेद' तथा 'संबन्ध' में
तत्पर रहता है। वह संसार से वैराग्यवान् होता है, मोक्ष से कुछ
पृथक् रहता है तथा साधुत्व के मार्ग को ही सम्यग् मार्ग मानता
है। चारित्र्य ग्रहण का भाव रखता है। वह संसार से अलिप्त रह
कर अपराधियों के प्रति भी मध्यस्थ भावना से युक्त रहता है।

अनुकम्पा—सम्यग्दृष्टि में दया भावना का अजस्र स्रोत
सदैव प्रवाहमान होता है। किसी दुःखी दरिद्री को देख कर वह
उस के दुःख को विपरीत करने के लिए त्वरित गत्या सचेष्ट
हो जाता है। यथा शक्ति धन की सहायता, सेवा-शुश्रूषा के द्वारा
उस के दुःख को कम कर देता है। वह करुणा की प्रतिमूर्ति होता
है। यदि दुःखी को देख कर करुणा का भाव उत्पन्न नहीं होता,
तो समझो, कि सम्यग्दर्शन में कहीं कमी है।

जब तक शम, संबन्ध, निर्वेद, अनुकम्पा तथा आस्था—ये ५
लक्षण व्यक्ति में विकसित नहीं होते, सम्यग्दर्शन का पूर्ण शुद्ध
अस्तित्व सन्दिग्ध ही कहा जाएगा। पांच लक्षणों से युक्त व्यक्ति

किसी भी गच्छ, वेष, धर्म या देश का हो, सम्यग्दृष्टि माना जाएगा ।

सच्चा सो मेरा—सम्यग्दृष्टि का स्पष्ट विचार होता है—
“सच्चा सो मेरा ।” “मेरा सो सच्चा” का कदाग्रह उसे कभी नहीं होता । आग्रह ग्रहित हो जाने पर प्रेताविष्टवत् व्यक्ति सत्य से पराङ्मुख हो जाता है । वह पीलिया के रोगी की तरह सर्वत्र पीला-पीला ही देखता है । “यथा दृष्टिः, तथा दृष्टिः ।” उस की दृष्टि ही कलुषित होती है । वह सत्य गवेषणा के लिए अयोग्य प्रमाणित हो जाता है । ऐसे व्यक्ति से विवाद करना भी व्यर्थ होता है । सत्य का आग्रह हो तथा असद् का कदाग्रह कभी न हो । कदाग्रही का सम्पूर्ण अभिलाप न केवल मूर्ख का प्रलाप होता है, अपितु उस की प्रत्येक बात में—विचारा धारा में ‘वदतोव्याघात’ के लक्षण भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं ।

आज आप जैन हैं । जैन होने से आप को यह अधिकार नहीं मिल जाता है, कि आप सभी धर्मों को असत्य कह दो । आज आप जैन न होकर मुसलमान होते, तो किस धर्म को सत्य कहते ? किसी भी धर्म की सत्यता का आग्रह गलत है । धर्म तत्व सत्य होता है, परन्तु जब वह सम्प्रदाय युक्त हो जाता है, तो असत्य मिश्रित हो जाता है । सम्प्रदाय की नींव ही असत्य पर होती है ।

जैन धर्म सत्य है, परम सत्य है, क्योंकि आप्त सर्वज्ञ निरूपित है । परन्तु यदि अन्य धर्मों के प्ररूपयिता भी सर्वज्ञ हैं, तो वे धर्म सत्य क्यों न होंगे । बुद्ध, कृष्ण, ईसा, राम की सर्वज्ञता में सन्देह हो सकता है । परन्तु सभी धर्मों (तथाकथित धर्मों) को सर्वथा असत्य कहना भी गलत है । सत्य का कोई भी जनक नहीं । वह व्यापक है । सीमाओं से अस्पृष्ट है । वह विशाल है । अनेकान्त युक्त है । उसे मर्यादित कहना, एक स्थान पर स्थित कहना ही अनुचित है । सत्य जहाँ भी प्राप्त हो, उसे ग्रहण करना चाहिए । जहाँ सत्य प्राप्ति की संभावना हो, वह कोई भी गच्छ या संप्रदाय

या तथाकथित धर्म क्यों न हो, वहां निःसंकोच जाना चाहिए। अपनी दृष्टि को सत्यग्राही बनाओ। आचार्य श्री समन्तभद्र की 'अनेकांतोऽप्यनेकांतः' की उक्ति को आज जैन समाज विस्मृत कर रहा है। इसी का दुष्परिणाम है, कि आज अनेकान्तवादी ही धर्म के विषय में जितने एकांतग्राही हैं, उतना संभवतः अन्य कोई नहीं। यदि महावीर, उनके सिद्धांत, उनके मोक्ष मार्ग, उनके तत्व तथा उन के हितोपदेश को समझना है, तो विशुद्ध अनेकांत दृष्टि को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्थान दो, अन्यथा सभी धर्म क्रियाएं करते हुए भी आप तेली के बैल की तरह एक कदम भी आगे न बढ़ पाओगे।

हम जन्म-गत संस्कारों से जो कुछ ग्रहण करते हैं, उस से हमें राग हो जाता है। उन में सत्यता का अंश मात्र होता है। 'मेरा सो सच्चा' का सिद्धांत स्वीकरणीय नहीं। जिस गधे की पूंछ को पकड़ लिया, वह सब से श्रेष्ठ है। उस का त्याग नहीं हो सकता। गधे की पूंछ को पकड़ने वाले का क्या उपहास नहीं होगा? जो मैंने पकड़ा, वही सही है। तुमने जो पकड़ा, वह उचित नहीं। ऐसा मिथ्या आग्रह व्यक्ति को कुछ भी सुनने-समझने से वंचित रखता है। वह पूर्व धारणा के प्रति विद्वस्त होता है। यावत् उसे परमेश्वर की वाणी मान कर चलता है। बन्धुवर! यदि आप भी ऐसे हैं, तो कृपया सावधान हो जाएं। कहीं आप असत्य के मार्ग को ही तो दिग्भ्रांत हो कर सत्य नहीं मान बैठे? आत्म निरीक्षण कीजिए। आप भगवान महावीर के मतानुयायी उस शिक्षण को विस्मृत कर बैठे हैं।

श्री हेमचन्द्राचार्य के कथनानुसार—

काम राग-स्नेह रागावीषत्कर निवारणौ ।

दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि ॥

काम-राग तथा स्नेह-राग का त्याग सरल है, परन्तु अपने

संप्रदाय का दृष्टिराग सज्जनों के लिए भी दुरुच्छेद्य है, तथा यही दृष्टिराग मोक्ष मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। इस दृष्टि से आज के जमाने में अधिकांश आचार्य, साधु तथा भक्त इसी प्रेत-बाधा से ग्रस्त पाये जाते हैं। जिसे जो साधु, सम्प्रदाय या नियम मन प्रिय लगता है, वह उसे ही पकड़ कर खँचता रहता है। इसी के आधार पर जैन धर्म भी चार सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। गुरु वल्लभ ने जैन एकता, समन्वय तथा अजैनों के साथ समभाव का पाठ सिखा कर हमें दृष्टिराग के बन्धन से मुक्त किया। दृष्टिराग को छोड़ कर 'सत्यगवेषणा' तथा 'गुणशाहिता' के अनुयायी बनो। सम्प्रदाय की दीवारों को तोड़कर "नमो अरिहंताणं" के मूलरूप 'गुणवाद' का जाप करो। यदि नमस्कार मंत्र से गुण पूजा नहीं सीखी, तो नमस्कार का जाप पूर्णतः निरर्थक है। दृष्टिराग से आप को संकीर्णता का राष्ट्रीय अलंकरण यानी पदमभूषण(?) मिल सकता है। इस जागतिक हानि के अतिरिक्त आत्मिक गुणों के कोश का नींव पत्थर सुदृढ़ न रह पाएगा एवं वर्तमान युग में सार्वज्ञिक पूजा न होगी।

कई भक्ति तो अन्यमतानुयायी साधुओं को साधु भी मानने को तैयार नहीं हैं, उन्हें वन्दन करने में उन्हें संभवतः पाप लगता है। क्या यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। शम तथा धार्मिक सहिष्णुता से रहित सम्यग्दर्शन व्यवहारिक हो सकता है, नैश्चयिक कदापि नहीं। सम्यग्दर्शन की राज्य सभा में सांप्रदायिकता, धर्म के जनून तथा कदाग्रह को कोई स्थान नहीं है। काम राग, स्त्री के प्रति वासना, स्नेह राग, परिवार तथा धनादि के प्रति मोह का त्याग सरल है। कठिनतम है दृष्टि राग का त्याग। नमो लोए सब्बसाहूणं में आप सभी साधुओं को अनायास ही नमस्कार कर देते हैं, फिर आप इच्छानुसार करें या न भी करें।

एक दिन गुरु वल्लभ के पास आ कर एक धर्मांध व्यक्ति कहने लगा, कि मैं तुम्हें साधु नहीं मानता। इस के अतिरिक्त वह

अनर्गल प्रलाप भी करने लगा। तब आचार्य देव श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी म० ने अपनी सहिष्णुता का परिचय देते हुए एक ही उत्तर दिया, कि “हे भाई ! यदि मेरे में साधुता होगी, तो तेरे द्वारा नवकार मंत्र गिनते हुए मुझे स्वयं ही नमस्कार हो जाएगा। तू माने या न माने।” वह व्यक्ति उनके दृष्टिकोण तथा समता से बहुत प्रभावित हुआ। आज ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले साधु बहुत कम हैं। आवश्यकता है, साधुओं को भ्रातृभाव, वात्सल्य, प्रेम तथा सहिष्णुता सिखाने की। ईर्ष्या, घृणा, स्वार्थ, परोत्कर्ष के प्रति ईर्ष्या, ये सब तत्व साधुता को कलंकित कर देते हैं।

पंडित सुख लाल जी भी एक पुस्तक में लिखते हैं, कि मैंने वाराणसी में अध्ययन करते समय पंडितों के वादविवादों को सुना, प्रत्येक धर्म के प्रति कटाक्षों का विषपान किया। फलतः मुझे दूसरे की बात सुनने की सहिष्णुता तथा धार्मिक सहिष्णुता की शक्ति अनायास ही प्राप्त हो गई।

यदि आत्म कल्याण करना है, तो दृष्टि राग का चश्मा आंखों पर से उतार फेंकना होगा। पीला या लाल चश्मा लगाने से आप को वस्तु का सही स्वरूप दृष्टिगोचर न होगा।

इसी चश्मे की कृपा है, कि मानव को अपने प्रिय संप्रदाय, साधु या व्यक्ति में दुर्गुण भी गुण के रूप में दिखते हैं तथा अन्यो के गुण भी दुर्गुण नजर आते हैं।

जब आप की असली आँखें सब कुछ सही देख रही हैं, तो चश्मा पहनने की क्या आवश्यकता है? जब ‘आई साइट’ वीक हो जाए, तभी चश्मे की उपयोगिता रहती है। यदि आप के पास अनेकान्त की दूरदृष्टि हो, सत्य गवेषणा की योग्यता का उपनेत्र हो, तो अन्य उपनेत्रों से क्या?

आत्मा आदि की श्रद्धा—यह आवश्यक नहीं, कि सम्यग्दृष्टि को देव-गुरु-धर्म का ज्ञान एवं श्रद्धा हो, जिस ने देव-गुरु-धर्म का नाम

भी न जाना हो, फलतः उन पर श्रद्धा भी न हो, वह भी सम्यग् दृष्टि हो सकता है। अनिदार्थता मात्र यह है, कि वह कषायों तथा विषयों का उपशम करके शमादि गुणों से विभूषित हो तथा “आत्मा है” आदि अस्तित्व लक्षण से युक्त हो।

सत्य की परीक्षा करो—‘सत्य सो मेरा’। सत्य की प्राप्ति के प्रति सतर्क हो जाओ, सत्य की प्राप्ति के प्रति दो-चार मिनट का विलम्ब भी क्षन्तव्य नहीं हो सकता। सम्प्रदाय के अन्दर रह कर संप्रदाय की मान्यताओं का पालन करते हुए क्लेश न करे। आप ने सत्य को परखने का कभी प्रयत्न किया? सत्य को परखना पड़ता है, जैसे घड़े को परखना पड़ता है। यहाँ पर आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य हेमचन्द्र इस विषय में उदाहरणीय हैं।

पक्षपातो न मे बीरे, न द्वेषः कपिला दिपु।

युक्तिमत्द् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

आचार्य हरिभद्र ने स्पष्टतः अपने अनुयायियों को दिग्दर्शन कराया, कि भ० महावीर को पक्षपात से मानने का कोई कारण नहीं तथा कपिल आदि महर्षियों को द्वेष के वशीभूत होकर त्याज्य समझने का भी कोई कारण नहीं। जहाँ युक्ति या तर्क है, वहाँ मेरी सम्मति है। यदि ऐसा न होता, तो गुण-पक्षपाती हरिभद्र कभी भी महर्षि कपिल को भवव्याधिभिषग्वरः (संसार रोग के श्रेष्ठ वैद्य) कह कर सम्बोधित न करते।

आचार्य हेमचन्द्र के ये २ श्लोक भी देखिए—

यत्र यत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा।

वीत दोष क्लुषः स चेद् भवान् एकएव भगवन् नमोऽस्तुते ॥

अर्थात्—हे परमेश्वर! तू जहाँ जिस समय में जैसा है, मैं तुझे वहीं पर, उसी समय, उसी रूप में नमस्कार करता हूँ। (धर्म, वैष या नाम का कोई प्रश्न मुझे स्वीकार्य नहीं) ॥१॥

संसार के मूल कारण राग तथा द्वेष जिस महापुरुष के समाप्त हो गये हैं, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शंकर हो, तीर्थंकर हो या कोई भी क्यों न हो, उसे नमस्कार हो ।

इस अयोगव्यवच्छेदिका में श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्ट कहा है कि-

न श्रद्धयैव त्वपि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।

यथावदाप्तत्वं परीक्षया तु, त्वमेव बीर ! प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥

हे प्रभो ! मैंने आप को परीक्षा करके स्वीकार किया है, रागादिभाव से नहीं । महर्षि व्यास भी “ऋतस्य पंथाः दुर्गमाः दुरत्यथाः” कह कर सत्य के पथ को दुष्प्राप्य बताते हैं तथा “धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां” सदृश वाक्यों से जन-जन को उद्बोधित करते हैं, कि धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्लेट पर रख कर तुम्हें दे दी जाए । उसे महर्षि लोग अन्धकूप में या अन्धकार मय गुफा में डाल देते हैं, जो स्वयं पुरुषार्थ करेगा तथा परखेगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा ।

धर्म एवं सत्य किसी के देने से प्राप्त नहीं होता । गहन कूप में छलांग लगानी ही पड़ेगी ।

जिन खोजां तिन पाइयां, गहरे पानी पंठ ।

मैं बीरी दूँढत डरी, रही किनारे बंठ ॥

“सत्य के प्रति” सद् दृष्टि होनी चाहिये । सत्य के प्रा आग्रह एवं सामादर होना चाहिए । एतद् द्वारा सम्यग्दर्शन द होगा । यदि सम्प्रदाय एवं मान्यता को ही सत्य तथा अ मान्यताओं को असत्य मान लिया जाए, तो वहाँ सम्यग्दर्शन स्थिर रहना कठिन होता है । सम्प्रदायवाद के विवादों से रह कर सत्य की गवेषणा करनी ही होगी ।

सम्यग्दृष्टि का आचरण : शास्त्रकारों ने सम्यग् द

जीवन का सार बताया है ।

सम्महिद्वी जीवो, जइ वि हु पावं समायरे किच्चि ।

अप्यो सि होई बंधो, जेण व निद्धं धसं कुणई ॥

सम्यग् दृष्टि जीव यद्यपि पाप किञ्चिन्मात्र करता है, परन्तु उस का पाप-बंध स्वल्प होता है । क्योंकि वह सच्ची दृष्टि का धारयिता है । पाप करते हुए उसे पाप समझता है । असत्य आचरण के समक्ष उसे असत्य के रूप में ही देखता है अपनी कपट नीति की सफलता के रूप में नहीं । बेइमानी को बेइमानी कहता है । वह उसे कला या Art नहीं कहेगा । वह स्वयं को गलत कहेगा । स्वयं को गलत कहना एवं सम्यक् ज्ञान की ओर अग्रेसर होने का प्रयत्न करना, वह भी सम्यग्दर्शन का लक्ष्य है । आचार्यों ने एक सर्वोपरि बात कही है—

दंसणभट्टो भट्टो, दंसणभट्टस्स नत्थि निव्वाणं ।

सिज्जंति चरण रहिया, दंसण रहिया न सिज्जंति ॥

उन्होंने दर्शन के साथ चारित्र्य की तुलना करते हुए स्पष्ट कहा है, कि चारित्र्य के बिना मुक्ति हो सकती है, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं । क्योंकि चारित्र्य से भ्रष्ट व्यक्ति दर्शन धारी मार्ग का ज्ञाता हो कर अपनी गलती को देख कर पुनः चारित्र्यवान् बन सकता है, परन्तु सम्यक् दर्शन से भ्रष्ट हो कर वह भ्रष्ट ही रहेगा । सन्मार्ग से दूर होता चला जायेगा ।

आषाढाचार्य की कथा में भी यही माहात्म्य स्वीकार किया गया है, कि छः कृत्रिम बच्चों का बध करके अहिंसा महाव्रत को तोड़ने वाले चारित्र्य भ्रष्ट आचार्य भी श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के भ्रष्ट न होने के कारण सत्पथ पर पुनः स्थापित हुए । चारित्र्य के बिना कार्य सिद्धि हो सकती है, परन्तु सम्यग् दर्शन के बिना तो खेल ही खत्म हो जाता है । ऐसी उद्धोषणा का आज के युग में विपरीत अर्थ ग्रहण न किया जाए । यह निरूपण तो किसी सम्यग्-

दृष्टि के चारित्र के दोष लग जाने की आपवादिक स्थिति का द्योतक है। जिसे सम्यग् दर्शन के प्रति पूर्णतः विश्वास न हो, उस के लिए चारित्र के इस आपवादिक मार्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। दर्शनहीन तो ऐसे वचनों को सुविधावाद मान कर चारित्र-भ्रष्ट भी हो जाएगा।

जैसे—इसी योग शास्त्र के अन्त में हेमचन्द्राचार्य योगी को विचलित करने वाले विषय का आस्वादन लेकर योग में स्थिर होने का जो निरूपण करते हैं, वह भी योगी के लिए ही आपवादिक है, सामान्य योगी के लिए नहीं। भोगी व्यक्ति तो ऐसे वचनों से भोग में और अधिक लिप्त हो जाएगा।

तात्पर्य यह है, कि सम्यग् दर्शन की विशुद्धि प्रथमतः हो जानी चाहिए। तदनुरूप कृत चारित्र साधना अर्थ क्रियाकारी-मोक्षदायक बन सकेगी। सभी साधनाओं का एका सम्यग् दर्शन ही है। दर्शन शून्य होने से अभव्य प्राणी चारित्र के प्रभाव से नवग्रैवेयक तक जाने के प्रश्नात भी अनन्त सञ्चार में भ्रमण करता है तथा श्रेणिक एव कृष्ण जैसे व्यक्ति चारित्र के अभाव में भी क्षायिक समकित के द्वारा मोक्ष के अधिकारी बनेंगे, यह भायिक सम्यग्-दर्शन की ही महिमा है।

भगवान महावीर को अंबड परिव्राजक ने कहा, “प्रभो ! मैं राजगृही जा रहा हूँ, कोई कार्य—सेवा हो तो बताइ। कृतार्थ महावीर को किसी से क्या काम हो सकता था। वे तो मोह रहित थे। हमारे जैसे साधुओं को तो आप लोगों से पंजाब या गुजरात आते जाते कई कार्य हो सकते हैं। परन्तु महावीर ने सुलसा को धर्म लाभ कहलाया। भगवान महावीर के धर्म लाभ का मूल्य श्रद्धा का मूल्य था। अंबड परिव्राजक श्रावक ने सुलसा सती की परीक्षा ली, परन्तु श्रद्धा का कोष श्रद्धा से रहित कैसे हो सकता है। सच्चो श्रद्धा भगवान को शीघ्र ही पहचान लेती है।

यदि ऐसा नहीं है तो उस श्रद्धा को श्रद्धा नहीं कहा जा सकता। भगवान महावीर ने धन्ना अणगार की भी। महारानी चेलना के सतीत्व की तथा राजा श्रेणिक को श्रद्धा की प्रशंसा की। पूणिया श्रावक की सामायिक की प्रशंसा की। समवसरण में श्रावक की प्रशंसा ? परन्तु स्वयं पर तेजोलेश्या का उपसर्ग आने पर सतत चिन्तित तथा रुदन करने वाले सेवा भावी सिंह मुनि की श्रद्धा की ओर इंगित किया था। गौतम की, महावीर के प्रति श्रद्धा, अलौकिक थी। आपाढ़ श्रावक की उस समय के आगामी २३वें तीर्थंकर भ०पाश्वनाथ के प्रति अगाध श्रद्धा ही थी, जो उन्होंने पाश्वनाथ समये अपना मोक्ष ज्ञात कर उनकी प्रतिमा बना कर उस का पूजन किया था। यह प्रतिमा आज भी पूजित हो रही है। चारित्र तो क्या ! ज्ञान भी अज्ञान हो जाता है, यदि सम्यग् दर्शन न हो।

मिथ्या शास्त्र भी सत् शास्त्र :- सत् शास्त्र अथवा सर्वज्ञ-प्रणीत आगम भी मिथ्या ज्ञान युक्त हो सकता है, यदि शैक्ष का दर्शन विशुद्ध न हो। लौकिक पर्व तथा लौकिक महाभारत आदि शास्त्र भी सम्यग् ज्ञान के प्रयोजन हो सकते हैं, यदि उन्हें पढ़ने वाला सम्यग्दृष्टि हो।

सूर्य राशि संक्रमण (संक्रान्ति) जैसा पर्व, जो लौकिक था, ब्राह्मणों की परम्पराओं के अनुसार मनाया जाता था। इस पर्व को समयज्ञ गुरु वल्लभ ने श्रद्धा का जामा पहना कर लोकोत्तर बना दिया तथा जैन समाज को चारित्रहीन ब्राह्मणों तथा असंयतों की पूजा से हटा कर गुरु भक्ति एवं प्रभु भक्ति का पर्यायवाची बना दिया। इस का श्रेय उन के सम्यग् दर्शन की विशुद्धि को ही प्रदान करना चाहिए। दीवाली जैसा लौकिक पर्व क्या जैन लोग लोकोत्तर ढंग में नहीं मनाते। तो संक्रान्ति जैसे लौकिक पर्व लोकोत्तर ढंग से मनाने का विरोध करना भी मिथ्यात्व का पोषण करना है। बिल्कुल उसी तरह जैसे दीवाली का विरोध करना।

११०]

सम्यग्दर्श : मोक्ष का प्रथम सोपान कोई शास्त्र या पर्व अलौकिक नहीं होता। महज दृष्टि के सद-असद् होने से ही वह अलौकिक या लौकिक बन जाता है।

ये आश्रवाः ते निर्जरा हेतवः ये अनाश्रवाः ते आश्रवाः। सम्यक् शास्त्राणि मिथ्या दृष्टेरपि मिथ्या भवन्ति, सम्यग्दृष्टेस्तु मिथ्या शास्त्राण्यपि सम्यञ्चि।

मैं तो लिखना चाहूंगा कि संक्रान्ति जैसे लौकिक पर्व को अलौकिक बना कर आचार्य वल्लभ ने समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया, हमें भी दशहरा, होली, लोहड़ी आदि पर्वों को अब लोकोत्तर पर्व का जामा पहनाने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा उसे देखने वाले, उसकी प्रशंसा करने वाले, क्या मिथ्यात्व के पोषक नहीं कहे जायेंगे ?

जहाँ सम्यग्दृष्टि है, मिथ्या में भी सत्य का अन्वेषण है, वहाँ पर चारित्र्य व ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। जहाँ सम्यग्दृष्टि नहीं, आग्रहपूर्ण ऐकांगिक बुद्धि है, वहाँ कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता।

ज्ञान का सार सम्यक्त्व : आचार्यों ने कहा, “नाणं नरस्स सारं, नाणंस्स वि सारं होई सम्मत्तं।”

मनुष्य का सार ज्ञान है तथा ज्ञान का सार सम्यक्त्व है।

बड़े-बड़े शास्त्र तो पढ़ लिए, परन्तु श्रद्धा की प्राप्ति न हो पाई, तो समस्त ज्ञान व्यर्थ है।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्याय में भगवान महावीर ने जो दुर्लभ चतुष्टय बताया, उस में भी श्रद्धा का स्थान तीसरा है।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणि हु जंतुणो।

माणुस्सुत्तं सुई सद्दा, संजममि अ वीरिजं ॥

प्रथमतः मनुष्यत्व प्राप्त हो, फिर धर्म का श्रवण हो, फिर उस पर श्रद्धा हो। संयम में पराक्रम का स्फुरण, तो पश्चाद्वर्ती तथ्य है। तत्त्वार्थकार श्री उमास्वाति जी ने 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं

सम्यग्दर्शन' कह कर भी धर्म के सिद्धांतों पर तथा सर्वज्ञोक्त तत्वों पर श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है।

श्रद्धा या तर्क : सर्वज्ञ के वचनों में सन्देह न हो, उस पर पूर्ण श्रद्धा हो जाना, पूर्ण विश्वास हो जाना अर्थात् उन्होंने जो कुछ कहा है व सत्य ही है तथा जो जैसा सत्य है, वैसा ही देख कर प्रभु ने कहा है। हमारे जैसे मंद बुद्धि उस गहन तत्व को न समझ पायें, तो उस में उस वाणी का क्या दोष है? यदि उल्लु दिन में नहीं देख पाता, तो इस में सूर्य का कोई दोष नहीं हो सकता। श्रेणिक सम्राट विरति धारी न था। मात्र क्षायिक सम्यक्त्व से ही उस ने अपने भव भ्रमण को सीमित कर लिया तथा तीर्थंकर गोत्र का उपाजन भी कर लिया। अर्गारमर्दकाचार्य अभव्य थे, उन्होंने शिष्यों को ज्ञान शक्ति से बोध दे कर सम्यक्त्वी बना कर दीक्षित किया, किन्तु यदि गर्दभ ५०० हाथियों का स्वामी बन जाए तो भी वह गर्दभ ही रहता है। भव्यों का प्रतिबोधक वह आचार्य, भव्य न बन सका। राजा ने रात्रि को स्पन्न देखा, कि एक गर्दभ के पीछे ५०० हाथी चले आ रहे हैं। जागृत होने पर राजा ने सोचा, कि यह कैसे सम्भव है, कि २०० हाथियों का नेता एक गधा हो। परन्तु प्रातः उस ने देखा कि ५०० हाथियों को साथ लेकर एक आचार्य नगर में प्रवेश कर रहा है? "राजा समझ गया कि मेरे स्पन्न का गधा यही होना चाहिए। इस आचार्य की गर्दभ वृत्ति को कैसे जाँचा जाए? राजा ने आचार्य की परीक्षा ली। उपाश्रय के प्रांगण में रात्रि के समय कंकर तथा कोयले के टुकड़े बिछा दिये। रात्रि में आचार्य लघुशंका के लिए उठे, तो अपने पदतल के नीचे कोयले की उपस्थिति से होती चरमर देख कर समझ बैठे, कि यहां किसी प्रकार के जीव उत्पन्न हो गये हैं। तुरन्त उन के मुँह से ये शब्द निकल पड़े—“अरे! ये जीवड़े चड़-चड़ क्या कर रहे हैं।” पार्श्ववर्ती कर्मचारियों ने राजा को सर्व वृत्तांत सुनाया। आचार्य के अभव्य स्व की परीक्षा हो चुकी थी।

तीर्थंकर के किसी भी सिद्धांत को उत्सूत्र प्ररूपणा सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट कर देती हैं, तो समस्त तत्त्व ज्ञान की अश्रद्धा मिथ्यात्व कैसे न होंगी ?

एक समय ७ या ६ निहन्व, तीर्थंकर की वाणी के एकमात्र अंश का अपलाप कर रहे थे, मर कर वे निहन्व कहलाए। यदि उत्सूत्र प्ररूपणा हो भी जाए, तो भी सद्यः प्रत्यावर्तन कर लेना चाहिए।

ज्ञान को श्रद्धा से तोलना चाहिए, तर्क आवश्यक है, परन्तु तर्क की सही परख किस को है ? तर्क करते-करते ताकिक जब कुतर्क कर जाते हैं, तो उन का सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास ही समाप्त हो जाता है।

वर्तमान युग तर्क का युग है। तर्क-कुतर्क से मानो हर व्यक्ति अपनी बात की सिद्धि करने बैठा है। क्या तर्क का कहीं अन्त है ? यदि तर्क से किसी बात को मानना है, तो अपनी मानी हुई बात के विरुद्ध तर्क की स्फुरणा न हो, परिणामतः आप सत्य को ही असत्य मान बैठे।

श्रद्धा का सम्बन्ध अन्ध विश्वास से भी नहीं है ? श्रद्धा का सम्बन्ध तर्क कुतर्क से भी नहीं है। श्रद्धा तो हृदय के विश्वास पर जीवित रहती है।

श्री सिद्धाणि गणि २१ बार जैन धर्म से बौद्ध धर्म में गये। जैन गुरु ने कहा था, वे कि यदि तुम बौद्ध धर्म पर श्रद्धा युक्त हो जाओ, तो मेरा वेष मुझे दे जाना। वह जब वेष वापिस लौटाने आया, तो जैन गुरु ने उसके बौद्ध तर्कों का समाधान किया। अब वह जैन धर्म में श्रद्धालु हो कर बौद्ध गुरु को बौद्ध वेष देने जाता है, वहां पुनः उनके तर्कों से उनके धर्म का श्रद्धालु बन जाता है। पुनः जैनगुरु का वेष लौटाने के लिए वापिस आती है। इस प्रकार २१ बार उसने यह नाटक किया, परन्तु अन्त में आचार्य हरिभद्र

के ग्रन्थ 'ललित विस्तरण' को देख कर उस का मन जैन धर्म पर दृढ़ श्रद्धालु बन गया। अन्ततः हृदय का विश्वास ही सफल हुआ।

शास्त्र यह नहीं कहते, कि तर्क मत करो। तर्क तो विद्या के आभूषण हैं—

Arguments are the ornaments of knowledge. तर्क तो आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी किया था। उन्होंने पहले स्वयं शंका प्रस्तुत की तथा बाद में स्वयं ही तर्क से समाधान प्रस्तुत किया। तर्क से पदार्थ की सिद्धि होती है। परन्तु यदि तर्क ही असीमित हो जाए, तो क्या होगा ?

एक ट्रेन ड्राइवर ने ट्रेन चलाते हुए मार्ग में एक भयंकर दुर्घटना देखी। दुर्घटना को देखते ही वह कांप उठा। उसे प्रतीत हुआ, कि मानो उस की मृत्यु भी दुर्घटना में कभी भी हो सकती है। बस फिर क्या था। वह एक ज्योतिषी के पास पहुंचा। तथा उस से भविष्य बताने की प्रार्थना की। ज्योतिषी ने कहा, तुम्हारी मृत्यु के बहुत अवसर तो नहीं, परन्तु फिर भी सोच समझ कर ही ट्रेन चलाया करो। शनि का प्रबल योग कहीं दुर्घटना न करा दे।

यह उत्तर उस के लिए संतोषजनक न था। उस के पश्चात् वह एक मनोवैज्ञानिक के पास पहुंचा। मनोवैज्ञानिक ने बताया कि मौत के भय से मन अनेक आशंकाओं से भर जाता है। अतः मौत के भय से क्या मौत टल जाएगी ? अपने मन को स्वस्थ करो। परन्तु यह उत्तर भी उसके मन को संतुष्ट न कर सका।

अब वह ड्राइवर एक दार्शनिक के पास पहुंच गया। दार्शनिक ने अपनी दार्शनिक रीति से ही उस के प्रश्न का उत्तर दिया, "देखो ड्राइवर महोदय ! तुम ट्रेन चलाओगे, तो दो संभावनाएं तुम्हारे सम्मुख हो सकती हैं। या तुम गाड़ी तेज चलाओगे या

धीरे से । यदि धीरे से चलाओगे तो दुर्घटना की भी संभावना नहीं तथा अपनी मन्जिल पर पहुंचने की भी संभावना नहीं । यदि तेज चलाओगे तो दो संभावनाएं हो सकती हैं या तो दुर्घटना होगी या नहीं होगी । यदि दुर्घटना न हुई, तो कोई बात नहीं । परन्तु यदि दुर्घटना हुई तो दो संभावनाएं हो सकती हैं या तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी या अंगभंग हो जाएगा । यदि मृत्यु हो गई तो कोई बात नहीं, क्योंकि प्रत्येक मानव को जीवन में एक ही बार मरना है । परन्तु यदि अंगभंग हो गया, तो दो संभावनाएं हो सकती हैं या तो तुम्हारा अंग सर्जरी आदि से जोड़ दिया जाएगा या नहीं जोड़ा जाएगा । यदि नहीं जोड़ा गया, तो कोई बात नहीं क्योंकि घर में तुम आजीवन आराम करोगे । यदि अंग जुड़ गया तो दो संभावनाएं हो सकती हैं—या तुम ट्रेन चलाओगे या नहीं चलाओगे । यदि ट्रेन चलाओगे तो २ संभावनाएं हो सकती हैं या 'स्पीड' से चलाओगे या 'स्लो' । स्पीड से चलाओगे तो फिर दो संभावनाएं होंगी या तो दुर्घटना होगी या.....

पाठको ! क्या ड्राइवर ऐसे तर्कों से अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर सकेगा ? हरगिज नहीं ।

ऐसे तर्कों से व्यक्ति सुलझता नहीं, उलझता चला जाता है । कई बार कुतर्क का उत्तर कुतर्क से ही देता पड़ता है । तभी कुतर्कवादी शांत होता है ।

एक इंस्पेक्टर था । वह बहुत ही बददिमाग था । जिस किसी स्कूल में जाता, वहां उल्टे सीधे प्रश्न करके विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को परेशान किया करता ।

एक बार वह एक स्कूल में पहुंचा । वह एक कक्षा में जाकर बोला, "देखो बच्चो ! मैं तुम्हें एक प्रश्न पूछता हूं । तू ने मेरे प्रश्न का सही उत्तर दे दिया, तो मैं तुम को ईनाम दूंगा, नहीं तो कम्पलेंट बुक में तुम्हारी शिकायत लिख दूंगा । कम्पलेंट

(शिकायत) का नाम सुन कर बच्चे घबराए। इंस्पेक्टर बोला, "एक जहाज बम्बई से उड़ा। उस को दिल्ली जाना है। बम्बई से दिल्ली १४०० किलो मीटर है। जहाज की स्पीड १००० किलो-मीटर प्रति घंटा है, तो बताओ मेरी उम्र क्या हुई?"

बच्चे तो क्या? मास्टर भी इस प्रश्न को सुन कर कांप उठा। यह इंस्पेक्टर अपने बुद्धि शौर्य से हमें बदनाम करके रहेगा। जब प्रश्न ही ठीक नहीं, तो उत्तर कैसे ठीक हो सकता है? यदि इंस्पेक्टर को कुछ कहा तो वह और भी चिढ़ जाएगा। उन में इंस्पेक्टर को कुछ कहने की नैतिक हिम्मत ही न थी।

सभी विद्यार्थी मानो शोक मग्न होकर चुपचाप बैठे थे। घोर निराशा क्लास में छाई हुई थी। तभी उस चुप्पी को तोड़ते हुए एक विद्यार्थी बोल उठा—

"इंस्पेक्टर साहब! मैं आप के प्रश्न का उत्तर दे सकता हूँ।" सभी चौंक उठे, कि गलत प्रश्न का गलत उत्तर दे कर यह विद्यार्थी इंस्पेक्टर का रोष मोल न ले। आखिर उस जहाज की गति का इंस्पेक्टर की उम्र के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता था?

बच्चा निर्भीक हो कर बोला, "इंस्पेक्टर साहब! मेरा बड़ा भाई आधा पागल है, वह २० वर्ष का है, इस का सीधा-सीधा अर्थ यह हुआ, कि आप की उम्र ४० वर्ष है।

और वास्तव में अपने प्रश्न का सही उत्तर पाने के बाद इंस्पेक्टर चमत्कृत हुआ। तथा बोल उठा "वाह बच्चे! तुम ने बिल्कुल सही उत्तर दिया। मेरी उम्र ४० वर्ष की ही है।" सारी क्लास की सांस में सांस आ गई।

पाठको! कुतर्क का उत्तर और क्या हो सकता था। तर्क सर्वत्र सफल नहीं होता, अतः भगवान् की वाणी पर प्रमुख रूप से श्रद्धा होनी चाहिए। उस श्रद्धा की दृढ़ता के लिए तर्क होना आवश्यक है।

शैवकुल में उत्पन्न कुमारपाल सम्राट को जैन धर्म का उपासक बनता हुआ देख कर ब्राह्मण लोग व्याकुल हो गए। उन्होंने एक वैदिक साधु को जा कर समस्त वृत्तांत सुनाया। उस साधु ने कुमारपाल को इन्द्रजाल दिखाया, कि कुमारपाल के माता-पिता नरक में बैठे हुए कुमारपाल से कह रहे हैं। जब से तूने जैन धर्म को स्वीकार किया है, तब से हम नरक का दुःख भोग रहे हैं। अतः तू जैन धर्म को छोड़ दे।”

कुमारपाल सन्दिग्ध मन वाला होकर जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि जी के पास आया तथा उस दृश्य के विषय में बताया। हेमचन्द्राचार्य ने सिद्धि के बल पर कुमारपाल को यह दृश्य बताया, कि कुमारपाल के माता पिता स्वर्ग में बैठे यह कह रहे हैं कि “हे कुमारपाल ! तू जब से जैन धर्मी बना है, तब से हम स्वर्ग में बहुत सुखी हैं, अतः जैन धर्म को कभी मत छोड़ना।

सम्राट ने यह सब देख कर गुरुदेव से पूछा, कि गुरुदेव ये दोनों दृश्य तो सत्य नहीं हो सकते। वास्तविकता क्या है ? कृपया बताइए।

गुरुदेव ने कहा, “कुमारपाल ! वह नरक वाला दृश्य भी इन्द्र जाल था तथा यह दृश्य भी इन्द्र जाल ही है। तेरे माता पिता ने जैसा कर्म किया है, वे वैसी गति में चले गए होंगे। इस में तुझे कुछ भी सोचना नहीं चाहिए।”

यहां भी कुमारपाल ने गुरुदेव के वाक्य को श्रद्धा से स्वीकार किया। यदि गुरु के वचन में श्रद्धा न हो, तो वहां व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसे रह सकता है।

“तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शन” अर्थात् तत्वों के अर्थ की श्रद्धा सम्यग् दर्शन है। यह व्यावहारिक सम्यग्दर्शन अवश्य ही मानव के आंतरिक सम्यक्त्व का द्योतक है, परन्तु निश्चय सम्यग् दर्शन तो

परम्परया नहीं, सीधे मोक्ष प्राप्त करता है। निश्चय सम्यग् दर्शन में आत्मा ही देव, आत्मा ही गुरु तथा आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही धर्म माना जाता है। व्यवहार सम्यक्त्वी को आभ्यन्तर सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। यह शुद्ध निश्चय सम्यग् दर्शन वस्तुतः मान्यता का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है।

प्राचीन जैनाचार्यों का कथन है, कि व्यवहार को छोड़ने से शासन का नाश होता है, जब कि निश्चय को छोड़ देने से तत्व का ही नाश हो जाता है।

शुद्ध व्यवहार सम्यक्त्वी, निश्चय सम्यक्त्वी भी हो सकता है। सम्यक्त्व के महान् वरदान को पा कर अनादि मिथ्या दृष्टि भी महादेवी के समान एक अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

इस प्रकार योग के द्वितीय भेद के रूप में सम्यग् दर्शन का निरूपण करने के पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् योग के तृतीय भेद के रूप में सम्यक चारित्र्य का निरूपण करते हैं—

सम्यक्त्व के पांच दूषण

शंका : धर्म तथा तत्वों में शंका। शंका होने पर समाधान के लिए प्रयत्न न करना। प्रयत्न न करने पर भी समाधान न मिले, तो मन में सन्देह रखना।

कांक्षा : मंत्र तंत्रादि को देख कर अन्य धर्मों की अभिलाषा करना।

विधिकित्सा : धर्म सम्बन्धी फल में सन्देह करना।

मिथ्यास्वी प्रशंसा : अन्य धर्मियों की प्रशंसा से अन्व श्रद्धा वाला प्राणी श्रद्धा भ्रष्ट हो कर अन्य धर्म को स्वीकार कर सकता है, अतः अन्य दर्शनों के

सम्यग्दर्शन : मोक्ष का प्रथम सोपान
गुणों को, खुले में नहीं कहने योग्य व्यक्ति
को ही कहना चाहिए ।

मिथ्यात्वी संसर्ग : सामान्य श्रद्धालुओं के लिए मिथ्यात्वी-अन्य,
धर्मों का सम्पर्क निषिद्ध है, जिससे वे कुतकों
से धर्म से विचलित न हो जाएं। छोटे वृक्षों के
लिए बाड़ होती है, बड़े वृक्षों के लिए नहीं।
अतः यह निषेध विद्वानों के लिए नहीं।

जब प्रत्येक क्रिया का फल होता है तो पारमार्थिक क्रियाओं
का फल क्यों न होगा ? इह लोके में भी धर्म का फल कषाय-
हीनता, त्रिषयोपशांति, शम, आनन्द, सुख मिलता है तो परभव
में क्यों न मिलेगा ? जिस वृक्ष के पत्ते आदि हैं, उस के फल का
भी अनुमान होता है।

सम्यक्त्व के ५ भूषण

१. स्थिरता : स्वयं को तथा दूसरों को भी अन्य धर्मों के
आडंबर-चमत्कार से दूर रख के स्थिर
करना।
२. प्रभावना : धर्म की शोभा में अभिवृद्धि।
३. भक्ति : गृणवान् की विनय तथा उस की सेवा।
४. जिन शासन कुशलता : जैन धर्म के तत्व ज्ञान में दक्षता।
५. तीर्थ सेवा : सिद्धाचल आदि तीर्थों की यात्रा तथा जंगम
(साधु आदि) तीर्थों की सेवा।

सच्चा सम्यक्त्वी मात्र श्रद्धालु ही नहीं होता, वह चारित्र
की प्राप्ति का प्रयास भी अवश्य करता है। चतुर्थ-गुण स्थानवर्ती
सम्यक्त्वी श्रावक भी संयम आदि के लिये तत्पर रहता है तथा
द्विरति का पालन करने वाले की अनुमोदना करता है। इसी दशा
में वर्तमान वह कभी न कभी चारित्र को आंतरिक रूप में पा ही
लेता है।



सम्यक् चारित्र

योग शास्त्र के प्रणेता आचार्य हेमचन्द्र सम्यक् चारित्र का गुणगान करते हुए कहते हैं—

सर्व सादृष्ट योगानां, त्यागश्चारित्र मिष्यते ।
कीर्तितं मदाहिसादि द्रत भेदेन पंचघष ॥

अर्थ :—सभी पाप वृत्तियों का त्याग ही चारित्र है । यह चारित्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तप, अपरिग्रह इस प्रकार पांच भेदों वाला है ।

विवेचन :—ज्ञान से वस्तु तत्व को ज्ञात किया । दर्शन से उस वस्तु तत्व का निश्चय हुआ । उस के पश्चात् चारित्र के द्वारा आत्मा को आचरण में लगाने का प्रयत्न किया । इन तीनों योग साधनों का क्रम है । सर्वप्रथम मार्ग का ज्ञान आवश्यक है तदोपरान्त उस मार्ग के सही या गलत होने का निर्णय (निश्चय) होना आवश्यक है । उस के पश्चात् उस मार्ग पर चलने वाला अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

भोजन के मात्र ज्ञान से तृप्ति संभव नहीं । भोजन को जब उदरसात् करने की क्रिया की जाती है, तभी तृप्ति होती है । इस एलोक में चारित्र को सर्व विरति के रूप में ही स्वीकार किया गया है । इस योग शास्त्र में श्रावक के १२ द्रतों का देश विरति धर्म का निरूपण आगे वर्णित है । वह देश (अंश) से होने के कारण

उस की यहाँ पर गणना नहीं की गई है।

संसार में मानव बहुत पाप करता है। उन पापों से जब मानव विरत हो जाता है तथा उनका प्रत्याख्यान कर लेता है, मन में पाप मुक्त बनने का दृढ़ संकल्प कर लेता है तो कभी ऐसा समय अवश्य आता है, कि वह पाप से मुक्त हो जाता है। पाप मानव के जीवन का अंग बन चुका है। भगवान् महावीर ने कहा है, कि यदि किसी व्यक्ति को उदर पूर्ति के लिए भोजन नहीं मिलपाता है, तो उसका अनायास ही उपवास हो जाता है, तो उसे उपवास का फल नहीं मिलेगा। उपवास का फल उसी दशा में मिलेगा, कि जब वह इच्छा से खाने पीने का त्याग करे। यदि कोई व्यक्ति धनहीन है। अतः उससे पैसे का सुख उपलब्ध ही नहीं, तो उस दरिद्री को त्यागी नहीं कहा जा सकता। त्याग से तात्पर्य है, स्वेच्छा से भौतिक पदार्थों का त्याग। किसी वस्तु के होते हुए भी उसके सेवन का त्याग। जब ऐसी भावना से प्रत्याख्यान किया जाता है, तब चारित्र की प्राप्ति होती है। यथा —

जेअ कंते पिए भौए, ल द्वे वि पिट्ठी कुव्वइ ।

साहीणे चयई भौए, से हंचाई त्ति बुच्चई ॥

देशविरति श्रावक का पंचम अविरत गुण स्थान एवं सर्व विरति साधु का षष्ठ गुणस्थान होता है। कुछ अविरति श्रावक चतुर्थ गुणस्थान धारी होते हैं। देवता या शासनदेव यदि सम्यग्-दृष्टि वाले हों तो उनका गुण स्थान भी चतुर्थ होता है। अतएव सम्यक्तवी देवता श्रावक का भाई बन जाता है।

चारित्र की प्राप्ति से मुक्ति निश्चित हो सकती है। भगवान् महावीर के अनुसार चारित्र मोक्ष का राज मार्ग है। मोक्ष का सही मार्ग तो चारित्र का मार्ग है। कोई व्यक्ति फूलों से भरे मुख्य राज मार्ग (मुख्य सड़क) को छोड़ कर कांटों का मार्ग अपना कर अपने लक्ष्य (नगर) तक पहुंच जाता है—वह अपवाद मार्ग ही

है। ऐसा प्रायः नहीं होता। 'हाई वे' वो ही हो सकता है, जिस पर चल कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी मंजिल को पा लेता है। सर्व-विरति चारित्र्य एक ऐसा ही 'हाई वे' है, जिस पर चल कर कोई भी साधक मोक्ष के लक्ष्य को पा सकता है। शास्त्रों में उपलब्ध मरुदेवी माता तथा भरत चक्रवर्ती, कूर्मापुत्र, इलाची कुमार, आषाढाभूति की मोक्ष प्राप्ति के दृष्टान्त मात्र आपवादिक हैं।

सर्वप्रथम देश विरति चारित्र्य अंगीकार किया जाता है। उस देश-विरति चारित्र्य में कोई अतिचार न लगे, इस का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि १२ व्रतों में लगने वाले अतिचारों से व्रत दुर्बल हो जाता है। यदि व्रत में दोष नहीं लगता, तो वह चारित्र्य तथा व्रत-प्रत्याख्यान आगामी भवों में भी चारित्र्य का कारण होगा।

श्रावक या साधु बन कर उस चारित्र्य का भली भांति पालन न किया, उस की विराधना तथा आशातना की, तो अगले भवों में चारित्र्य उपलब्ध न हो पाएगा।

चारित्र्य धर्म की प्राप्ति जन्म-जन्मांतर के अनन्त पुण्योदय से होती है। जब जीव का पुण्य कर्म संचित हो जाता है तब क्रमशः आर्य देश, उत्तम कुल, उत्तम जाति, जैन धर्म, गुरुओं की संगति, चारित्र्यादि प्राप्त होते हैं।

सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान की तरह सम्यक् चारित्र्य भी मोक्ष का कारण होता है। वर्तमान में समाज एवं श्रमण संघ में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है, कि मन में चारित्र्य के प्रति जितनी रुचि है, उस से अधिक कपट क्रियाएं की जाती हैं। बाह्यतः शुद्ध चारित्र्य का प्रदर्शन किया जाता है तथा अंतर्मन से वह कुछ अंश तक ही सीमित होता है। आडंबर अधिक होता है, चारित्र्य की वैसी भावना नहीं होती है। नियम-प्रत्याख्यान के साथ-साथ कपट विद्या भी चलती रहती है। भगवान् महावीर का कथन है, कि

जहां कपट है, वास्तविकता को छुपाने की तथा अवास्तविकता को प्रकट करने की भावना है, वहां धर्म का वास नहीं होता। जहां सरलता होती है, वहीं पर धर्म का वास होता है। व्रत या चारित्र के अंगीकार के पश्चात् निष्कलंक पालन अत्यावश्यक है। ज्ञानी पुरुष जन, मन रंजन आडंबर पूर्ण चारित्र को चारित्र के नाम से अभिहित नहीं करते तथा न ही उसे मोक्ष का कारण मानते हैं। स्वयं को अन्यो से उत्कृष्ट तथा चारित्र पात्र बताने का प्रयास करना भी आडंबर से कुछ अधिक नहीं है। वर्तमान में श्रमण समाज में अनेक शिथिलताएं आ चुकी हैं। चारित्र की जो साधना हमें करनी चाहिए, हम नहीं कर पा रहे। कुछ विवशता है, कुछ युग का प्रभाव है तथा कुछ गृहस्थों के दूषित अन्न का प्रताप है। भगवान् गौतम के अप्रमादी चारित्र की तुलना में हमारा चारित्र कुछ प्रतिशत ही होगा। परन्तु ये शिथिलताएं चारित्र में मन को न लगाने से श्रमण संघ में प्रविष्ट हुईं। व्रत, नियम, पचचखाण को मन से लेना चाहिए। व्रत मन के गहन तल से उत्पन्न होना चाहिए। जबरदस्ती तथा आडंबर से व्रत नहीं लेना चाहिए।

वर्तमान में १२ व्रतों को स्वीकार करना तो दूर, श्रावक के १२ व्रतों का नाम भी किस को आता है? बहुधा व्याख्यान में मैं श्रावक के प्रथम व्रत का नाम पूछ लेता हूं, तो वही चिर-परिचित उत्तर श्रुति-गोचर होता है—'प्राणातिपात विरमण व्रत, वे बेचारे शायद जल्दी बताने के चक्कर में आगे 'स्थूल' शब्द लगाना ही विस्मृत कर देते हैं।

साधुओं के तथाकथित शिथिलाचार में भी गृहस्थों का अन्यायोपार्जित धन (Black Money) ही कारण है। आप का जैसा धन, वैसा ही अन्न। जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन। साधुओं के पतन का मुख्य कारण भी गृहस्थों का दूषित अन्न ही है।

जब व्रत नियम में मन ओत प्रोत हो जाएगा, तभी चारित्र्य से मुक्ति की संभावना हो सकती है।

आज का मानव, चारित्र्य से अधिक, ज्ञानवादी बनता जा रहा है। एक तरफ हमारी क्रियाएं गुरु पूजा, देव पूजा, सामायिक प्रतिक्रमण, माला, जाप, प्रार्थना है तथा एक तरफ ज्ञान की उपासना है। परन्तु ज्ञान तथा चारित्र्य का एकीकरण नहीं हो पाता है।

चारित्र्य की आवश्यकता :—ज्ञान परम आवश्यक है, परन्तु मात्र मार्ग के ज्ञान से व्यक्ति लक्ष्य तक न पहुंच पाएगा। स्वयं चलना तो पड़ेगा ही। ज्ञान प्राप्त करने वाले, बातें करके लोगों को ठगते हैं, परन्तु चारित्र्यवान् व्यक्ति ऐसा कभी न करेगा। मन भर बातों से कण भर आचरण श्रेष्ठ है।

एक श्रेष्ठ वक्ता एक 'अहिंसा सम्मेलन' का मुख्य अतिथि बनाया गया। उस ने अपने अतिथि भाषण में 'अहिंसा' विषय पर बहुत अच्छा भाषण दिया, परन्तु ग्रीष्म ऋतु के कारण शरीर में से निःसृत प्रस्वेद को पौछने के लिए जब उस ने जेब में से रुमाल निकाला, तो साथ में अंडा भी जेब में से निकल कर स्टेज पर गिर गया। लिखने की आवश्यकता नहीं, कि उस का कितना उपहास हुआ होगा।

ऐसे भी असोम ज्ञानी व्यक्ति इस विश्व में हैं, जो रात्रि का चउविहार या प्रातः की नवकारसी या छोटा सा त्याग नहीं कर सकते। परिणामतः उन का जीवन आदर्श नहीं कहा जा सकता। "ज्ञानस्य फलं विरतिः" ज्ञान का फल विरति (पापों का त्याग-आचरण) ही है।

एक लेखक ने एक पुस्तक लिखी। पुस्तक का नाम बहुत मजेदार था, 'पैसे कमाने के १००० उपाय।' संभवतः आप सब को भी इस की एक प्रति चाहिए। यह पुस्तक उस लेखक ने अपने अनुभव तथा विशाल अध्ययन से लिखी थी। उस लेखक को पैसे

कमाने का कितना ज्ञान होगा ? आप को एक उपाय का ज्ञान है और आप मात्र उसी से लखपति बन जाते हैं, तो जिसको १००० उपायों का ज्ञान हो, वह कितना धनपति होना चाहिए। अब वह लेखक पहुंचा प्रकाशक के पास तथा वहां जा कर बोला, “महाशय ! यह पुस्तक छपवाना चाहता हूँ, प्रकाशक ने पुस्तक की रूपरेखा देखी और पाया कि वस्तुतः पुस्तक बहुत मल्यवान् है। इस के मुद्रित होने की देर है, धन की वर्षा ही होगी। एक वर्ष में ही २-४ संस्करण मुद्रित हो जाएंगे। प्रकाशक बोला, “आप को इस पुस्तक के लिए कितना धन चाहिए ?” “मुझे आप कुछ भी दे देना, परन्तु इस समय तो समस्या कुछ और है।” लेखक ने ठंडे दिल से उत्तर दिया। “क्यों ?” पूछने पर वह बोला कि, “मेरी पुस्तक लगभग पूर्ण हो चुकी है। अब मात्र २-४ पृष्ठ ही लिखने शेष हैं तथा मेरे पैन की निब टूट चुकी है। स्याही तथा कागज की भी आवश्यकता है। इस के लिए मात्र २ रुपये की आवश्यकता है, शीघ्र दे दीजिए ! जिस से कि मैं पुस्तक आप को पूर्ण करके दे सकूँ। प्रकाशक आश्चर्य चकित था, “वह बोला ! वाह ! १००० उपायों को जानते हो तथा मेरे से २ रुपये की याचना कर रहे हो। तुम ने नकल लगा कर तो पुस्तक नहीं लिखी ?” “बिल्कुल नहीं साहिब” मैं तो पुस्तक लिखने वाला हूँ, उपाय आजमाने का काम आप लोगों का। फिर भी मैं पैसे कमाने का अन्तिम उपाय आजमा रहा हूँ।” प्रकाशक ने पुस्तक का अन्तिम पृष्ठ देखा, तो उस में लिखा था, कि जब-जब किसी भी प्रकार से पैसा न मिले, सभी उपाय फेल हो जाएं, तो यह अन्तिम उपाय करना चाहिए, कि भीख माँग लेनी चाहिए। लेखक बोला, “साहिब ! जल्दी में वैसे भी यही एकमात्र उपाय आजमाया जा सकता है।”

हमारे भारत में ऐसे-ऐसे भिखारी हैं जिन के पास दो-तीन

लाख रुपये हैं। मांग-मांग कर २-२ पैसे जोड़ कर ये लोग धन एकत्रित करते हैं, पता तब चलता है, जब ये लोग मर जाते हैं।

आज का मानव बातों के महल बनाना चाहता है। एक कवि ने कहा था।

उठ जाग ! तू क्यों अब डरता है।

फिर देख प्रभु क्या करता है॥

यदि तुझे भाग्य तथा भगवान् पर विश्वास है, तो उठ कर पुरुषार्थ तो कर। फिर देख ! भगवान् तुझे क्या कुछ नहीं देता।

मानो, कि आपको कहीं से ज्ञान हो गया, कि गुड़ का स्वाद मीठा होता है। आपने कभी उसका स्वाद नहीं चखा, तो क्या गुड़ के ज्ञान मात्र से ही गुड़ का स्वाद जान लगे ? मीठा कैसा होता है, इस के लिए आप को गुड़ चखना ही पड़ेगा।

पाठक समझ गए होंगे, कि जीवन में आचरण का स्थान कितना ऊंचा है। आचरण का ही दूसरा नाम चारित्र्य है। यदि शास्त्रों को एक तरफ भी रख दें, तो जीवन की स्वच्छता को भी चारित्र्य का ही नाम देना चाहिए। मानव यदि व्रत, नियम, प्रात्याख्यान या देश विरति का आराधक भी हो, तो भी बाह्य जीवन में आंशिक १८ पाप स्थानों से निवृत्ति रूप गुण नीति, सत्याचरण, सरलता, मृदुता, दान, मिलनसारिता, समन्वय, अनरूपा, अधृणा, सद्भाव, सन्मान, वात्सल्य, दया, सदाचार, नम्रता, शांति, सन्तोष, अमोह, प्रशंसा, गुण, वर्णन, अहर्षशोक, तटस्थता, निष्कपट, व्यवहार, सत्यगवेषणा, आदि कि क्रमांक १८ पाप स्थानों के क्रम से दिए हैं। जो कि किसी न किसी रूप में १२ व्रतों में भी सम्मिलिए किए जा सकते हैं—भी चारित्र्य ही अंग परिगणित करने चाहिए। यदि ऐसा बाह्य चारित्र्य मानव के अन्तरंग में समाविष्ट हो जाए, तो देश विरति का ग्रहण तथा पालन सरल हो जाए। जैन साधु तथा श्रावकों के अतिरिक्त

जो लोग सिद्धि के मार्ग पर अग्रसर हैं, उन में हमारे अनुरूप व्रत नियम, पञ्चखाण न भी हों, तो भी वे १४ अन्य द्वारों से उपर्युक्त उपायों के द्वारा मोक्ष को पा लेते हैं। तात्पर्य यह है, कि सच्चा चारित्र नियम या प्रदर्शन की वस्तु नहीं, वह अन्तरंग में अवश्य होना चाहिए।

“आचारः प्रथमो धर्मः” आचार ही प्रथम धर्म है। यहां भी आचार का अर्थ है—बाह्य आचार तथा अन्तरंगशुद्धावस्था। धन तथा स्वास्थ्य के पीछे दौड़ने वाले चारित्र की कितना उपेक्षा करते हैं। यह बहुत शोचनीय प्रश्न है।

एक सूक्ति है—

Wealth is lost, nothing is lost,
Health is lost, Something is lost,
The character is lost, every thing is lost.

धन की हानि हो जाए, तो समझो कि कुछ नहीं गया, क्यों कि वह पुनः प्राप्त हो सकता है। स्वास्थ्य की हानि हो जाए, तो समझो कि कुछ गया, क्योंकि स्वास्थ्य पुनः मिलना कठिन होता है। यदि चारित्र चला गया, तो समझो, कि सर्वस्व लुट गया। शेष कुछ भी नहीं बच पाया है। एक ही दाग—एक ही असद् आचरण जीवन को बर्बाद कर देगा। एक गीत के शब्द हैं—इक छोटी सी भूल ने सारा गुलशन जला दिया। शायर के शब्दों में—

हर शाख पे उल्लू बंठा है, अंजाम गुलिस्तां क्या होगा।

बरबाद गुलिस्तां करने को, बस एक ही उल्लू काफी है ॥

जीवन में एक ही असद् आचरण जीवन को समाप्त करने के लिए पर्याप्त होता है। एकधा विषपान क्या मृत्यु के लिए पर्याप्त नहीं? एक ही कंकर बर्तन को तोड़ने के लिए बहुत है। जहां दुर्गुणों तथा असद् आचरण का भंडार हो, वहां बर्बादी की कोई कसर क्या शेष रह सकती है? दुर्गुणों पापों तथा असद्

आचरण से परिवृत व्यक्ति को भारे कर्मों या अनंतानुबंधी कषायों के रूप में भी जाना जा सकता है। जिस का जीवन उपर्युक्त गुणों की ओर जितना अग्रसर है, उतना वह लघुकर्मों या अल्प-कषायी कहा जा सकता है। यह भी चरित्र का ही एक अन्तरंग रूप है। व्रत नियम आदि से ही पंचमादि गुण स्थानों का अनुमान एक अनुमान मात्र है। वास्तविक रूप से अन्तरंग चारित्र अति आवश्यक है। जिसे निश्चय चारित्र कहा जा सकता है।

निश्चय चारित्रः—यहां जीवन शुद्धि को भी चारित्र के नाम से अभिहित करने से पाठक चौंक उठें होंगे। उन को इतना कहना ही पर्याप्त होगा, कि यदि नियम व्रत आदि ही चारित्र के प्रयोजक हों, तो मक्खी के पंख को भी न डुबाने वाला (अभव्या) यति, २१वें देवलोक से आगे न जा कर, पुनः संसार परिभ्रमण के अन्त जाल में क्यों उलझ जाता है? वस्तुतः वहां अन्तरंग संयम या कषायदि की उपशांतता नहीं होती। आचार्य हरिभद्र की नैश्चयिक मान्यता में जैन धर्म का सार छिपा है। “कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव”—कषाय मुक्ति ही सच्चा चारित्र है। इस की प्राप्त के लिए ही द्रव्य चारित्र, देश विरति तथा सर्व विरति का विधान है। क्योंकि द्रव्य, भाव की वृद्धि के लिए ही होता है।

निष्कर्ष यह है, कि देवगुरु धर्म की श्रद्धा, व्यवहार सम्यक्त्व है, तो सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा तथा “आत्मा आदि षट्क की श्रद्धा, नैश्चयिक सम्यक्त्व हैं। सर्वज्ञोक्त वाणी का स्वाध्याय तथा श्रवण व्यवहार सम्यक्ज्ञान है तो सम्यक्दृष्टि तथा अनेकांत दृष्टि एवं समन्वय से पूत कोई भी ज्ञान या आत्मज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। विरति यदि व्यवहार चारित्र है, तो कषाय मुक्ति आभ्यंतर (नैश्चयिक) चारित्र है। साधक को व्यवहार की साधना करते हुए आभ्यंतर तथा निश्चय की प्राप्त के लिए प्रयत्न शील बनना चाहिए।

भारतीयों का आदर्श जीवन न बचा, नैतिक पतन हुआ तो भारत गुलामी की श्रृंखलाओं में जकड़ दिया गया, नहीं तो अंग्रेजों की कोई शक्ति न थी। पतित व्यक्ति स्वयं गुलाम बनने को सुसज्जित हो जाता है। अतः चारित्र की रक्षा करनी ही होगी। नैतिक पतन से भावी प्रजा को सुरक्षित रखना ही होगा। यदि हमारी नैतिक शक्ति जीवित रही तो मानव जाति जीवित रह सकेगी, अन्यथा नैतिकता का प्रलय, मानव जाति का प्रलय होगा।

जंबू कुमार का दृष्टांतः—जंबू स्वामी के पास ८ सुन्दर पत्नियां तथा १६ करोड़ मुद्राएं थीं। विवाह की प्रथम रात्रि में ही वह उन का त्याग करके तथा ८ पत्नियों को संसार के विषयों की तुच्छता का दर्शन करा के ५२७ व्यक्तियों सहित दीक्षा अंगीकार करता है। श्री जंबू स्वामी का वैराग्य कैसा होगा। उनका सुझबूझ से अंगीकृत चारित्र भी कैसा अनुपम होगा। जम्बू का नाम लेते ही उन के प्रति सन्मान का भाव आविर्भूत होता है तथा मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है।

वे पत्नियों को समझाते हैं, कि सांसारिक वासनाओं में सुख नहीं है। सच्चा सुख तो, युग्म में नहीं, एक में है। एकाकी रह कर संयत रहना, चारित्र को धारण करना ही सच्चा सुख प्राप्त करने का सम्यक् मार्ग है। जम्बू स्वामी की पत्नियां भी निकट भवी थीं, कि जिन्होंने उन की बात को स्वीकार कर लिया। अन्यथा आज की पत्नियां क्या ऐसे मान सकती हैं? वर्तमान पत्नियों से ऐसी कोई संभावना नहीं।

यदि पति दान की बात करे, तो पत्नी बीच में अवरोध खड़ा करेगी तथा यदि पत्नी कहे कि मुझे तपस्या या व्रत ग्रहण करना है तो पति महोदय शीघ्रता से स्वीकृति प्रदान न करेंगे। कैसा सामञ्जस्य आज के युग में है। पुराकालीन युग में परस्पर

समझ के आधार पर जीवन का निर्वाह होता था। अतः एव पति-पत्नी का अनुपम प्रेम, मात्र भौतिकता तक ही सीमित नहीं होता था। आध्यात्मिकता की और प्रस्थान करने की एक की इच्छा को अन्य की स्वीकृति मिल ही जाती थी। हमारे स्वर्णिम इतिहास में जम्बू ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति नहीं है। विजय सेठ एवं विजया सेठानी, जिनदास सेठ एवं जिनदासी श्राविका, वस्तु पाल एवं अनुपम देवी, बज्रबाहु एवं मनोरमा, युगबाहु एवं मदन रेखा, ऐसे सैकड़ों दृष्टांत अन्विष्ट किए जा सकते हैं।

बज्रबाहु का दृष्टांत :— पुरातनकाल में पति तथा पत्नी दोनों संसार को त्याग कर चले जाते थे। बज्रबाहु तथा मनोरमा ? इन का दृष्टांत अत्यधिक रोमांचकारी है।

युवराज बज्रबाहु मनोरमा के साथ विवाह करके रथ में बैठ कर अपने राज्य की ओर चले जा रहे थे। साथ में मनोरमा का भाई उदय सुन्दर भी था। मार्ग में साला तथा बहनोई का जगद् विख्यात उपहास रंग लाया। रथ में आगे की सीट पर विवाहित युग्म बैठा था। पृष्ठवर्ती भाग में उपविष्ट था-उदय सुन्दर, जो प्रिय भगिनी को विदाई देने जा रहा था। साथ में उस के २५ मित्र भी थे। मार्ग में बज्रबाहु ने एक पर्वत पर एक मुनिराज को ध्यानस्थ खड़े देखा। उन्होंने विचार किया, कि साधु मुनिराज के दर्शन करने चाहिए। कैसी उत्कट धर्म भावना। नई नवेली दुल्हन हो, उस ने नई-नई लाल चूड़ियां तथा कंकण परिहित किया हो, अभी एक दिन भी मध्यम में यापित हुआ हो तब साधु-दर्शन की भावना।

विवाह के पश्चात् मंदिर में परमात्मा के तथा साधु के दर्शन करने की प्रथा वर्तमान में भी है, परन्तु उसका उद्देश्य क्या होता है ? वह तो उस अवसर पर उपाश्रय मन्दिर में जाने वाले ही बेहतर समझते होंगे। संभवतः वे यही आशीर्वाद चाहते हैं

कि उन का दाम्पत्य जीवन सुखी हो तथा उन में परस्पर वाग्युद्ध या बेलन युद्ध न हो ।

यदि श्रावक कहीं भी जा रहा है तथा मार्ग में जिन मन्दिर आ जाए तो श्रावक को जिन प्रतिमा के दर्शन करके ही आगे बढ़ना चाहिए, अन्यथा: उस के ब्रतों में तथा श्रावकत्व में दोष लगता है ।

वज्रबाहु ने विचार किया, कि मेरे सद्भाग्य से ही तारक गुरु देव के यहां पर दर्शन हो गये । वहां जा कर उन को वन्दन करना चाहिए । अभी तक विवाह-चिन्ह बंधा है और भावना है मुनिवर के दर्शन करने की । यदि उन के स्थान पर कोई आज का श्रावक होता, तो मार्गस्थ मुनि को वन्दन करने की बात भी उसे न सूझती, क्योंकि जब अपने नगर में पहुंच कर इस औपचारिकता को निभाना ही है, तो मार्ग में वन्दन क्यों किया जाए ?

वज्रबाहु कौ तो वन्दन से कृतार्थ हो जाना था । उसे इसी में धन्यता का दर्शन हो रहा था । वज्रबाहु ने अपने साले से कहा, “उदय सुन्दर ! संमुखस्थ पर्वत पर मुनिराज खड़े हैं । चलो ! उन का दर्शन वन्दन ही कर लें ।” उदय सुन्दर ने इस बात का उपहास करते हुए कहा, “जीजा जी ! आप की कहीं दीक्षा की भावना तो नहीं है ।

कभी-कभी मनोरंजन के लिए किया गया मजाक भी कितना महंगा पड़ता है ।

“भावना तो है ही ।” वज्रबाहु का सहज उत्तर था । वर्तमान में प्रायः देखता हूं कि समाज में कि विवाह से पूर्व जो युवक तथा युवतियां परमात्म दर्शन, पूजन, गुरु वन्दन आदि कर रहे होते हैं, वे विवाह के पश्चात् समय के अभाव के कारण, जिम्मेदारियों के कारण या अरूचि के कारण मंदिर जाना ही छोड़ देते हैं । धर्म पत्नी की प्राप्ति के बाद धर्म की कितनी वृद्धि होती है । कितना

उत्थान होता है ? धर्म पत्नी धर्म में जोड़ती है या धर्म से विमुख करती है ?

“भावना तो है ही, इस उत्तर का श्रवण कर वज्रबाहु मंजाक ही में बोल पड़ा, “जीजा जी ! यदि भावना है, तो विलम्ब किस बात का है ? आप दीक्षा ले लो, हम सब आप के साथ हैं।” एक छोटा सा व्यंग्य-वाण वज्रबाहु के कर्म रोग तथा मोह-ज्वर को समाप्त करने में पूर्णतः सफल रहा। वज्रबाहु के मुख के हावभाव कुछ दृढ़ निश्चय की प्रतीति करा रहे थे। वज्रबाहु रथ से उतरते ही पर्वत की ओर चलने लगे। वे सब से आगे थे। उन के कदम मानो मुक्ति रमणी से मिलने की इच्छा की अभिव्यक्ति कर रहे थे। उन्होंने पीछे मुड़ कर भी न देखा। पर्वत पर वे काफी आगे निकल चके थे।

उदय सुन्दर के मन में कुछ विचार आया तथा वह सिर से पैर तक काँप उठा। उसने बहन मनोरमा के आभावानु मुख मंडल की ओर देखा, न जाने वह कितने स्वप्नों को हृदय में संजोए हुए थी। उदयसुन्दर को अपनी गलती का अहसास हुआ। वह वज्रबाहु के पास पहुंचा तथा बोला, “जीजा जी ! आप तो मेरे मंजाक का बुरा मान गये।” “नहीं, उदय सुन्दर ! तूने कुछ भी गलत नहीं कहा। तू तो मेरा उपकारी है।” “उपकारी ? लेकिन आप इस तीव्र गति से क्यों चले रहे हैं।” “अभी क्या तू समझा नहीं ? तेरा मंजाक तो मेरे लिए विरक्ति का कारण बन गया।” “तो क्या सचमुच आप दीक्षा अंगीकार करने ही जा रहे हैं ?” “हां, क्या अभी भी संशय है ?” वज्रबाहु के उत्तर में दृढ़ता का भाव था। मंजाक ने विपरीत परिणाम दिखाया था।

बस फिर उदय सुन्दर की आंखों से अश्रुधारा बह निकाली। वह बोला, “जीजा जी ! छोटी सी गलती की इतनी बड़ी सजा ! नहीं ! नहीं ! मुझे क्षमा कीजिए, और वापिस चलिए।” उसे

अपनी बुद्धिमत्ता पर रोना आ रहा था। विवाह के समय दीक्षा की बात कर बैठा। “नहीं उदय सुन्दर ! तेरी कोई गलती नहीं, तू तो मेरी चिर संचित भावना को पूर्ण करने में सहायक बना है। अब मेरा निश्चय अटल है।” दीक्षा की आज्ञा ससुराल वाले दे नहीं सकते थे, परन्तु यह तो अनायास ही भावना सफल हो गई। “जीजा जी ! मेरी बहिन मनोरमा का क्या होगा ? तुम्हारी जीवन संगिनी का क्या होगा ?” उदय सुन्दर की वाणी में दयनीयत थी, आंखों में अश्रु थे तथा कदमों में कंपन था। मनोरमा के भावी जीवन की कल्पना करके ही वह कांप उठा था। मेरी बहिन पति के होते हुए विधवा ! धिक्कार है मुझे !

“उदय सुन्दर ! धबराने की आवश्यकता नहीं। तू क्षत्रिय पुत्र है, अपने वचन का ध्यान कर। यह अश्रु-धारा तेरे वीरत्व को कलंकित कर रही है। मनोरमा के भविष्य की चिंता मत कर। यदि वह कुलीन पतिव्रता स्त्री होगी, तो पति के पथ का अनुसरण करेगी, अन्यथा मैं उस के कल्याण की कामना करता हूँ। मनोरमा सब कुछ सुन रही थी, परन्तु वह नवोढ़ा वहां पर लज्जा के कारण कहती क्या ? अब वे मुनिराज के आसन के समीप थे। वन्दन के पश्चात् वज्रबाहु ने दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। वज्रबाहु अणगार बन गए। उदय सुन्दर मनोरमा से क्षमा याचना करता है, “बहिन ! मैंने तेरा सुहाग छीन लिया। मेरे जैसा पापी कौन होगा ?” यह दृश्य मनोरमा के हृदय पर पत्थर रखने के समान था। उस की चिरसंचित भावनाएं तथा कल्पना लोक का सुख धूलिसात् हो चुका था। परन्तु वह एक कुलीन राज कन्या थी। उस ने स्थिति को गहराई से जांचा, हृदय को थामा, कल्पित स्वप्नों को चूर-चूर कर डाला तथा त्वरित ही पति के पथ पर चलने का निश्चय कर लिया। वह बोली, “पति की धर्म पत्नी होने के नाते मेरा यही कर्त्तव्य है, कि

पति का मार्ग ही मेरा मार्ग हो। मनोरमा की दीक्षा ने उदय सुन्दर तथा उसके २५ मित्रों के भावों को क्षण मात्र में परिवर्तित कर दिया। वे भी अब मुनि बन कर संयम के मार्ग पर प्रयाण कर चुके थे।

पाठकगण ! इस से बड़ा आश्चर्य तो तब घटित हुआ, जब वज्रबाहु के पिता विजय राजा को यह बात ज्ञात हुई, तो वे तत्क्षण बोल उठे। “धन्य है वज्रबाहु को। जिस ने युवावस्था में ही विवाह की रात्रि से भी पूर्व जीवन के सार को प्राप्त कर लिया। सपत्नीक दीक्षा अंगीकार की। मुझे ऐसा विचार अभी तक क्यों न आया ? मैं वृद्ध हो कर भी अभी तक विषय वासना के पंक में आकंठ डूबा हुआ हूँ।” विजय राजा भी दीक्षित हो गए।

चारित्र ग्राह्य है। श्रावक वही है, जो सर्व विरति चारित्र की भावना से ओतप्रोत है। यदि आप व्रत; पञ्चक्खाण, चारित्र न भी कर सकें, तो भी भावना तो होनी ही चाहिए।

उदयन मंत्री ने अपने मन में दीक्षा की भावना को संजोए रखा था तभी तो अन्तिम समय में उसे युद्ध भूमि में मुनि दर्शन की इच्छा हुई।

अभय कुमार की चारित्र ग्रहण की भावना थी, तभी तो उस ने श्रेणिक से आज्ञा प्राप्त करने का तरीका ढूँढ निकाला। भेष कुमार ने चारित्र लिया, तो श्रेणिक सम्राट तथा रानियां अपने प्रिय के पथ के अवरोधक न बन सके। नमि राजर्षि की चारित्र की आकस्मिक उत्कट भावना ने उस की नेत्र पीड़ा को अपाकृत करके उस का चारित्र पथ प्रशस्त किया। चारित्र-भ्रष्ट नंदीषेण इसी भावना के कारण पुनः संयम जीवन को स्वीकार कर सका। सुन्दरी की भावना ने उसे ६० हजार वर्ष तक आयंबिल करके भरत चक्रवर्ती से छुटकारा पाने का मार्ग बताया। क्या मां सुनन्दा के भिन्न-भिन्न प्रकारीय प्रलोभन वज्र स्वामी

की भावना को तोड़ सके ? भावना भवनाशिनी—यदि भावना हो तो समस्त बन्धन टूट जाते हैं ।

संसार ने पकड़ा है :—आज के लोग प्रायः कहते दृष्टिगत होते हैं, कि महाराज ! संसार ने तथा परिवार ने हमें पकड़ रखा है । वस्तुतः संसार ने आप को नहीं, आप ने संसार को पकड़ रखा है । अन्यथा भावना हो तो मार्ग भी मिल जाता है तथा भावना साकार भी हो सकती है । जहां चाह, वहाँ राह । हिम्मते मर्दा, मद दे खुदा । Where there is a will, there is a way.

चारित्र इस जन्म में नहीं तो आगामी भव में भी ग्रहण तो करना ही पड़ेगा । इस के बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती । मन में से शनैः शनैः मोह को कम करते जाओ, वैराग्य वासित बनते जाओ । सत्साहित्य स्वाध्याय, गुरुजनो की संगति, धर्ममय वातावरण तथा सतत अभ्यास से चारित्र प्राप्त सम्भव हो सकती है ।

व्रत, नियम, प्रत्याख्यान रूप चारित्र, पापों को आत्मा की ओर आने से रोक लेता है । यथा कोई सांकल, चोर को गृह में आने से रोक लेती है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान दर्शन तथा सुख का भंडार (खजाना) कोई चुरा नहीं सकता, यदि व्रतादि के द्वारा पापों को आत्मा में आने से रोक लिया जाए ।

आप रात्रि को दरवाजा खोल कर सोते हैं या सांकल लगा कर ? सांकल लगा कर सोते हैं, कि कहीं चोर हमारा धन न लूट ले जाए । अपने खजाने की सुरक्षा के लिए तो आपने सांकल (कुंडी) बनायी । परन्तु आत्मा के धन सुरक्षा के लिए आपने कौन सी सांकल लगाई ? आत्मा के धन को काम, क्रोध, मद, लोभ, मान आदि के चोर लूटते जा रहे हैं ? परन्तु आप ने ऐसी सांकल नहीं लगाई, जिस से चोर हमारे आत्मगृह में प्रवेश न कर सकें ।

ये चोर अनादि काल से आत्म रूपी गृह में प्रवेश कर आप का खजाना सतत लूटते जा रहे हैं, परन्तु आप सोए पड़े हैं, सारा

घर खाली होने को है, परन्तु आप की निद्रा पूर्ण न हो सकी ।

जिस दिन व्रतों की सांकल लग जाएगी । आप अपने माल के मालिक घोषित किए जा सकेंगे । चारित्र्य से बन्धन मुक्ति प्राप्त होती है । आश्रव तथा बंध का निरोध होता है एवं संवर तथा निर्जरा का प्रायण होता है ।

चारित्र्य के लिए पुरुषार्थ शील बनो । मैंने ऐसे अनेक श्रावक देखे हैं, जो १२ व्रतों को धारण करने के लिए ५०-५० वर्षों से विचार कर रहे हैं । अभी तक साधुओं से १२ व्रतों का स्वरूप ही समझ रहे हैं । बहुत सोचने वालों के हाथ से करने का समय निकल जाता है । मैं उन से प्रायः कहता हूँ, कि तुम जितने व्रतों को समझ चुके हो, उतने तो ले लो । झट से उत्तर मिलता है, बाद में सारे इकट्ठे लेंगे ।

मन का चोर जब बाहर निकले, तभी व्रत का साधु अन्दर प्रवेश कर सकता है ।

सदाचार—बाह्य आचार, विचार तथा व्यवहार सुधारना भी आवश्यक है । व्रतधारी या धार्मिक बन कर आचार को पवित्र बनाने रखना सरल होता है । उदाहरणतः किसी कन्या के लिए लोगों की दृष्टि से अपने आप को बचाते हुए बाजार में से निकल जाना कठिन है, जब कि विवाहिता को ऐसा भय प्रायः नहीं होता, क्योंकि वह पतिव्रता बन चुकी है अर्थात् 'एक पति' रूप व्रत को स्वीकार कर चुकी होती है । स्वीकृत व्रत, आचार पालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । भले ही वह भय लोगों की ओर से हो अथवा पापी मन की ओर से हो ।

व्रतधारी के विचार भी प्रायः स्वच्छ रहते हैं । विचारों की स्वच्छता के लिए उसे ग्रहीत व्रत की सहायता मिलती है । जिस मार्ग पर जाना ही निषिद्ध है, उसका विचार करने से क्या लाभ ?

निषिद्ध मार्ग पर बच्चे ही जाया करते हैं, बुर्जुग तथा

बुद्धिमान् नहीं। उस मार्ग का विचार कम होगा, तो शनैः-शनैः वह विचार समाप्त भी हो जाएगा।

व्रतधारी का व्यवहार भी शुद्ध हो जाता है। व्रत की शुद्ध आराधना, समाज भय अथवा सामूहिक जीवन के कारण उस का व्यवहार कलुषित नहीं रहता।

व्रत को ग्रहण करने से अनेक लाभ होते हैं। मनोविज्ञान यही सिखाता है, कि मानव स्व-पर व्यवहार को दृष्टि में रखे। उस से उसे यह अमूल्य ज्ञान होगा कि विद्या, कषाय तथा शांति आदि के लिए मैं किस धरातल पर खड़ा हूँ तथा अन्य व्यक्ति कितना आगे बढ़ चुके हैं ? सारी साइकोलॉजी व्यवहार का अध्ययन करती है।

सदाचार की भावना मानव को वाणी पर भी हः तो शरीर में भी हो। मन की तो कुछ कथा ही और है। मन की व्यथा मन ही जानता है। मन की कथा अनन्त काल पुरानी है।

समस्त योग, ध्यान, साधना, तथा क्रिया मन के वशीकरण के लिए हैं। यदि वाणी तथा शरीर को शुद्ध बनाया जाए तो मन को शुद्ध बनाना सरल हो जाता है।

असत्य न बोलने का नियम लिया हो तथा वाणी पर कपट, निंदा, चुगली, कलह हो तो असत्य विरोधी आचार का भी कोई अर्थ नहीं। सत्याचरण के साथ वाणी के दूषित व्यवहार से भी बचना आवश्यक है।

चारित्र्यधारी साधु को भी कभी छोटी सी बात पर क्रोध आ जाता है। देश विरतिधारी श्रावक छोटी-छोटी बातों को देख कर निंदा का मार्ग अपनाते हैं। वही दूषित व्यवहार व्यक्ति के आचार को भी दूषित कर देता है। काया तथा वाणी का दूषित व्यवहार साधुता तथा श्रावकत्व में कमी का प्रदर्शन करता है।

मन जाए तो जाए, परन्तु वाणी एवं शरीर को असंयम के मार्ग पर मत जाने देना । मन का भटकान कभी तो समाप्त होगा । मन रूपी वातर की चंचलता कभी तो समाप्त होगी ।

एक English writer के शब्दों में—

**Character is a looking glass,
broken once, is gone alas. !**

चारित्र एक दर्पण है, जिस के टूट जाने पर यह समाप्त हो जाता है । दर्पण का पुनः संधान शक्य है, परन्तु चारित्र का पुनः संधान शक्य नहीं । वस्त्र पर लगा हुआ धब्बा दूर हो सकता है परन्तु चारित्र में लगा हुआ धब्बा कभी दूर नहीं होता । मन वचन का व्यवहार पूर्णतः शुद्ध होना चाहिए । काया का व्यवहार दूषित हो तो कैसा संयम होगा ? कैसा चारित्र होगा ? काया की शुद्धि के साथ मन की शुद्धि आवश्यक है । वस्तुतः शुभ मन ही चारित्र का रूप है । यदि मन वचन काया की शुद्धि नहीं होती तो भी उस के लिए परम पुरुषार्थ करना पड़ेगा—

Be hard with yourself.

स्वयं के साथ सख्ती से पेश आओ तथा फिर देखो कि क्या अशक्य है । हो सके तो चारित्र को स्वल्प भी स्वीकार करना चाहिए, यदि न कर सके तो अनुमोदन अवश्य करना चाहिए । क्योंकि यदि आप अनुमोदन करेंगे, तो आगामी जन्म में भी चारित्र की प्राप्ति दुरुह हो जाएगी ।

आचार, विचार तथा व्यवहार की शुद्धि भी चारित्र ही है । जिस का आचार शुद्ध है, वह संयमी होता है । जिस का विचार शुद्ध होता है, उसे संयम (चारित्र) को ग्रहण करते देर नहीं लगती । विचारों की शुद्धि से ही तो आचार का सम्बन्ध है । यदि विचार ही शुद्ध हो गया, तो अशुद्ध आचार रह भी कैसे सकेगा ? विचारों पर ही आचार आधारित है ।

शुद्ध व्यवहार तो आचारवान् व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। लोकोक्ति है--'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नो करणीयं, नाचरणीयं' अर्थात् शुद्ध आचार भी यदि लोक विरुद्ध प्रतीत होता है--व्यवहार में अशोभनीय प्रतीत होता है, तो उस का आचरण नहीं करना चाहिए। जय वीरराय सूत्र में भी 'लोक विरुद्धच्छाओ' पाठ के द्वारा यही प्रतिज्ञा की जाती है, कि लोक में निन्दनीय आचरण का मैं त्याग करता हूँ।

व्यवहार में ही तो मानव के अन्दर के विचार झलकते हैं।

Behaviour is a mirror, in which every one displays his image.

व्यवहार एक ऐसा दर्पण है जिस में प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिमा (आकृति) को देखता है।

संस्कारों से संयम की ओर :—चारित्र की भावना मानव में वातावरण से उत्पन्न होती है। यह वातावरण पारिवारिक अथवा सामाजिक हो सकता है। पूर्व भव के संस्कार भी इस में बहुत महान कारण हैं। यदि बालक को माता पिता के द्वारा बाल्य काल से ही अच्छे संस्कार दिये जाएं, तो बालक क्या अपराधी रहेगा ? देश द्रोही बन सकेगा ? समान कंटक बन पाएगा ? यदि बालक बाल्यावस्था से ही सुसंस्कारों से सिंचित हो जाए तथा बचपन में ही उसे सत्संगति मिल जाए तो वह अनायास ही संयम के मार्ग पर चल पड़ता है। धार्मिक शिक्षा भी संयमशील बनने में अत्यधिक सहायक होती है। शिक्षा से बालक आगे जा कर 'समाज रत्न बनता है, समाज खत्म' नहीं।

अकबर प्रतिबोधक आचार्य हीर सूरेश्वर जी म० के समय का प्रसंग स्मृति गोचरित हो रहा है।

एक युवक प्रतिदिन उपाश्रय में सामायिक करने आता था। उसके विवाह में २ दिन शेष थे। एक दिन वह उपाश्रय में प्रातः

कन्ल नित्य क्रम से सामायिक लेकर बैठा था। अकस्मात् ही एक युवती ने उपाश्रय में प्रवेश किया। उसने आचार्य हीर सूरि जी म० को वन्दन करने के पश्चात् सभी साधुओं को वन्दन किया तथा अन्त में उपाश्रय के कोने में बैठे उस युवक को, जो कि प्रातःकाल में साधु के समान ही दिख रहा था-वन्दन किया। वन्दन करने के पश्चात् जाते समय 'मत्थएण वंदा'म' कह कर वह चल ही रही थी कि अकस्मात् ही उस युवक की दृष्टि ऊपर को उठी और आश्चर्य वह देखता ही रह गया। न केवल उसने देखा, वह युवती भी आश्चर्य के साथ इस अकृत्य के लिए पश्चात्ताप कर रही थी। दोनों ने परस्पर दृष्टि मिलाई तो दोनों ही समझ गए। दो दिन पश्चात् उन दोनों का ही विवाह होने वाला था, परन्तु अब क्या हो सकता था।

युवक पर इस क्रिया का बहुत प्रभाव न पड़ा, परन्तु युवती के हृदय में इस कृत्य ने गहन चोट की। एक गृहस्थ को सविधि वन्दन ! और वह भी होने वाले पति को। गजब ढह गया। वन्दन पति को होता है या गुरु को ? परन्तु पति भी तो गुरु हो सकता है। जिसे एक बार गुरु समझ कर वन्दन कर लिया, उस से विवाह ? असंभव ! असंभव !!

वह युवती दृढ़ निश्चय कर चुकी थी, दीक्षा लेने का। २-३ घंटों में ही समस्त नगर में उस युवती की दीक्षा भावना की बात वायु वेग से फैल गई। बहुत लोग, अनेक महिलाएं उसे समझाने आईं, परन्तु उस का एक ही प्रश्न था, कि गुरु को पति कैसे बनाया जा सकता है ? इस प्रश्न के सामने सभी निरुत्तर थे। युवती ने यह भी स्पष्ट कह दिया, कि मैं तो दीक्षा ही धारण करूंगी। मेरा पति चाहे तो किसी अन्य से विवाह कर सकता है।

कर्णोपकर्ण से बात युवक तक भी जा पहुंची। युवती का यह साहसिक कदम ! पत्नी के ये संस्कार। उस की यह पवित्रता।

गुरु के प्रति यह पूज्य बुद्धि । ऐसी पत्नी तो सचमुच पुण्योदय से ही मिला करती है, कि जो किसी बहाने पति को संसार से छूटने के लिए कोई इंगित कर जाती है । धन्य है वह परन्तु मेरा जीवन ? जब वह स्त्री हो कर त्याग कर सकती है, तो मैं क्या पुरुष हो कर इतना पौरुषहीन निकलूंगा कि त्याग न कर सकूँ ? नहीं ! नहीं ! नेमि कुमार भी राजीमती की पूर्व प्रीति से ही मोक्ष में साथ ले जाने के लिए समझाने आए थे । बारात तक का आडंबर मात्र संयोग था और युवक ने अन्तिम निर्णय कर लिया ।

विवाह के उसी शुभ मुहूर्त में उन दोनों ने दीक्षा ग्रहण की । क्या ऐसे संस्कार आज किसी परिवार में दृष्टि-गोचरित होते हैं ? बालकों में ऐसे संस्कार ही नहीं हैं । यदि कोई बालक दीक्षा की बात भी करता है, तो मना करने वाले कितने होते हैं ? स्वयं तो इतना पुरुषार्थ कर नहीं सकते । संयम मार्ग स्वीकार करने वाले को मना क्यों करते हैं ? क्या वे ऐसा करके वीर्यातराय कर्म का बंध नहीं करते ?

वर्तमान में युवकों में अच्छे संस्कार माता पिता को ही भरने होंगे । बालक के प्रथम गुरु माता-पिता हैं । साधु तो बाद में गुरु हैं । माता का वात्सल्य और पिता की कर्तव्य-शीलता बच्चे का प्रथम शिक्षण है । इस शिक्षण को अर्जित करने वाला क्या युवावस्था में असद् आचार वाला होगा ? प्रत्येक जैन श्रावक में चारित्र की भावना कूट-कूट कर भरी होनी चाहिए ।

यह निश्चित है, कि चारित्र से ही मुक्ति होती है । इस जन्म में चारित्र के लिए पुरुषार्थ न किया जाएगा, तो अगले जन्म में करना पड़ेगा । सर्वविरति चारित्र का पालन दुष्कर हो, तो श्रावक के व्रतों का ही पालन करना चाहिए । कुछ प्रत्याख्यान अवश्य लेना चाहिए । प्रत्याख्यान से पाप रुकता है और आश्रव का निरोध होता है । निकाचित कर्म भी शिथिल हो जाते हैं । पाप कर्म का विपाक ही नहीं चारित्र की अनुमोदना भी होती है ।

यदि स्वयं चारित्र्य नहीं ले सकते तो चारित्र्य ग्रहण करने वालों की सहायता करनी चाहिए। वह भी न हो तो अनुमोदना भी की जा सकती है। अनुमोदना करने से भी अंतराय कर्मों का क्षय होता है, वीर्योल्लास प्रकट होता है एवं चारित्र्य मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

मात्र ज्ञान कई बार निरर्थक प्रमाणित होता है। ज्ञान होने के पश्चात् तदनुरूप आचरण करने से ही कार्य की सिद्धि होती है।

एक घर में रात्रि के समय एक चोर ने प्रवेश किया। पत्नी जागृत थी। पति कुछ नींद में था। पत्नी ने तुरन्त पति से कहा, 'देखिए! चोर ने घर में प्रवेश किया है।' पति ने उत्तर दिया, 'मैं जानता हूँ, कुछ समय पश्चात् चोर ने कमरे में प्रवेश किया। फिर पत्नी ने कहा, "चोर का कमरे में प्रवेश हो चुका है अब वह ताला तोड़ सकता है" पति ने कहा, "मैं जानता हूँ।" जब चोर ने ताला तोड़ कर सामान एकत्र करना प्रारम्भ किया तो पत्नी फिर चिल्लाई। परन्तु पति का वही उत्तर था। चोर ने सामान को बांध लिया। पत्नी ने कहा, "पतिदेव! चोर ने सामान बांध लिया है, अब तो उठो।" परन्तु पति का एक-ही उत्तर था कि मैं जानता हूँ। चोर सामान सिर पर उठा कर चलने लगा। फिर पत्नी ने पति से कहा, "अब तो शीघ्रता करो, चोर को पकड़ लो।" पति बोला "मैं जानता हूँ, अभी उठता हूँ।" तब तक चोर नौ दो ग्यारह हो गया। परन्तु पति अब भी कह रहा था, कि "मैं जानता हूँ।" पत्नी बोली, "धूल पड़े तुम्हारे ऐसे जानने में।" वर्तमान में ऐसे लोगों का आधिक्य है, कि जो जानने में ही संतुष्ट रहते हैं। जो कुछ जानते हैं, उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न नहीं करते।

सदाचार का पालन या चारित्र्य की साधना एक अलौकिक

वस्तु है। उस की तुलना किसी दान पुण्य के साथ नहीं की जा सकती। यदि कोई व्यक्ति समस्त रत्न जड़ित पृथ्वी का स्वर्ण के पर्वतों सहित दान दे दे, तो वह भी चारित्र की आराधना करने वाले महाव्रत धारी साधु की तुलना नहीं कर सकता। एक व्यक्ति समस्त अर्पित करे तथा एक व्यक्ति कुछ भी अर्पित न करे, मात्र संयम को स्वीकार करे तो संयम को स्वीकार करने वाला व्यक्ति उत्कृष्ट होता है।

साम्राट् श्रेणिक के समय आर्य सुधर्मा स्वामी के पास एक भिखारी द्रमुक ने दीक्षा ली थी। उसे दीक्षित देख कर जनसमूह ने चारित्र धर्म की अवहेलना करनी प्रारम्भ कर दी। परिणामतः आचार्य सुधर्मा स्वामी नगर से विहार करने लगे। जब श्रुति तीव्र से तीव्रतर हो ही रही थी। लोग कह रहे थे, कि कोई भी व्यक्ति जिस को भोजन न मिलता हो, जैन साधु बन सकता है। लोग जैन साधुओं का उपहास करने लगे तथा निम्न वचनों से सम्बन्धित करने लगे।

मूंड मुंडाए तीन गुण, सिर की मिट जाए खाज।

खाने को हलुआ मिले, लोग कहें महाराज ॥

आचार्य श्री के विहार के समाचार सुन कर अभय कुमार गुरुदेव के पास आया तथा उन से विहार का कारण पूछा तो गुरुदेव ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि जहां साधुओं का अपमान होता हो, वहां साधु को रहना नहीं चाहिए।

अभय कुमार ने कहा 'गुरुदेव ! आप मात्र दो दिन और स्थिरता कीजिए, मैं सब कुछ ठीक कर दूंगा।

आगामो दिन अभय कुमार ने नगर में घोषणा करवाई कि कल समस्त नगर जन बड़े-बड़े वस्त्र लेकर राज्य सभा में पहुंचें, कल सब को हीरे, मोती तथा मणिक्त वितरित किए जाएंगे। अगले दिन समस्त प्रजा बड़े-बड़े वस्त्र लेकर राज्य सभा में एकत्र

हो गई। तब मोदिनी ने देखा कि एक तरफ आचार्य सुधर्मा स्वामी पाट पर विराजमान हैं और एक तरफ द्रमुक मुनि तथा बीच में स्वर्ण मोती तथा हीरों के तीन ढेर लगे हुए हैं।

अभय कुमार ने घोषणा की, कि जो व्यक्ति जीवन भर प्रासुक (गर्म) जल पीएगा वह, स्वर्ण के ढेर को ले सकता है। और सभा में से एक भी व्यक्ति नहीं उठा। सभी एक दूसरे की ओर देख रहे थे कि आज अभय कुमार को यह सब क्या सूझी है।

अभय कुमार फिर उठे तथा बोले, “जो व्यक्ति आजीवन अग्नि का स्पर्श नहीं करेगा, वह इस मोतियों के दूसरे ढेर को ले जा सकता है।” परन्तु सभा में से एक भी व्यक्ति ने यह शक्ति न दिखाई।

अभय कुमार ने घोषणा की, “कि जो व्यक्ति आजीवन भूमि शयन करेगा, वह तीसरा रत्नों का ढेर उठा सकता है” परन्तु इस बार भी परिषद् में से कोई न उठा।

अभय कुमार ने घोषणा की, ‘जो व्यक्ति जीवन भर स्त्री का स्पर्श नहीं करेगा। वह तीनों ढेरों को ले जा सकता है।’ परन्तु प्रजा जन तो मानो भूमि के साथ चिपक गये थे। सभी के मुखों पर निराशा थी।

तभी अभय कुमार बोल ये उठे, “मैं विनती करता हूँ इन द्रमुक मुनि को जिन्होंने तीनों नियम स्वीकार किए हैं तथा स्त्री का संसर्ग भी छोड़ा है, अतः ये मुनि इन तीनों ढेरों को ले लें।

परन्तु मुनि ने तुरन्त उत्तर दिया कि “मुझे क्या करने हैं ये ढेर! मैंने त्याग धारण किया है अपनी आत्मा के लिए। मुझे इन रत्नों से कोई प्रयोजन नहीं।”

अभय कुमार यही तो प्रजा को दिखाना चाहते थे। वे बोले—सभ्यो! आप ने देख लिया, कि आप में से एक भी व्यक्ति

साधु के धर्म नियमों का पालन करने को तैयार नहीं है, परन्तु ये महामुनि जिन्होंने सब कुछ छोड़ कर संयम लिया है, वे इन तीनों ढेरों को लेने के अधिकारी हैं, फिर भी ये लेने से इन्कार कर रहे हैं। कैसे निःस्पृह हैं ये? और आप हैं, जो कि इन निःस्पृह साधुओं की निंदा करते हैं। आप सब को लज्जा आनी चाहिए। मूंड मुंडाए तो तीन गुण मिलते हैं; मैं आप को मुंडन के ही तीन ढेर दे रहा हूँ, परन्तु किसी में वह लेने का साहस नहीं है।

जनता संयम (चारित्र) के महत्त्व को समझ गई थी। बस! चारित्र की साधना करने वाला उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहे तभी मोक्ष शीघ्र ही प्राप्त हो सकेगा। वाक्यों के अनुसार एक वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु को अनुत्तर विमान के सुखों का अनुभव होता है। यह कितने निर्मल चारित्र की बात होगी। अभव्य प्राणी भी कई बार दीक्षा अंगीकार करके चारित्र का उत्कृष्ट पालन करता है, परन्तु उसे ऐसा सुख अनुभूत नहीं होता। होगा भी क्यों? वह तो मिथ्या-दृष्टि ही होता है। वह ऐसे उच्च चारित्र का पालन करता है, कि मृत्यु के पश्चात् नवमं ग्रंथेयक विमान तक पहुंच जाता है, परन्तु गुणस्थान उस का मिथ्यात्व का ही रहता है।

अतः चारित्र बाह्याडंबर का विषय नहीं होना चाहिए। वह सम्यक् चारित्र बनना चाहिए। चारित्र एक उत्सर्ग मार्ग है, कहीं पर अपवादों का सेवन भी करना पड़ता है। परन्तु अपवाद का सेवन इतना नहीं होना चाहिए, कि उत्सर्ग हो समाप्त हो जाए। यह ठीक है, कि शासन सदैव अपवाद से ही चलता है। समय-समय पर युग, समय तथा व्यक्ति के अनुसार परम्पराओं तथा मर्यादाओं को परिवर्तित करना ही पड़ता है, परन्तु वह परिवर्तन सीमित होना चाहिए। संयम के उत्तर गुणों में कोई दोष लग जाए तो क्षम्य हो सकता है। परन्तु मूलगुणों (पंच महाव्रतों) में दोष लगे, तो वह क्षन्तव्य नहीं होता।

अपवाद का सेवन तो यदा कदा होता है, यदि वह जीवन का अंग ही बन जाए तो चारित्र ही सन्दिग्ध हो जाता है। साधु साध्वी या श्रावक सभी अपवादों के साथ-साथ उत्सर्ग मार्ग को ही महत्ता दे, तो आचार शैथिल्य को समाप्त किया जा सकता है।

ज्ञान दर्शन का चारित्र के साथ क्या सम्बन्ध है। तीनों के संमिश्रण से अथवा 'ज्ञान तथा चारित्र उभय योग से ही कैसे मोक्ष को प्राप्त हो सकती है, यह समझाने के लिए आगामी पृष्ठों में ज्ञान तथा क्रिया—दोनों के खंडन मंडन के रूप में ६१ तर्क प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि तर्क द्वारा 'ज्ञान क्रिया योग' की सिद्धि की गई है तथापि शास्त्रों के उद्धरण भी दिए गए हैं, ताकि पाठक एकांत ज्ञान या क्रिया का परिहार करके दोनों में उद्यमवान् बन सकें।



ज्ञान तथा क्रिया

ज्ञान तथा चारित्र, ज्ञान तथा क्रिया इन में मुख्य कौन है ? ज्ञान है या क्रिया रूप चारित्र ? यह एक टेढ़ा प्रश्न है । क्योंकि ज्ञान को मुख्य कहने से ज्ञानी क्रियाहीन हो सकता है । तथा क्रिया को मुख्य कहने से क्रियावादी ज्ञान से पराङ्मुख हो सकता है । शास्त्रों में दोनों (ज्ञान तथा क्रिया) के पक्ष में अनेक अभिमत मिलते हैं । सर्व प्रथम हम इन मतों पर एक विहंगावलोकन कर लें तथा इन के विरोध पक्ष में क्या-क्या तर्क उपस्थित होते हैं—उन तर्कों का भी अध्ययन कर लें ।

ज्ञान या क्रिया के पच्चासों तर्कों से आप पायेंगे कि हर एक शास्त्रवाक्य वस्तुतः स्वयं में बिल्कुल अधूरा है ।

१. “पढमं नाणं तओ दया”, (दशवं०)

अर्थात्—प्रथम ज्ञान है, बाद में दया ।

तर्क :—जीवादि तत्वों के ज्ञान से उन जीव आदि की रक्षा का प्रयत्न हो सकता है । परन्तु दया (करुणा) का भान विकसित होने पर ही ‘आत्मवत् सर्व भूतेषु’ तथा ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ का ज्ञान विकसित होता है । अतः ज्ञान ही पहले नहीं, दया भी पहले हो सकती है ।

२ जे जीवे वि वियाणेई, अजीवे वि वियाणेइ ।

जीवाजीवे वियाणंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ (दशवं०)

जो जीवों को जानता है तथा अजीवों को भी जानता है वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता ।

तर्क—क्या जीवों तथा अजीवों को जानने मात्र से ही पाप कर्मों का बन्ध रुक जाएगा या उन जीवों की रक्षा करने से ?

३. सोच्चा, जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणई पावणं ।

उभयंपि जाणए, सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ॥

सुनने से ही कल्याण (श्रेय) तथा पाप का ज्ञान होता है । सुन कर जो मार्ग श्रेयस्कारी हो, उस पर चलना चाहिए ।

तर्क — श्रवण से सही मार्गों का ज्ञान होता है । परन्तु यदि कोई व्यक्ति सुनता ही जाये तो, एक मात्र ज्ञान से कल्याण कैसे होगा ? चलने की क्रिया तो करनी ही पड़ेगी ।

४. ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती ।

तर्क—परन्तु अकेले ज्ञान से भी तो मुक्ति संभव नहीं । सम्यक् मार्ग पर चलना भी तो पड़ेगा ।

५. विद्या विहीनः पशुः ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।

ज्ञान के बिना नर पशु के समान है ।

तर्क :—जो ज्ञानी होकर भी तप आदि नहीं करता । रात्रि भोजन, अभक्ष्यादि सेवन करता है, विदेकी नहीं बनता, वह क्या रात्रि भोजी पशु के समान नहीं होता ?

६. नाणं नरस्ससारं ।

ज्ञान मनुष्य का सार है ।

तर्क :—यदि ज्ञान ही मनुष्य का सार है तो ज्ञान से अति-रिक्त सांसारिक या धार्मिक क्रियाएँ क्यों की जाती हैं ?

७. धन, कण, कंचन, राजसुख, सब ही सुलभ कर जान ।
दुलभं है संसार में, एक यथार्थ ज्ञान ॥

तर्क—धन आदि की अपेक्षा ज्ञान ही दुर्लभ है, क्योंकि वह बिना क्षयोपशम के प्राप्त नहीं होता, परन्तु क्या चारित्र्य दुर्लभ नहीं, जो चारित्र्य मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के अभाव में प्राप्त नहीं हो सकता ?

८. ज्ञानी श्वासोश्वास में करे कर्म का क्षय ।

अज्ञानी भवकोटि लग, कर्म खपावे तेह ॥

तर्क—क्या मात्र ज्ञान से ही कर्मों का क्षय हो सकता है ? यदि ऐसा है, तो ज्ञानवादियों की मुक्ति शीघ्र क्यों नहीं हो जाती ? १४ पूर्व का ज्ञानी भी प्रमाद के कारण, ज्ञान विस्मरण होने से (क्रिया चारित्र्य में अरुचि होने से) नरक निगोद में क्यों चला जाता है ?

९. यस्मात् क्रियाः प्रतिफलंति न भाव शून्याः ।

भाव (ज्ञान) के बिना क्रियाएं फल नहीं देती ।

तर्क—भोजन से तृप्ति होती है—इस ज्ञान के बिना भी यदि भोजन किया जाए, तो क्या क्रिया फल (तृप्ति) नहीं मिलता ? विष से मृत्यु होती है—इस ज्ञान के बिना विष का भक्षण किया जाए, तो क्या इस भक्षण क्रिया का फल मृत्यु नहीं होता ? ज्ञान रहित मात्र क्रिया भी शुभोपयोगी होने से शुभ फल क्यों नहीं दे सकती ?

१०. क्रिया देश आराधक कही, सर्व आराधक ज्ञान ।

क्रिया से अल्प आराधना होती है, जब कि ज्ञान से सम्पूर्ण आराधना होती है ।

तर्क—क्या अकेले ज्ञान से ही सम्पूर्ण आराधना होती है ? यदि ऐसा होता तो आचार्य हेमचन्द्र तथा यशोविजय जैसे महान ज्ञानी, चारित्र्य की साधना को महत्व क्यों देते ? उन का ज्ञान जितना अधिक था, उन का चारित्र्य (क्रिया) उतना ही शुद्ध था ।

११. ज्ञानस्य परा संवित्तिः चारित्रम् ।

ज्ञान का परम संवेदन ही चारित्र है ।

तर्क—इस परम संवेदन में क्या चारित्र का समावेश नहीं होता ? अवश्य होता है । यह वचन उस ज्ञानी के लिए है जो निष्पाप जीवनयापन करता है ।

१२. तब लग कष्ट क्रिया सब निष्फल, ज्यों गगने चित्त राम,
जब लग आवे नहीं मन ठाम ।

ज्ञान के अंकुश से मन रूपी हस्ती को बश में किए बिना, समस्त कष्ट क्रियाएं निष्फल हैं ।

तर्क—बात तो यह ठीक है, परन्तु ज्ञानांकुश के द्वारा मन के बश में हो जाने के पश्चात् क्या क्रियाएं हेय हो जाती हैं ?

क्या क्रियाओं (निष्पाप क्रियाओं) के अभाव में मन पुनः विषयों की ओर न भागेगा ?

१३. पंचविंशति तत्त्वज्ञः, यत्र तत्राश्रमे स्थितः

दण्डी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ सांख्यदर्शन

पुरुष (आत्मा) तथा प्रकृति (माया-कर्म) आदि २५ तत्वों के ज्ञान से मानव की मुक्ति हो जाती है । २५ तत्वों के ज्ञाता का वेध या क्रिया कलाप कैसा भी हो, इस से कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

तर्क—तत्त्व ज्ञान से मुक्ति होती है, परन्तु मोक्ष मार्ग का मात्र ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस सम्यक् मार्ग पर चले बिना क्या मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है ?

१४. षोडश-पदार्थानां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेय सोऽधिगमः ।

१६ पदार्थों के ज्ञान से परम कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।

तर्क—इन १६ पदार्थों में विवादा (विवाद) आदि का भी समावेश किया जाता है । विवाद आदि से मुक्ति कैसे सम्भव है ?

तत्व ज्ञान की कितनी मात्रा—इयत्ता (quantity) होने के पश्चात् मुक्ति होती है। क्या इस का कोई माप-दण्ड शास्त्रों में मिलता है ?

१५. अहो कष्टं ! अहो कष्टं ! तत्त्वं न ज्ञायते परम् ।

अरे शय्यंभव ! अरे विप्र ! तू यज्ञादि करके निरर्थक कष्ट क्रियाएं कर रहा है। तुझे अभी तक तत्व का ज्ञान नहीं है।

तर्क—'किं तत्त्वं' पूछे जाने पर जैन साधु ने उस यज्ञ भूमि के नीचे दबी हुई "शांति नाथ" प्रभु की प्रतिमा को तत्व के रूप में प्रतिपादित किया। आचार्य प्रभव स्वामी का अपने शिष्य को शय्यंभव के पास भेजने का प्रयास शय्यंभव को मात्र तत्व ज्ञान ही सिखाना था या चरित्र की ओर उन्मुख कराना था ? उस साधु को शय्यंभव को दीक्षा के लिए प्रतिबोधित करने के लिए ही वहां भेजा गया था।

१६. तत्त्वमसि—

वह परमात्मा तू ही है।

तर्क—'तावमसि' वेदांत का ज्ञान ब्रह्म ज्ञान कहलाता है अथवा 'सोऽहं' यह ज्ञान भी ब्रह्म की पहचान के लिए है। परन्तु वेदान्त में 'तत्त्वमसि' के ज्ञान के बाद "अभ्यासेन तु कौंठेय ! वैराग्येन च गृह्यते" गीत के ये शब्द क्या अभ्यास तथा वैराग्य की प्राप्ति का सन्देश नहीं देते ? वेदान्त धर्म के प्रवर्तक मात्र 'तत्वमसि' के ज्ञाता ही न अपितु अपनी मान्यता के अनुसार सन्यास (चरित्र) को भी धारण करने वाले थे।

१७. विद्ययाऽमृतमश्नुते ।

विद्या (ज्ञान) से अमरत्व की प्राप्ति होती है।

तर्क—विद्या के द्वारा मानव अमर होता है, क्योंकि वह ज्ञान बल से अमर होने की विधि को जान लेता है। परन्तु फिर उस

त्रिधि को जीवन में आजमाना भी तो पड़ता है। बिना प्रयोग के अमरत्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

१८. ॐ सरस्वतये नमः ।

विद्या की देवी सरस्वती को नमस्कार हो।

तर्क—ज्ञान की प्राप्ति के लिए सरस्वती देवी का अनुग्रह प्राप्त करना आवश्यक माना गया है। महान् आचार्यों ने भी सरस्वती को सिद्ध किया था। परन्तु प्रभु के मंदिर में जो प्रार्थनाएं की जाती हैं क्या वे चारित्र्य बल, सदाचार की प्राप्ति के लिए नहीं होती? क्या सरस्वती की कृपा से चारित्र्यबल भी प्राप्त हो जाएगा ?

१९. नाणेण य मुणो होई ।

ज्ञान से ही साधु मुनि होता है।

तर्क—साधु जीवन में ज्ञान, विद्वत्ता, वक्तृत्व आदि तो होना चाहिए। परन्तु मुनित्व, साधुता आदि शब्द मूलतः क्या चारित्र्य के पर्यायवाची नहीं? एक मात्र ज्ञानवान् को क्या मुनि शब्द से अलंकृत किया जा सकता है ?

२०. चतुः घाति कर्म क्षयेण केवल ज्ञान प्राप्यते ।

चार घाती कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

तर्क—चार घाती कर्मों के क्षय से केवल ज्ञान ही प्राप्त होता है? केवल चारित्र्य नहीं ?

२१. ज्ञातृत्वं द्रष्टृत्वं च आत्मनः लक्षणं ।

ज्ञाता तथा द्रष्टा होना आत्मा का लक्षण है।

तर्क—तो कर्त्ता भोक्ता होना क्या आत्मा का लक्षण नहीं है? क्या संसारी आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व (क्रिया) आदि गुण नहीं होते? सहज सुख का संवेदन (चारित्र्य) क्या परमात्मा में नहीं होता ?

२२. ज्ञाता द्रष्टा कर्मसु न लिप्यते ।

मात्र ज्ञाता द्रष्टा योगी कर्मों में लिप्त नहीं होता ।

तर्क—परन्तु वह योगी ज्ञाता द्रष्टा ही नहीं होता, मन वचन काया के योगों का त्यागी भी होता है। अतएव कर्मों में लिप्त नहीं होता ।

२३. समरो मंत्र भलो नवकार ।

यह है चौदह पूर्व का सार ।

तर्क—नमस्कार महामन्त्र १४ पूर्वों का सार तो है परन्तु १४ पूर्वधारी भी अन्त समय में समस्त ज्ञान को छोड़ कर नवकार मंत्र का ही ध्यान करते हैं, अतः यह वचन कहा गया है। नवकार महामन्त्र में अरिहंत आदि का ध्यान करते समय साधु अप्रमत्त हो जाता है। अतः नमस्कार मन्त्र का जाप भी अप्रमत्त दशा (सप्तम गुण स्थान-चारित्र) के लिए ही है ।

२४. ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की बात ।

मूर्ख से मूर्ख मिले, करे लात से बात ॥

तर्क—ज्ञानी लोग ज्ञान की बात करते हैं, सभ्यता से बात करते हैं जब कि अज्ञानी में न सभ्यता होती है न ज्ञान बल। परन्तु ज्ञानी का ज्ञान यदि बातों तक ही सीमित रह जाए तो क्या उद्धार हो सकेगा ?

२५. एक शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः ।

स्वर्गं लोके च कामधुक् भवति ॥

अच्छी तरह से ज्ञात किया हुआ एक भी शब्द इस लोक में तथा स्वर्ग में भी कामधेनु के समान इच्छित की पूर्ति करता है ।

तर्क—परन्तु क्या आप जानते हैं कि एक भी शब्द को सम्यक् ज्ञात करने के लिए कितने ग्रन्थ पढ़ने पढ़ते हैं ? क्या ज्ञान प्राप्त करना सरल है ? ज्ञान प्राप्त करने वाला हजारों में एक

होता है। शेष व्यक्ति तो श्रद्धा तथा चारित्र्य से ही स्वकल्याण साधते हैं। ज्ञान बल से सेवा, त्याग, शम, तप तथा सदाचार का बल अधिक होता है। भाषतृष मुनि की मुक्ति शम के बल से हुई। क्रूरगडू ऋषि की मुक्ति समता से हुई। दृढ़ प्रहारी की मुक्ति प्रायश्चित्त से हुई। बाहुबली को सेवा से ही चक्रवर्ती से अधिक बल प्राप्त हुआ। सनत्कुमार त्याग से स्वर्ग में गए। मुनि नंदिषेण सेवा से देवलोक के अधिकारी बने। जिस का विशेष ज्ञानावरणीय कर्म का क्षमोपशम न हो, वह उत्कट-चारित्र्य से स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त क्यों नहीं कर सकता ?

‘आत्मा’ यह एक शब्द है, परन्तु इस एक शब्द का ज्ञान प्राप्त करना सरल है। ‘जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ’ जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। ज्ञान प्राप्त करना कठिन काम है। ज्ञान के लिए बुद्धि का बल चाहिए, एकाग्रता चाहिए, दृढ़ संकल्प चाहिए, साहस चाहिए तथा सतत अभ्यास तथा रुचि होनी चाहिए। जब कि सामान्य साधक के के पास ये सब गुण नहीं होते। अतः वह सेवा आदि क्रियाओं से भी स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

२६. Knowledge is power, knowledge is light,
knowledge is a best virtue.

ज्ञान एक शक्ति है, ज्ञान एक प्रकाश है तथा ज्ञान सब से बड़ा गुण है।

तर्क—परन्तु ज्ञान के प्रकाश में चले बिना लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी ? ज्ञान की शक्ति का सदुपयोग किए बिना इस शक्ति का क्या लाभ ? ज्ञान का गुण होने के पश्चात् यदि दोषों के निराकरण का प्रयत्न न हो, तो ज्ञान का महान गुण भी किस काम का ?

तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्बुद्धिते विभाति रागगणः ।

तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम् ॥

वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं होता, जिस के उदित होने पर राग आदि शेष रहें। क्या ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में (रागादि रूप) तारे कभी दिखाई दे सकते हैं? क्या सूर्य के प्रकाश में अन्धकार टिक सकता है

२७. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

बुद्धिमान के पास ही बल होता है। बुद्धिहीन के पास बल कहाँ ?

तर्क—परन्तु कई बार तर्क शास्त्रादि विभिन्न शास्त्र पढ़ने वाले संसार-भ्रमण करते रहते हैं। तथा मूर्ख व्यक्ति अपने शमदमादि गुणों के बल पर संसार सागर से तिर जाते हैं। बुद्धिमान् होने के साथ आत्मोन्नति का क्या सम्बन्ध है? कई बार स्वयं को कुशल तैराक मानने वाला नदी में डूब जाता है तथा सामान्य तैराक तैर कर किनारे आ जाता है। शत बुद्धि वाली लोमड़ी अनेक उपाय आजमाते हुए स्थान-स्थान पर तीव्र गत्या भागते हुए शिकारी के जाल में या हिंसक प्राणी के शिकंजे में फंस जाती है। जब कि एक बुद्धि वाली बिल्ली वृक्ष पर ही बैठ कर स्वयं को सुरक्षित कर लेती है। ज्ञान तथा बुद्धि सदैव बल शाली नहीं होते। कभी-कभी अल्पमति परन्तु प्रत्युत्पन्नमति एक दो उपायों से ही सफल हो जाते हैं, अतः उपाय के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

२८. सब में ज्ञानबन्त बड़वीर, काटे सकल करम जंजीर ।

(विजय वल्लभ सूरि)

तर्क—ज्ञानी कर्म की जंजीर को काट देता है, ज्ञान के बिना त्याग और तप, की छुरी से क्या लाभ? यह ठीक है कि त्यागी तपस्वी जितने कर्मों का क्षय करता है उस से अधिक कर्मों का

क्षय ज्ञानवान् त्यागी करता है ।

२६. विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।

विद्वान् व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है ।

तर्क—यदि विद्यावान् आचरणहीन हो तो क्या वह पूजित हो सकता है ?

३०. दंसणभट्टो भट्टो, दंसणभट्टस्स नत्थि निव्वणाणं ।

सिज्झन्ति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झन्ति ॥

सम्यक् दर्शन से भ्रष्ट (तथा किसी कारण से सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट) प्राणी का निर्वाण नहीं होता । चारित्र हीन की मुक्ति हो सकती है, दर्शनरहित की नहीं ।

तर्क—यह वाक्य तो मात्र सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करता है । क्रिया चारित्र का निषेध बिल्कुल भी नहीं करता । प्रारम्भिक अवस्था में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान (चतुर्थ गूण स्थान) नहीं होगा तो सम्यक्चारित्र (पंचम गूण स्थान आदि) भी कैसे हो सकता है ? यह विधि वाक्य है ? जो कि कहता है कि सम्यग्दर्शन अनिवार्य है । यदि यह वाक्य निषेध वाक्य हो तो चारित्र (१४वें गूणस्थान तक) के अभाव में निर्वाण न हो सकेगा, अतः चारित्र भी अनिवार्य है ।

३१. सभाहिमरणं च बोहिलाभो अ, संपज्जउ —जयधीयराय सूत्र
प्रभु को प्रणाम करने से मुझे बोधि तथा ज्ञान एवं सद-
बुद्धि का लाभ हो ।

तर्क—इस से यह स्पष्ट होता है कि प्रभु-नमन रूप क्रिया से बोधि (सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान) प्राप्त हो सकता है । बताइए ! ज्ञान पहले स्वीकार किया गया या क्रिया ? “क्रिया” ।

३२. नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते ।

सर्वकर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

—गीता

विश्व में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। हे अर्जुन ! ज्ञान (केवल ज्ञान) के प्राप्त हो जाने के पश्चात् समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं।

तर्क—ज्ञान सर्वाधिक पवित्र है, निर्दोष है, यह सत्य है। केवल ज्ञान के पश्चात् साधना समाप्त हो जाती है, परन्तु लीर्थकर्म के कई कर्म। (पुरुषार्थ-दायित्व) शेष रहते हैं। यथा उपदेश देना, भव्य जीवों को प्रतिबोध देना तथा अन्त में मोक्ष प्राप्ति के समय पांच हनस्वाक्षर के समय में सम्पन्न होने वाली शैलेशीकरण की क्रिया। यह शैलेशीकरण की क्रिया न होगी तो क्या केवल ज्ञान भी मोक्ष प्रदान कर सकेगा ?

३३. गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्, रूशब्दः प्रतिरोधकः।

अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुस्त्यभिधीयते ॥

जो अज्ञान अन्धकार को दूर करे, वह गुरु होता है।

तर्क—यदि कोई गुरु दीपक के समान दूसरों की आत्मा के अन्धकार को दूर करता रहे तथा स्वयं अभव्य प्राणी की तरह अन्धकार में भटकता रहे तो भी वह गुरु कहलाने का अधिकारी होगा ? “नहीं।” तो गुरुता की परिभाषा ज्ञान संहितता ही क्यों ? चारित्र्य संहितता क्यों नहीं हो सकती। चारित्रवान् (क्रियावान्) गुरु दूसरों को भले ही न तार सके, स्वयं का कल्याण तो कर ही सकता है।

वस्तुतः लक्षण अव्याप्ति अति व्याप्ति तथा असंभव तीन दोषों से रहित होता है।

उपर्युक्त लक्षण को हम ‘दूषित’ नहीं कह सकते, क्योंकि वह मात्र विधि वाक्य है। उस से किसी अन्य बात का निषेध नहीं होता।

३४. सिद्धोऽसि बद्धोऽसि निरंजनोऽसि,

संसार माया परिवर्जितोऽसि।

मदालसा अपने पुत्र को पालना झुलाते समय कहती है कि हे पुत्र ! तू तो सिद्ध है, बुद्ध है। कालुष्य रहित, संसार की माया से रहित है।

तर्क—यहां आत्मा के एकमात्र ज्ञानी बन जाने से ही कार्य की सिद्धि नहीं बताई गई अपितु मात्रा को छोड़ कर चरित्र को अंगीकार करने की ओर भी इंगित किया गया है।

३५. अथातो ब्रह्म—जिज्ञासा —(ब्रह्म सूत्र)

अब ब्रह्म की जिज्ञासा होती है।

तर्क—ब्रह्म (आत्मा-परमात्मा) को जान लेने मात्र से क्या होगा ? 'ब्रह्म ज्ञान' सदृश महान शब्द तो ब्रह्म (परमात्मा-आत्मा) की अनुभूति का वाचक शब्द हैं। यह आत्मानुभूति (ब्रह्म ज्ञान) ज्ञान की प्राप्ति मात्र से नहीं, ध्यानयोगादि साधनाओं (चारित्र्य-क्रिया) के द्वारा साध्य है।

३६. सा विद्या या विमुक्तये ।

विद्या (ज्ञान) वही है, जिस से मुक्ति हो।

तर्क—मुक्ति को प्राप्त कराने वाला ज्ञान वही हो सकता है जो मानव को पापों से मुक्त करे तथा सदाचार सिखाए। क्रियात्मक ज्ञान ही मुक्ति की प्राप्ति कराने में सक्षम हो सकता है।

३७. विद्याऽहं ब्राह्मण माश्रगाम,

गोपाय मा शोवधिष्टेऽहमस्मि ।

असूयकायाऽनृजबैऽयताय,

न मा ब्रूयात् वीर्यवती तथा स्याम् ॥

विद्या ब्राह्मण के पास आ कर बोली, कि मैं तेरी निधि हूँ। अतः तू मेरी रक्षा कर। मुझे (विद्या को) किसी ईर्ष्यालु, मायावी तथा असंयत व्यक्ति को मत देना—इसी उपाय से मैं बलवती हो सकती हूँ।

तर्क—विद्या ने स्वयं चारित्रहीन लोगों को बचाने के लिए आह्वान किया। स्पष्ट है, कि चारित्र हीन, क्रियाहीन, दुराचारी, ईर्ष्यालु लोगों के पास पहुँचने के पश्चात् उस विद्या का सुफल नहीं हो सकता। उस का अशुभ परिणाम ही सामने आता है।

३८. बलवान् इन्द्रिय ग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति ।

बलवान् इन्द्रिया विद्वान् को भी विषयों की ओर आकर्षित करती हैं।

तर्क—अर्थात्, ज्ञानी को भी विषय योग सामग्री से दूर रहने की आवश्यकता है, नहीं तो वह पतित हो सकता है। ज्ञान के अंकुश से इन्द्रियों तथा मन रूपी हाथी को बश में करना चाहिए। ज्ञान तभी सार्थक है, जब कि वह इन्द्रियों को भी अंकुश में रख सके।

३९. ज्ञानस्य फलं विरतिः ।

ज्ञान का फल विरति (चारित्र) है। ज्ञानी व्यक्ति पापों से विरत न हो तो वह ज्ञानी कैसा ?

४०. पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय ।

ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े जो पंडित होय ॥

शास्त्र ज्ञान का फल विश्व वात्सल्य है। ज्ञान के साथ-साथ विश्व मैत्री तथा विश्व करुणा का भाव विकसित होना ही चाहिए।

४१. जहा खरो चंदन भखाही, भारस्स भागी न हु चंदनस्स ।

एवं खु नाणी चरणेन हीनो, नाणस्य भागी न हु सुगईए ॥

चंदन का भार ढोने वाला गधा भार को ही ढोता है वह उस की सुगन्ध का लाभ नहीं उठाता। उसी प्रकार से ज्ञानी यदि चारित्र हीन हो तो वह ज्ञान को ढोता है, परन्तु सद्गति को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् वह ज्ञान का बोझ ढोता रहता है, जिस

से उसे गधे की तरह कोई लाभ नहीं उठा पाता ।

४२. येनाऽहं अमृता न स्यां, तेनाहं किं कूर्याम् ।

मैत्रेयी ने साधु सन्यासी बन रहे अपने पति से कहा था कि उस सामान का मैं क्या करूंगी, जिस से मैं अमर नहीं हो सकती ।

तर्क—उस का आशय था, कि ज्ञान का सामान प्राप्त करने से मैं अमर हो सकूंगी और इसी लिए मैं आप के साथ संन्यास को धारण करूंगी ।

४३. यः श्रूयात् गौतमी वाचं, न सः शांतिमवाप्नुयाद् ।

जब राम चन्द्र जी वनवास के लिए गए थे, तब उन्हें वन में न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि मिले । श्री राम ने गौतम से वन का मार्ग पूछा । गौतम ऋषि बोले “राम ! आप को वन में जाना है ? कैसे वन में जाना है ? वनों के कई प्रकार हैं । किस प्रकार के वन में आप जाना चाहते हैं । वन छोटे भी होते हैं, बड़े भी होते हैं । कुछ वन जाति सहित होते हैं, कुछ भारतवर्ष में अपने जैसा दूसरा वन न होने के कारण एक ही होते हैं—उन में जाति नहीं रहती, क्योंकि जाति एक में रह नहीं सकती । वनत्ववच्छिन्न वन में या वनत्वधर्मावच्छेदक तथा वच्छिन्न वन में आप को जाना है ?

राम उन की न्याय (Logic) की भाषा सुन कर कृपित हो उठे, तथा बोले, “ऋषिराज ! मैंने तुम से सामान्य प्रश्न पूछा है । परन्तु तुम उल्टे सीधे प्रश्न करके मुझे परेशान कर रहे हो । तुम्हारी कठिन तथा कर्कश भाषा से एवं निरर्थक तर्कों से मैं परेशान हो गया हूँ ।”

तब राम ने शाप दिया ‘य श्रूयात्.....।

“जो गौतम ऋषि की वाणी को सुनेगा, वह शांति को प्राप्त न कर सकेगा ।”

यह वास्तविकता भी है। न्याय शास्त्र को पढ़ने वाला तर्कों में कभी-कभी इतना उलझ जाता है, कि न वह सत्य को पा सकता है न शांति को।

कहना ही होगा कि सर्वत्र ज्ञान ही उपयोगी नहीं होता। शांति का मूल्य ज्ञान से भी अधिक होता है। क्योंकि ज्ञान, आत्म-शांति के लिए ही प्राप्त किया जाता है।

४४. जो अज्ञानता में पाप करता है वह क्षम्य हो सकता है, परन्तु जो ज्ञानी बन कर भी, पाप को पाप जानते हुए भी, पाप करता है वह क्षंतव्य नहीं हो सकता।

४५. आधुनिक शिक्षा भी मात्र आजीविका चलाने के लिए नहीं होनी चाहिए, परन्तु समाज को नीति का पाठ सिखाने के लिए होनी चाहिए।

इस प्रकार आप ने देखा कि ज्ञान को क्रिया, चारित्र्य, सदाचार से बिल्कुल अलग कर दिया जाए, तो जीवन कितना विसंगत हो जाता है। सदाचार (क्रिया) के बिना ज्ञान को कल्पना करना भी कितना हास्यास्पद लगता है। इस प्रकार यह मान्यता ध्वस्त हो जाती है कि एकांकी ज्ञान मोक्ष को प्राप्त करा सकता है। यद्यपि उपर्युक्त शास्त्र वचनों में 'ज्ञान' के प्रसंग में क्रिया का निषेध नहीं होता, परन्तु उस 'ज्ञानवाद' के वाक्य को पढ़ कर कोई बालजीव वाक्यों को क्रिया का महत्व समझाने के लिए जान बूझ कर तर्क द्वारा काटा गया है। इस प्रयास को कोई अन्यथा रूप से न ले।

अब देखिये कि एकांकी क्रिया मोक्ष में पहुंचाने के लिए कितनी उपयोगी है। क्रिया के प्रत्येक सूत्र (शास्त्रवाक्य) को ज्ञानवाद का महत्व समझाने के लिए तर्क के द्वारा काटा गया है।

१. जयं चरे, जयं चिद्रे, जयमासे जयं सए।

जयं भुजंतो भासंती, पादकम्मं न बंधई ॥ दशवं०

यतना पूर्वक चलने, खड़े रहने, बोलने, शयन करने, भोजन करने तथा बोलने से व्यक्ति पाप का बन्ध नहीं करता ।

तर्क—उपर्युक्त क्रियाओं से जब पाप का बन्ध रुक जाएगा तो मोक्ष होने में क्या देर लगेगी ? उपर्युक्त वाक्यों में यतना (विवेक) का महत्व दिया गया है । ज्ञान का नाम भी नहीं लिया गया है । विवेक सहित क्रिया ही पाप बंध को रोकती है । भले ही फिर वह क्रिया आध्यात्मिक या सांसारिक खाने, पीने, सोने जैसी हो अथवा छोटी से छोटी क्रिया भी क्यों न हो ।

इस यतना को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

यतना (विवेक) भी ज्ञान से ही प्राप्त होती है। जीवादि का ज्ञान होगा। तो ही चलने में जीव की रक्षा के लिए विवेक होगा। भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान होगा तो जीव भोजन के विषय में विवेकवान् हो सकेगा।

‘विवेगो मोक्षो’ विवेक ही मोक्ष है। यह वाक्य तो बहुत महान् है। विवेक की प्राप्ति का कारण ज्ञान भी कम महान् कैसे हो सकता है ?

२. मौनेन मुनिः ।

मौन रहने से ही मुनि होता है ।

तर्क—मुनि मौन रहना कहां से सीखेगा ? यह निश्चित है कि मौन रहना यद्यपि वचन प्रयोग क्रिया का अभाव है तथापि मौन एक यत्न पूर्वक की हुई क्रिया ही है । मुनि परिषदादि को सहन करते हुए अपमानादि के वाक्यों को सुनते हुए भी ‘मौन’ रहता है । यह मौन—यह सहिष्णुता भी ज्ञान बल से ही प्राप्त होती है। अन्यथा अनादिकाल से मौन करने के कारण वनस्पति आदि एकेंद्रिय प्राणी (वाचा ही न होने से वे बोल नहीं सकते) भी मुनि कहलाने के अधिकारी होंगे । उसी भय से उपाध्याय श्री यशोविजय को ज्ञानसार अष्टक में कहना पड़ा—

सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु योगानां मौनमुत्तमं ॥

अर्थात्—‘वाचा का उच्चारण करना’ रूप मौन तो एकेंद्रि-
यादि के लिए भी सुलभ है। पुद्गलों में (विषयों में) प्रवृत्ति न
करना यह उत्तम मौन है।

कहिए ! साधु के मौन का क्या अर्थ हुआ ? वाचा का
(अथवा मन तथा शरीर का) मौन साधु को ज्ञान योग से ही प्राप्त
हो सकता है। वह ज्ञान से दुर्वचन, दुष्प्रवृत्ति, दुश्चिंतन का फल
जानता है, मन, वचन एवं काया का मौन करता है। अतः
‘मौन क्रिया’ का कारण भी ज्ञान है।

३. श्रावक शब्द में ३ शब्द हैं—श्रा+व+क ।

श्रा—अर्थात् श्रद्धा या श्रवण (जिस से ज्ञान प्राप्त होता है।)

व—अर्थात् विवेक, क—अर्थात् क्रिया। अर्थात् श्रावक के लिए
तीनों आवश्यक हैं।

४. साधनोति स्वपर हित कार्याणीति साधुः ।”

जो स्व तथा पर का हित साधन करता है, वह साधु होता
है।

तर्क—स्वपर हित साधन में उपदेश, सेवा, तप अहिंसा आदि
समस्त धर्म क्रियाओं का समावेश हो जाता है। परन्तु साधु के
पहले ‘स्वहित’ होता है, बाद में परहित। जो स्वहित नहीं कर
सकता, वह परहित क्या करेगा ?

स्वहित में ज्ञान प्राप्ति प्रमुख शर्त है। जब साधु सारा दिन
स्वाध्यायादि के द्वारा ज्ञानार्जन करेगा, तभी वह स्वहित कर
सकेगा अन्यथा ज्ञान रहित शुष्क क्रियाएं वह सारा दिन रुचि-
पूर्वक नहीं कर सकता। ज्ञान के बिना शुष्क क्रियाएं उस का
कितना ‘स्वहित’ कर सकती हैं ?

५. ‘नमो अरिहंताणं’ ।

कर्म शत्रुओं के नाशक तीर्थंकर को नमस्कार हो ।

तर्क—यहां भी क्रियावाद ही मुखर हो रहा है । कर्मध्वंस की प्रक्रिया क्रिया ही तो है, परन्तु कर्मों का नाश भी सम्यक् ज्ञान के बिना असम्भव है, फिर भले वह ज्ञान एक शब्द 'आत्मा' तक ही सीमित हो । अतः क्रियावादी इस वाक्य से ज्ञान के प्रति-उपेक्षा करे तो समुचित न होगा ।

६. शैलेशी करण क्रिया के बाद ही मोक्ष होता है ।

तर्क—निर्वाण का 'करण' (अविमयात्मकं असाधारणं कारणं करणम्) क्या है ? शैलेशी करण की क्रिया 'करण' नहीं हो सकती क्योंकि वह क्रिया है । भले ही वह 'परम स्थिरता' है तथापि प्रयत्न पूर्वक किए जाने के कारण उसे क्रिया ही कहना चाहिए ।

तो करण कौन होगा ? करण होगा 'केवल ज्ञान' कुछ अंतकृत केवलियों को अपवाद में सम्मिलित करें तो कहना ही होगा कि पहले घातीकर्मों के क्षय से 'ज्ञानावरणीयादि' कर्मों का क्षय होता है । फलतः तुरन्त केवल ज्ञान हो जाता है । केवल ज्ञान निर्वाण के प्रति असाधारण कारण है । अन्तिम समय में की गई योग निरोध की क्रिया से यहां ज्ञान की महत्ता का कम मूल्यांकन करना, समीचीन न होगा ।

७. कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ।

कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है ।

तर्क—क्रोधादि को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, लोभ को संतोष से समाप्त किया जा सकता है । परन्तु क्षमा, नम्रता, सरलता तथा सन्तोष को प्राप्त करने में मुख्य कारण ज्ञान है । ज्ञानी ही तो क्षमावान् नम्र, सरल तथा सन्तोषी होता है । अज्ञानी क्षमाशील न बन कर प्रतिशोध में विश्वास रखता है । विनयी बन कर अहंकारी बन कर मद्यप

(शराबी) की तरह नशे में चूर रहता है, सरस न बन कर घटा-टोप से लोगों की बंचना करता रहता है तथा सन्तोषी न बन कर 'माया' के चक्कर में प्रतिक्षण उलझा रहता है। अतः कषाय मुक्ति में (क्रिया) में भी प्रधान है ज्ञान।

द. अकृतात् अविधि कृतं श्रेयः ।

न करने से अविधिपूर्वक (प्रतिक्रमणादि) करना अच्छा ।

तर्क—यह विधान शास्त्रों में क्यों है? कारण यह है कि जो नहीं करता वह कुछ भी सीख नहीं पाता तथा जो अविधि से भी करता है वह जिज्ञासादि होने से क्रमशः कभी न कभी विधि पूर्वक करना भी सीख जाता है। यह आज्ञा, अर्थ तथा अभ्यास वृद्धि के लिए की गई है।

६. केवल ज्ञानी भरत महाराज को देवों ने तब ही नमस्कार किया जब उन्हें साधु वेष देकर चारित्रधारी बना दिया गया। अतः क्रिया (चारित्र) ही प्रधान है।

तर्क—चारित्रधारी (संयत) को ही वंदना की जाती है। असंयत को नहीं। वेष अर्पण करने से क्या भरत में संयम आ गया था जो कि वेष से पूर्व (केवल ज्ञान) न था? संयम के वेषधारी की ही पूजा करनी चाहिए। इस विधि वाक्य के पालन के लिए भरत को वेष दिया गया था।

यदि केवल ज्ञान से भी साधु वेष की प्रमुखता होती तो घर में ही कूर्मापुत्र केवलज्ञान होने के पश्चात् ६ मास तक घर में ही माता-पिता की सेवा क्यों करते रहे? क्या वे केवलज्ञान के पश्चात् ही साधु वेष धारण नहीं कर सकते थे? (साधु) वेष से भी ज्ञान (केवल ज्ञान) अधिक पूज्य है।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

१८ पुराणों में व्यास के दो ही बचनों का विस्तार है। परोपकार से पुण्य होता है तथा दूसरों को पीड़ा होने से पाप।

तर्क—‘दया’ धर्म का मूल है” जिस क्रिया में दया का पालन है। अहिंसा है—वह धर्म क्यों न होगी? परन्तु दया करने से पहले ज्ञान भी तो अनिवार्य है। जीवादि का ज्ञान न होगा तो मानव दया किस की करेगा? उपकार किस का करेगा? ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ की भावना ज्ञान के अभाव में कैसे उत्पन्न होगी?

११. ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’।

हे प्रभो! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चले।

तर्क—प्रभु तो मार्ग दर्शन ही दे सकते हैं, पथ पर चलना तो साधक को स्वयं पड़ेगा। प्रभु से सद्बुद्धि की याचना करनी चाहिए कि जिस से मानव पापों की ओर कदम न रख कर पुण्य की ओर कदम बढ़ाता चले।

१२. भव्व निव्वेओ मग्गानुसारिआ। (जयवीरराय सूत्र)

इस सूत्र में प्रभु से आचरण (निर्वेद मार्ग का अनुकरण लोकविरुद्ध वस्तु का त्याग, गुरुजन पूजा, परार्थकरण, सुगुह्योग तद्वचन सेवा) की याचना की गई है तथा अन्त में ‘बोधि लाभो अ’ बोधि लाभ की भी याचना की गई है। प्रभु के मार्ग का अनुरक्षण तो वही कर सकता है, जो उस का ज्ञान भी रखता है। अन्नाणी किं काही, किंवा नाहीइ छेअपावगं। अर्थात् अज्ञानी क्या करेगा तथा पाप पुण्य, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को क्या जाने गा?

१३. Character is a locking glass, broken once is gone alas.

चारित्र्य काँच का एक दर्पण है जो कि एक बार टूटने के बाद समाप्त हो जाता है।

तर्क—टूटे हुए चारित्र के जोड़ने के लिए ज्ञान एक पर्याप्त साधन है। सुबह का भूला हुआ व्यक्ति शाम को घर आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते। चारित्र भ्रष्ट कोई व्यक्ति पुनः उपदेश तथा ज्ञान शक्ति से प्रायश्चित्त करता हुआ मार्ग पर पुनः स्थापित हो जाए तो कोई बड़ी बात नहीं है। विषयाकुल तथा भ्रष्ट व्यक्ति ज्ञान के बल से ही संयत रह सकता है।

१४. Character is lost. Every thing is lost.

चारित्र गया तो सब कुछ गया।

तर्क—गया हुआ चारित्र तो वापिस नहीं लौट सकता। परन्तु प्रायश्चित्तादि साधनों से भ्रष्ट हिंसक, पापी, अधम तथा परिग्रही भी तिर जाते हैं। जब ज्ञान की ज्योति, हृदय में प्रज्वलित होती है, तब प्रायश्चित्त, आलोचना आदि के भाव मन में उत्पन्न होते हैं। कौन सा कार्य ऐसा है जो ज्ञान के द्वारा साध्य न हो ?

१५. मनभर जानने से कणभर आचरण श्रेष्ठ होता है।

तर्क—यदि श्रद्धालु व्यक्तियों की बात छोड़ दी जाए तो तर्कवादी प्रायिक व्यक्ति बहुत कुछ जानने के पश्चात् ही कुछ आचरण में लाता है। ये लोग—यदि ज्ञान कम प्राप्त करें, तो आचरण इससे भी कम करेंगे। अतः बेहतर है कि जिनकी रुचि ज्ञान प्राप्ति में है उन्हें ज्ञान प्राप्त करने दिया जाए। जिस से वे शनैः-शनैः आचरण के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। यदि ज्ञान रुचि पर क्रिया जबरदस्ती थोप दी जाए या क्रियावादी पर ज्ञान जबरदस्ती थोप दिया जाए तो परिणाम खराब भी हो सकता है। अतः रुचि अनुसार ज्ञान का अर्जन करने वाला समय आने पर उसे आचरण में भी लाए ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

१६. Speech is silver, but silence is gold.

भाषण चाँदी है परन्तु मौन सोना (स्वर्ण) है।

भाषण चांदी इस लिए है क्योंकि भाषण देने वाला देने के कारण घाटे में रहता है जब कि मौन रहने वाला कुछ लेने (सुनने) के कारण लाभ में रहता है अतः मौन सोना है।

तर्क—चुप रहना सोना है क्योंकि चुप रहने वाला कुछ जीवन में अपनाता है जब कि भाषण देने वाले पर 'परोपदेशे पांडित्य' की धारा लागू हो जाती है।

परन्तु प्रश्न यह है कि भाषण (Speech) देने वाला क्या चुप (Silent) रहे बिना ही भाषण सीख लेता है। पहले वह चुप (Silent) रहकर स्वाध्याय, चिंतन, मनन, श्रवण करता है। उस के बाद ही वह Speaker (वक्ता) बनता है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो Silent लोगों में चुप रहने का ही एक गुण होता है जब कि Speaker लोगों में वस्तुत्व के अतिरिक्त समय पर चुप रहने का गुण भी होता है।

श्रोता (Silent) तो मात्र सुनना ही जानता है। यद्यपि काम यह भी कठिन है। परन्तु वक्ता तो "किस को कैसे सुधारना" इस कला का ज्ञाता होता है, अतः वह तो समाज के लिए एक बरदान होता है; लेखक उस से भी महान् होता है क्योंकि वह अपनी विचार धारा को अनेक लोगों तक घर बैठे हाँ पहुँचा सकता है।

इस प्रकार ज्ञानवादी तथा क्रियावादी दोनों एकांत वादी बन जाएं तो वे परस्पर एक दूसरे के बिना कोई महत्त्व नहीं रखते। मुझे ये इतने उदाहरण इस कारण से लिखने पड़े हैं क्योंकि एकांत ज्ञानवादी या एकांत क्रियावादी समाज में कुछ अधिक ही पनप चुके हैं। उन्हें ज्ञान तथा क्रिया दोनों का संतुलन सिखाना आवश्यक है भगवान् महावीर ने 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' कह कर सभी प्रलापों को शांत कर दिया। ज्ञान आँख है जो कि मात्र जान ही सकती है। कुछ करना उस के वश की बात नहीं। क्रिया पग है जो मात्र चल ही सकती है, कुछ जान नहीं सकता।

दोनों ने सामञ्जस्य के बिना किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती ।

एक अंधा तथा एक लंगड़ा एक जंगल में जा पहुंचे । जंगल में अग्नि ने सभी कुछ स्वाहा करना प्रारम्भ किया तो वे दोनों भी घबरा उठे । दोनों एक-एक कमी के कारण भागने से मजबूर थे । अंधा भागे तो कहां भागे ? लंगड़ा भागे तो कैसे भागे ? अन्ततः लंगड़े की आंख से काम लिया गया तथा अंधे की टांगों से काम लिया गया । प्रयोग पूर्ण सफल रहा । क्योंकि अन्धे के कन्धे पर बैठ कर लंगड़ा इंगित आदि से मार्ग दिखाता हुआ, अन्धे को सही मार्ग पर ले जा चुका था ।

कभी-कभी दोनों में से एक तत्त्व की अल्पता या महत्ता का ग्रहण तो हो सकता है परन्तु एक को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता ।

ज्ञानी क्रिया परः शांतः भावितात्मा जितेन्द्रिय ।

स्वयं तीर्णो भवांभीघेः परांस्तारयितुं क्षमः ॥

ज्ञानसार

ज्ञानो क्रिया से युक्त हो कर शांत तथा वैराग्य से भाविक हो कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता हुआ स्वयं भी संसार सागर से तिर जाता है तथा दूसरों को भी तीर्ण कर देता है ।

येषां न विद्या न तपो न दानं,

ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूतः

मनुष्य रूपेण मृगाचरति ॥ नीति शतक

जो मनुष्य हो कर भी विद्या तथा दान, ज्ञान, शील आदि गुणों को धारण नहीं करते वे मनुष्य लोक में भारभूत हैं तथा मृग के समान हैं ।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणि हु जंतुणो ।

माणुस्सुतं, सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरिअं ॥

चार पदार्थ हैं—मनुष्यता, श्रुति, श्रद्धा तथा संयम में पराश्रम ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः—(तत्त्वार्थ)सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र, यह समुच्चय रूप से मोक्ष मार्ग है ।

णाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा ।

वीरियं उवओगो अ, एअं जीअस्स लक्खणं ॥

आत्मा का लक्षण है ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप, वीर्य तथा उपयोग ।

उपरि लिखित उद्धरणों से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन युक्त ज्ञान तथा चारित्र (क्रिया) ये दोनों मोक्ष के रथ के दो पहिए हैं । जिन पर आरूढ़ हो कर ही मोक्ष की मजिल तक पहुंचा जा सकता है ।

सर्कस में खेल देखते हुए दृश्य की ज्ञान प्राप्ति करने के लिए चक्षु तो खोलने ही पड़ते हैं । चक्षु खुले न होंगे तो क्या ज्ञान प्राप्ति हो जाएगी ? यदि चक्षु तो खुले हैं परन्तु उन को जानने की वृत्ति नहीं है अथवा सामने कोई पदार्थ ही नहीं है तो क्या चक्षु कुछ जान पाएंगे ? नहीं ।

अतएव क्रियावान् को ज्ञान होना ही चाहिए तथा ज्ञानवादी को क्रिया (चरित्र-देशतः या सर्वतः) होना चाहिए ।

एक व्यक्ति यदि मार्ग का ज्ञाता हो परन्तु उस मार्ग पर न चले तो क्या वह लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा ? नहीं ।

एक व्यक्ति मार्ग पर चल तो रहा हो परन्तु सार्थक ज्ञान उसे न हो तो क्या वह लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा ? नहीं ।

तैरने के लिए ज्ञान भी चाहिए तथा हाथ पैर को हिलाने की क्रिया भी चाहिए तथा साथ में प्रयोगात्मक क्रियाएं भी

चाहिए। उदर पूर्ति के लिए न केवल भोजन का ज्ञान चाहिए अपितु भोजन करने के लिए हाथ हिलाने की क्रिया भी करनी ही होगी।

जैसे दीपक स्वपर को प्रकाशित करता है तद्वै ज्ञान स्वपर को प्रकाशित करता है। यद्यपि जड़ क्रिया के द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं, परन्तु जब क्रिया ज्ञान युक्त हो कर अमृत क्रिया बन जाती है तो वह स्वपर प्रकाशक भी बन जाती है। दीपक जड़ होता है परन्तु ज्योति से युक्त होने पर क्या वह स्वपर को प्रकाशित करने में मुख्य भूमिका नहीं निभाता?

अज्ञानी की क्रिया को शास्त्रकारों ने मिथ्या क्रिया, जड़ क्रिया, शुष्क क्रिया तथा विष क्रिया के नामों से अभिहित किया है। निःसार, क्रियावादी क्रिया में ही इतना उलझ जाते हैं कि 'ज्ञान' के प्रति उन का दुर्लक्ष्य हो जाता है। तामलि तपस ने अज्ञान तप करके क्या प्राप्त किया ?

जिस तप से भोक्ष प्राप्त हो सकता था, उस से वह मात्र देवलोक ही प्राप्त कर सका क्योंकि ज्ञान शक्ति का वहां अभाव था। अतः क्रिया के साथ अर्थ का चिंतन भी होना चाहिए। मात्र तोते की तरह राम-राम की रटन ही नहीं होनी चाहिए।

प्रतिक्रमण के सूत्रों को बोलते समय भी क्रिया के साथ उन के अर्थ का चिंतन हो तो पाप का अत्यधिक नाश हो सकता है। पूजा के साथ भाव (अर्थ) का चिंतन हो तो पूजा का फल मिल सकता है। सामायिक के साथ उस का अर्थ (शम) हो तो सामायिक पूनिया श्रावक की भांति फल दे सकती है।

साधना के साथ काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का ज्ञान-पूर्वक नाश हो तो साधना भी सफल हो सकती है,

ज्ञान प्राप्ति में रुचि, एकाग्रता तथा बुद्धि की आवश्यकता

रहती है जब कि क्रिया से निष्कपटता तथा आडम्बर से रहित होने की आवश्यकता होती है।

अभिमान तथा वादविवाद ज्ञान का अजीर्ण है तथा निंदा, कपट, मान, आडंबर क्रिया का अजीर्ण है। साधक को इन दोनों से स्वयं को सुरक्षित करना है। यदि आंतरिक द्वेष वृत्ति तथा बाह्य निंदा (क्रिया करने वालों की) नहीं छूटती है तो क्रिया कर्म-निर्जरा का कारण नहीं बन सकती। यदि उन की अभिमान तथा यशः प्रतिष्ठा की भावना न छूटी तो ज्ञान भी फलदायी नहीं हो सकता।

ज्ञान बिना भाग्य के प्राप्त नहीं होता। ज्ञान बच्चों की तरह सीखना चाहिए तथा क्रिया बुजुर्गों की तरह करनी चाहिए।

कथनी तथा करनी भी समान होनी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि कथनी (ज्ञान) बहुत उच्च हो परन्तु करनी (कर्म) बहुत निम्न हो तथा करनी बहुत उच्च हो परन्तु कथनी (उपदेश ज्ञान) बहुत निम्न हो।

परन्तु ज्ञान तथा क्रिया दोनों का रहस्य स्वाध्याय में छिपा है। स्वाध्याय दोनों की चाबी है। स्वाध्याय एक ऐसा कीमिया है जिस से व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को प्राप्त कर सकता है।

सामायिक आदि में मालाएं गिनने वाले यदि स्वाध्याय की ओर भी कुछ लक्ष्य रखें तो माला में भी अधिक एकाग्रता तथा स्थिरता आ सकती है।

यहां अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि यदि क्रिया के साथ ज्ञान न होगा तो क्रिया में मन न लगने से क्रिया करते हुए भी मन में अनेक विचार आते रहेंगे।

तथा यदि ज्ञान के साथ क्रिया का पूर्ण पालन न होगा तो पाप क्रियाएं जीवन में स्थान जमा लेंगी। ज्ञानी निर्जरा भी अधिक करता है तथा पाप करते हुए पाप भी अधिक बांधता है।

तब यह समस्या उग्ररूप धारण कर लेती है, जब वह तथाकथित ज्ञानी पाप को पाप ही नहीं समझता ।

मूर्खः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यः विशेषज्ञः ।

ज्ञानलव दुर्विदग्धं, ब्रह्मापि शक्तः न बोधयितुं ॥

ऐसे ज्ञानी यदि धर्म क्रिया से विमुख रहेगा तो पाप क्रिया अवश्यमेव करेगा । वह उस ज्ञान का प्रयोग पाप की वृद्धि के लिए करेगा । वह सम्यक् क्रियाओं (रात्रि भोजन त्याग, व्रत, नियम आदि) के बिना सुखशील बन जाएगा । यह सुखशीलता क्रिया की प्रथम शत्रु है । अतः एव शास्त्रकारों की साधु के लिए कठोर आज्ञा है ।

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमिय खु दुक्खं ।
(दशवै०)

हे श्रमण ! तू सुखशील मत बन । श्रम करके अपना श्रमण नाम सार्धक कर ! ग्रीष्म ऋतु में कड़कती धूप में आतापना ले । सुकुमारता को छोड़ दे क्योंकि कामों को कामित करने से ही दुःख उपलब्ध होते हैं । श्री कृष्ण भी गीता में ज्ञान दर्शन चारित्र योग को क्रमशः ज्ञान भक्ति तथा कर्म कह कर पुकारते हैं ।

योग शास्त्र में ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब चारित्र के भेदों के रूप में अहिंसा आदि का वर्णन किया जाएगा ।



अहिंसा

अहिंसा सूनुतास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।

पंचभिः पंचभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥१८॥

अर्थ :—योग शास्त्र में कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य योग के साधन के रूप में ज्ञान दर्शन और चारित्र्य को बताते हुए चारित्र्य की परिभाषा करने के पश्चात् उस के भेदों का निरूपण करते हैं । उन के अनुसार चारित्र्य के पांच भेद हैं ।

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अस्तेय
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह ।

प्रत्येक महाव्रत की पांच भावनाएं जिन से महाव्रत दृढ़ होता है ।

सर्व प्रथम अहिंसा का स्वरूप बताते हुए उन का यह सुन्दर कथन है कि—

न यत् प्रमाद योगेन जीवितव्यपरोपणम् ।

असाणां स्थावराणां च, तदाहिंसा व्रतं मतं ॥२०॥

अर्थ :—प्रमाद के योग से किसी के प्राणों को हानि न पहुंचाना—उस का नाम अहिंसा है । परिभाषा बहुत छोटी है ।

बड़ी वस्तु का लक्षण सदैव बहुत छोटा होता है। यहाँ पर जो बात की गई है वो ही बात आचार्य उमास्वाति ने भी कही थी। उन्होंने कहा तत्त्वार्थ सूत्र में—

प्रमाद योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा ।

प्रमाद के योग से किसी प्राणी के प्राणों का वध कर देना हिंसा है तथा उस के विपरीत अहिंसा है। किसी के प्राणों को मार देना, किसी को कष्ट पहुंचाना, किसी को दुःख देना उस का नाम हिंसा नहीं, परन्तु हिंसा की परिभाषा में उन्होंने एक विशेष शब्द का संयोजन किया, 'प्रमाद के योग से'। जो हिंसा प्रमाद के योग से होती है, उसे हिंसा के नाम से अभिहित करना चाहिए। जिस हिंसा में प्रमाद का योग नहीं, वह हिंसा भी हिंसा नहीं। प्रमाद क्या है? प्रमाद के आठ भेद बताये गए हैं।

प्रमाद—अज्ञान, संशय, विपर्यय, रागद्वेष, अस्मृति (भूल जाना) और मन वचन काया की जो प्रवृत्ति—उस का नाम प्रमाद है। मन वचन काया की प्रतिकूल प्रवृत्ति प्रमाद बन ही जाती है।

जो हिंसा प्रमाद के योग से होती है वो प्रमाद वास्तव में क्या है? यदि आप प्रमाद को समझ लेंगे तो आप हिंसा को भी समझ लेंगे। हिंसा को समझ लेंगे तो आप अहिंसा को भी धारण कर लेंगे।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि महाराज ने कहा है कि मन, वचन, काया के अशुभ योगों से हिंसा होती है। आप का मन किस तरह से सोचता है? आप की ब्राणी किस तरह से वचन का प्रयोग करती है? और आप की काया किस तरह से अपने आप को प्रयुक्त करती है? जिस तरह से वह प्रयोग करेगी उसी कारण से वह हिंसा या अहिंसा बन जाएगी।

योग शास्त्र

सपाप तथा निष्पाप मन ही मनुष्य के लिए बंध तथा मोक्ष का कारण बन जाता है ।

मन एवं मनुष्याणां, कारणं बंधमोक्षयोः ।

तंदुलिया मच्छ मन में मात्र विचार ही करता है कि यह बड़ा मगरमच्छ मूर्ख शिरोमणि है जो कि मुख में आगम्यमान मछलियों को बिना निगले छोड़ रहा है यदि मैं इस का स्थानापन्न होता तो अवश्य ही समस्त मत्स्यों को उदरसात् कर जाता । यही मन के विचार चाबल के सदृश काया वाले तंदुलिक मच्छ को सातवीं नरक में ले जाते हैं । मनोभावों का हिंसा तथा अहिंसा के साथ अतीव सम्बन्ध है । हिंसा में क्लुषित मनोभावों का प्राधान्य रहता है ।

दूसरा दृष्टांत है प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का । जिस समय वो संसार को छोड़ कर एक पैर पर खड़े होकर सूर्य के सम्मुख दृष्टि लगा कर ध्यान कर रहे थे, उस समय श्रेणिक सम्राट् के सैनिक वहां मुनि को देख कर बातें करते हैं । सुमुख मंत्री बोला, "अहो ! ये मुनि कितने महान् हैं, कितने तपस्वी हैं ।" तब दूसरा दुर्मुख नाम का मंत्री बोला, "क्या यह मुनि है ? यह मुनि नहीं है, यह तो अपने छोटे राज कुमार का राज्याभिषेक करके भाग निकला है, जंगल की ओर । इस को यह ज्ञात नहीं कि इस के पुत्र पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है, इस का बालक शत्रुओं से मारा जाएगा तथा प्रजा की रक्षा भी न हो पाएगी । यह तो महामूर्ख मुनि हैं, महामुनि कहां ? यह वार्तालाप प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने सुना ? मन में विचार आने लगा कि जब तक मैं बैठा हूं तब तक कोई मेरे बच्चे को मार कैसे सकता है ? मन में यह विचार आया और मन ही मन विचारों का स्रोत प्रवहमान होना प्रारम्भ हो गया । मन में सोचते ही सोचते ही रहे, रहे कि जो भी शत्रु है उसे मार कर भगा दूं । उन्होंने विचारों के द्वारा मन ही मन

युद्धआरम्भ कर दिया। तलवार, गदा, बन्दूक तथा अन्य हथियारों के द्वारा वो युद्ध कर रहा है। मन में कलुषित विचार है कि शत्रु को मार डाल, समाप्त कर दू। एक मुनि और मन के इतने कलुषित विचार ?

इन विचारों के द्वारा वह सातवीं नरक के योग्य कर्मों का संचय करता है यह तो उस का पुण्योदय था कि इन कर्मों का निकाचित बन्ध नहीं हुआ। यदि उन का निकाचित बंध हो जाता तो वे निश्चित ही सातवीं नरक में चले जाते। जो निकाचित बंध नहीं हुआ वह उन का भाग्योदय और पुण्योदय था।

जब मन ही मन लड़ते हुए सारे शस्त्र समाप्त हो गये तो उन के मन में विचार आता है “अरे ! मेरा मुकुट तो अभी शेष है।” राजाओं के पास मुकुट होता है वह भी कभी काम आ जाता है। उन्होंने सोचा, ‘मुकुट के द्वारा ही मैं उस शत्रु को मार दूंगा। ऐसे विचार के साथ हाथ सिर के ऊपर करके जब मुकुट उतारने लगते हैं तो पाते हैं “अरे ! यह क्या हो गया ? मेरे मस्तक पर मुकुट तो क्या ? केशराशि भी नहीं है।” क्रम से विचार आता है—‘यह मुकुट तो मैं स्वयं उतार कर आया हूँ। अरे ! मैं तो साधु हूँ। साधु बन जाने के पश्चात् मेरे मन में ये कैसे विचार ? अहो ! ऐसे हिंसा के विचार क्यों आ गये ? ऐसे विचार एक साधु के मन में ? ऐसे विचार मुझे कहाँ शोभते हैं ? मैंने बहुत गलत काम किया। मैंने बहुत बुरा विचार किया। वे मन में दुःखी होते हैं।

समवसरण में पहुँच कर श्रेणिक महाराजा ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा कि वह साधु (प्रसन्न चन्द्र) यदि अभी ध्यानावस्था में मर जाए तो कहाँ जाएगा ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि वह अशुभ विचारों के द्वारा सातवीं नरक में जाएगा। क्षणांतर में श्रेणिक ने पुनः पूछा तो महावीर ने उत्तर

दिया यदि अब वह मृत्यु प्राप्त हो तो स्वर्ग में जाएगा। इतने में प्रसन्न चन्द्र संचित कर्मों की आलोचना करते हैं। उन्हें पश्चाताप होता है। सद्भावना का भाव जागृत होता है। कर्म समाप्त होने प्रारम्भ हो जाते हैं तब पुनः श्रेणिक महाराजा ने भगवान् महावीर से पूछा तो भगवान् महावीर ने कहा कि प्रसन्न चन्द्र को केवल ज्ञान हो जायेगा। तभी देवदुभि बजती है अर्थात् मुनि को केवलज्ञान हो जाता है। मात्र एक अन्तर्मुहूर्त में उन की भावना का विकास होता है। मन के विचारों के द्वारा क्या होता है! यह आप समझ गए होंगे।

भावना भवनाशिणी।

भावना भववर्धनी।

जैसी आप की भावना होगी वैसा ही फल होगा। भावना से संसार की वृद्धि भी हो सकती है तथा संसार भ्रमण कर्म भी हो सकता है। जैसी भावना होगी, वैसे ही फल मिलेगा। गो स्वामी तुलसीदास के शब्दों में—

“कर्म प्रधान विश्व रचि राखा,

जो जस काहि सो तस फल चाखा।”

मन के विचारों पर बहुत कुछ आधारित है यदि आपके मन में विचार श्रेष्ठ हैं, तो संसार भी श्रेष्ठ है तथा यदि मन के विचार कलुषित हैं तो संसार की कोई वस्तु दुर्गति में जाने से आप की रक्षा न कर पाएगी। प्रमाद क्या है? सामान्य रूप से “आत्मा की जागृति न होना अथवा विवेक न होना” इस का नाम प्रमाद है।

मानो आप चले जा रहे हैं। मार्ग में आप के पैर के नीचे आ कर कीड़ी मर गयी। क्योंकि आप ने चलने में विवेक नहीं रखा, आप नीचे देख कर नहीं चले, आप आराम से चले जा रहे थे। अतएव कीड़ी (निर्दोष प्राणी) मर गई। यदि आप ऊपर पंखी को देखते हुए जा रहे हो तथा इसी मध्य आप के पैरों तले

कीड़ी कुचलो जा रही है। उस समय जो प्रमाद है उस से विशेष पाप का बंध होता है।

आप मन से किसी को दुःख दें तो वहां भी हिंसा है। आप वचन के द्वारा किसी को भला बुरा कह देते हैं और उसे दुःख होता है तो एतद् द्वारा भी हिंसा होती है। आप काया के द्वारा किसी को मारते हैं या हानि पहुंचाते हैं तो वह समस्त क्रिया हिंसा ही है।

यहां एक ही बात सोचने तथा समझने योग्य है कि प्रमाद, अविवेक अथवा अजागृति का ही दूसरा नाम है।

अविवेक :—मान लो ! आप चले जा रहे हैं। आप के मन में विवेक है। आप के मन में किसी कीड़ी या प्राणी को मारने की भावना नहीं है। मन में जागृति है। सद्भावना है। जीव रक्षा की भावना है। तथापि अनायास आप के पैर के नीचे कीड़ी आती है और न जानते हुए मर जाती है। यहां जो पाप का बंधन होता है वह अल्प होता है। मात्र 'इरियावहिय' आदि करने से वह पाप समाप्त हो सकता है। क्योंकि कीड़ी तो वहां मर जाती है, परन्तु उसे मारने की भावना नहीं है। उसे समाप्त करने का विचार नहीं है, प्रमाद नहीं है, अतः मात्र अनुताप के विचार से पाप समाप्त हो जाता है। वहां जीव को बचाने की भावना है, मन में जागृति है, विवेक है, अतः कीड़ी के मरने से पाप का अल्प बंध होता है। प्रमाद हिंसा की जड़ है और विवेक अहिंसा का मूल है।

मान लो ! आप चले जा रहे हैं। आप के मन के भाव अच्छे नहीं हैं और आप किसी व्यक्ति को मारते हैं तथा उस व्यक्ति को दुःख होता है तो मन के विचार अच्छे न होने से तथा उसे जानबूझ कर मारने से अधिक पाप बंध होता है।

यदि आप विवेक पूर्वक देख कर चल रहे हैं। तथापि कीड़ी मर जाए तो जानबूझ कर मारने से होने वाले पाप से यह पाप अल्प होता है। मन के क्लुषित विचारों से जो पाप होता है इस

योग शास्त्र

पाप का बंध अल्प नहीं होता। कलुषित विचारों का हिंसा से बहुत सम्बन्ध है। वर्तमान में लोग धर्म ध्यान बहुत करते हैं, लेकिन उन में विवेक का अभाव है।

यदि आप भगवान् की पूजा करते हैं, पूजा करने के लिये पुष्पों तथा जल का उपयोग करते हैं। जल का उपयोग करते हुए यदि आप के मन में अविवेक तथा प्रमाद है तो हिंसा का दोष लगता है। क्योंकि फूल तथा जल सच्चित्त हैं और फूल चढ़ाते समय भी विवेक नहीं है, प्रमाद है तो हमें हिंसा का दोष लगता है।

पुष्पों में तथा जल में त्रस प्राणी होते हैं। यदि वे हाथ लगने से मर जाते हैं, कचले जाते हैं तो हिंसा का दोष लगता है। आप को सच्चित्त वस्तु को हाथ लगाने से भी दोष नहीं लगता, क्योंकि आप के मन में विवेक है अप्रमत्त दशा हैं। अविवेक और प्रमाद नहीं है। अतः मन के साथ हिंसा और अहिंसा का गहन सम्बन्ध है।

शास्त्रकार यहां पर अहिंसा की पांच भावनाओं का निरूपण करते हैं :— १. 'मनोगुप्तिः' मनोगुप्ति का अर्थ है—मन को गुप्त कर लेना। मन के विचारों को मुक्त करना-दूर करना। यदि आप के मन में अशुभ संकल्प और विकल्प आदि रहे हैं तो आप को हिंसा का दोष लगता जा रहा है, पाप का बंधन होता जा रहा है। अतः मनोगुप्ति अहिंसा के सम्बन्ध में प्रथम लक्षण है, प्रथम भावना है। शेष चार भावनाएं काया की प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। २. ईर्या समिति ३. एषणा समिति ४. आदान भंडमत निस्खेवणा समिति ५. आहार ग्रहण इन चार भावनाओं द्वारा भी अहिंसा का पालन हो सकता है। तात्पर्य है कि आप चलो तो विवेक पूर्वक चलो। यदि आप का शरीर किसी प्राणी का वध करता है, मारता है, तो आप को हिंसा का दोष लगता

है। अपनी आंखों के द्वारा सामने या नीचे की तरफ साढ़े तीन हाथ आगे दृष्टिपात करके देख कर चलो। दृष्टि के द्वारा स्थान को देखने के बाद ही कदम रखो। इस का नाम है ईर्या समिति।

महाभारत के अनुसार : दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिवेत् जलं। अर्थात् दृष्टि से देख कर पैर रखना चाहिए तथा वस्त्र से छान कर जल पीना चाहिए। आज आप अंधाधुन्ध ही चलते हैं। भागते दौड़ते गाड़ी में जाते हैं। आप सारा दिन सामने देख कर चलते हैं क्या? यदि नहीं तो आप कितना बड़ा पाप का बन्धन करते हैं। साधुओं के लिए जो पद-विहार भगवान् महावीर स्वामी ने बताया है। इस का यही कारण है कि साधु का जीवन निष्पाप हो जाए। अहिंसा का पालन नहीं होता इसी लिए ईर्या-समिति में दोष लगता है। पाद विहार के द्वारा अहिंसा का पालन करने वाला हिंसा का दोष अपने जीवन में नहीं लगाता।

एषणा समिति :—एषणा समिति का अर्थ है कि हम जो आहार इत्यादि लेते हैं उसे देख कर लें। पिंडशुद्धि से लें। आहार भोजन इत्यादि लेने में हमें ध्यान रखना चाहिए। उस का नाम है एषणा समिति।

आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिति :—आप कोई वस्तु लेते हैं कोई वस्तु देते हैं। कोई वस्तु कहीं पर रखते हैं। कोई वस्तु उठाते हैं। इस प्रक्रिया में विवेक का परिचय दो। सोच कर ही पदार्थों का आदान प्रदान करें। विवेक पूर्ण रीति से तो अहिंसा है, अन्यथा हिंसा के पाप का बन्धन है।

आहार ग्रहण :—सच्चित्त की हिंसा का त्याग। साधु जब भी आहार लें चारों तरफ देख कर ले कि कोई भाई या बहन किसी सच्चित्त वस्तु को स्पर्श तो नहीं कर रहा है? यदि स्पर्श हो रहा हो तो आहार ग्रहण में दोष लगता है। आहार लेने की विधि सम्यक् होनी चाहिए। अगर वह सम्यक् नहीं होगी तो हिंसा का दोष लगेगा।

ये पांच भावना आचार्य हेमचन्द्र जी ने आप के समक्ष रखी हैं जिस से आप अहिंसा का पालन सरलतया कर सकें। अहिंसा को समझ सकें तथा पाप के बन्धन से बच सकें।

इस हिंसा अहिंसा के प्रकरण में दान में से अभयदान का वर्णन आता है। प्रथम दान अभयदान का वर्णन यहाँ प्रकरण संगत ही होगा।

अभयदान :—अभयदान सर्वोपरि दान है। इस का अर्थ है-- किसी के प्राणों की रक्षा करना। किसी मरते हुए जीव की रक्षा करना। जीव को अभय देना। सब से बड़ा दान अभयदान है। जो अभय दे देता है उसे भी अभय मिल जाता है। वह किसी प्रसंग में फंस जाए या कोई कत्ल का आरोप लग जाए तो वह स्पष्ट रूप से बच कर निकल जाता है। यह तभी हो सकता है जब कि हम ने किसी को अभय दान दिया हो। अभय दान पर एक सुन्दर दृष्टांत है रूपवती रानी का। इस प्रसंग का बहुत सुन्दर चित्र हमारे आचार्यों ने किया है।

एक राजा ने एक चोर को पकड़ लिया तथा फांसी का निर्णय सुना दिया। राजा की चार रानियाँ थीं। उन्होंने राजा से कहा, "यह चोर अब थोड़े दिनों में मरने वाला है। अतः हमें थोड़े दिन उस की सेवा कर लेने दीजिए।" राजा ने स्वीकृति प्रदान की।

पहली रानी चोर के लिए बहुत स्वादिष्ट भोजन तैयार कराती है। चोर जब भोजन खाता है तो देखता है कि स्वादिष्ट एवं सुन्दर पकवान उस के सम्मुख हैं। राजा के घर का भोजन बढ़िया ही होता है। लेकिन उस भोजन में उस का मन नहीं लगा। इतना स्वादिष्ट भोजन वो खाता है परन्तु उसे भोजन का स्वाद नहीं आता। भोजन करने में कोई मजा नहीं आता। ऐसे मजा आएगा क्या? मस्तक पर मौत की तलवार रखी हुई है। अतः स्वादिष्ट

भोजन करने में मजा नहीं आया।

जब दूसरी रानी ने उस की सेवा के लिए बहुत मुन्दर-स्वादिष्ट भोजन बनवाया तथा उसे खिलाया साथ में दक्षिणा भी दी तथा उसे नृत्य आदि भी दिखाया। परन्तु चोर का मन नहीं लगता। उस के मन में यही विचार चलते हैं 'क्या खाऊँ ये सध मिष्टान्न और क्या देखूँ ये नृत्य अरे! चार पांच दिन के बाद तो फांसी होने वाली है।' अतः उसे ये माल-पानी खाने में मजा नहीं आया।

जब तीसरी रानी ने चोर की सेवा के लिए चोर को बढ़िया भोजन खिलाया और न केवल नृत्य अपितु साथ में संगीत इत्यादि भी आयोजित किया। चोर को प्रसन्न करने की यह नवीन विधि थी। परन्तु फिर भी चोर का मन नहीं लगा। क्योंकि सामने उसे मौत ही दृष्टिगत हो रही थी। फांसी में दो चार दिन की ही देर थी। कैसे मन लगता भोजन, नृत्य, संगीत में? मरने से दुनियां बहुत डरती है। लोगों में मृत्यु का भय बहुत है। एक छोटा सा कीड़ा नाली में दुर्गंध में रहता है, वह भी मरना नहीं चाहता। और स्वर्ग लोक का इन्द्र तथा पृथ्वी लोक का चक्रवर्ती भी मरना नहीं चाहता। अतः जो मृत्यु है वह सब को अप्रिय है।

सर्वे जीवावि इच्छन्ति, जीविजं न मरिज्जिजं ॥

इस का तात्पर्य है कि सब प्राणी जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता।

और जब चौथी रानी रूपवती को चोर की सेवा करने का अवसर मिला तो उसने क्या किया? भोजन इत्यादि के पूर्व वह राजा के पास जाती है और उनको निवेदन करती है। हे राजन्! मैं इस की सेवा तो करूँगी, परन्तु मेरी एक इच्छा है। मुझे प्रतीत होता है कि इस चोर के मन पश्चात्ताप हैं, इसे मैं स्वयं उपदेश देकर सुधार लूँगी। आप इस बारे में निश्चित रहिए तथा चोर

को अभयदान (जीवन दान) दे दीजिए। इस की फांसी वापस ले लीजिए। उसे जीवनदान का वरदान दीजिए। राजा ने रानी की बात को समझा एवं माना भी। उस ने चोर को मुक्त करने का आदेश दिया। चोर को अभयदान दिया गया। रानी ने चोर को जीवन दान की बात कही तो चोर प्रसन्न-वदन हो गया और रानी ने उसे भोजन खिलाया। यद्यपि उस भोजन में मिष्टान्न नहीं था तथापि उस चोर को वह भोजन मिष्टान्न से भी अधिक स्वादिष्ट प्रतीत हुआ। उस ने प्रेम से वह भोजन खाया तथा मन में प्रसन्न होकर सोचने लगा कि कितना स्वादिष्ट भोजन है। रोटी, साग और मारवाड़ का पापड़ यह तीन वस्तुओं का भोजन चोर को मिष्टान्न के भोजन से भी अधिक प्रिय लगा। वह विचार करने लगा, 'तीन-तीन दिनों तक मैंने जो भोजन किया है उस में वह मजा नहीं आया जो मुझे इस भोजन में आ रहा है। क्या यह भोजन श्रेष्ठ था? किस कारण से यह भोजन अच्छा लगता था।

चोर को जीवन का दान मिल गया था। इसलिये उसे यह भोजन सब से अधिक प्रिय लगा। जो व्यक्ति अभयदान देता है, उस दान के समान विश्व में कोई भी दान नहीं है।

आज हमारे भारतवासी गायों को बचाने की बातें करते हैं और मनुष्यों की रक्षा का कितना प्रयत्न कर रहे हैं कई लोग जैन लोगों की निंदा करते हैं, जैन लोग कैसे हैं?

पानी पीओ छानकर, मनुष्य सारो जानकर।

वर्तमान में अनेक दुष्कृत्यों एवं समाज विरोधी कार्यों में जैन लोगों का नाम बदनाम हो रहा है—यह लज्जा तथा खेद का विषय है। यह हमारे जैन धर्म की आज दशा है। अहिंसा के कारण जैन धर्म तो विश्वधर्म बनने के योग्य है जब कि अधम लोगों के नीच कार्यों के कारण जैन धर्म का अपमान हो रहा है। कितना कर्मों का बन्धन हो रहा है।

शास्त्रों में कहा है कि शासन की प्रभावना करनी चाहिये। कितनी सुन्दर वे लोग शासन की प्रभावना कर रहे हैं ! अहिंसा को तब तक जीवन में स्थान नहीं मिल सकता जब तक हमारा व्यवहार शुद्ध नहीं। अतः प्रथमतः व्यवहार शुद्ध करो। लोग यहां पर सामायिक करने बैठ जाते हैं और दुकान में जा कर ग्राहक की जेब पर छुरी चलाने की बातें सोचते हैं। ग्राहक के कपड़े तक उतार देते हैं। वे लोग सोचते हैं कि यह गलती से हमारी दुकान पर आ क्यों गया है। इस के कपड़े तुरन्त उतार लो। कपड़ों में जेब तो आ जायेगी न साथ में ? आप लोगों की भावना ग्राहकों को फंसाने की और उन को पूरी तरह खाली करने की होती है। बन्धुओ ! क्या होगा ऐसी सामायिकों से। जीवन की शुद्धि बहुत आवश्यक है।

अपने मन में अहिंसा की भावना होनी चाहिए। हमें किसी को काया के द्वारा दुःख नहीं देना है। अरे ! मन के द्वारा दुःख की बात सोचनी भी नहीं है। वचन के द्वारा किसी को बुरा नहीं कहना है। यदि ऐसा भाव होगा तो अहिंसा को जीवन में स्थान मिलेगा। यदि अहिंसा आप के जीवन में आ जाये तो आप का जीवन जो बिगड़ा हुआ है वह सुधर जाए एवं मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाये।

वर्तमान में मांसाहार का प्रचार बहुत हो रहा है। देवनार के कत्लखाने से मटन (मांस) आता है और वहां से मक्खन के डिब्बों में बंद होकर आप के घर में अब पहुंच जाता है। आप समझते हैं कि मक्खन खा रहे हैं परन्तु वह वस्तुतः मांस होता है।

देखिए कैसा-कैसा तजुर्बा हो रहा है ! आजकल अनाज की कमी होती जा रही है कारण कि सरकार का भी यही मन हो गया है कि लोग मांस खाएं तो अच्छा है क्योंकि मांस की कमी नहीं है और होने वाली भी नहीं है। मांसाहार का बहुत प्रचार

हो रहा है। बहुत बचने की आवश्यकता है। सारे जीवन में एक बात याद रखना कि यदि आप का आहार शुद्ध नहीं होगा तो आप का आचार विचार और व्यवहार कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता है। आज कल तो शाकाहारी अण्डे भी बाजार में आ गये हैं। वेजीटेरीयन अंडे ! बिल्कुल वेजीटेरीयन ! मानों वो जमीन (पृथ्वी) से उगे हों। अंडे-वनस्पति की तरह, आलु गोभी की तरह, भिंडी की तरह क्या जमीन में उगते हैं ? जब वे जमीन में से उग नहीं सकते तो शाकाहारी कैसे हो गये ? वो शाक कैसे बन गया। वह मांस है, प्योर मांस है क्योंकि वह मुर्गी के अन्दर से निकलता है। मुर्गी का भाग है उसे शाकाहारी कहना भी बेवकूफी का प्रमाण देना है।

लेकिन आज कल हमारे युवक तथा कई सम्प्रदायों के लोग ब्राह्मण वैश्य, शूद्र और हमारी समाज के लोग भी सत् संगति (?) के कारण बिगड़ जाते हैं। वे सब कुछ खाते पीते हैं। आप को पता भी नहीं होता। आप कहते हैं कि हमारा बच्चा तो बहुत अच्छा है। जाकर तो देखो उन की खराब आदतें। शराब पीना, मांस खाना, क्लबों एवं होटलों में जाना आना। कौन-कौन से अच्छे काम वह करता है ? आप भेजते हैं अपने बच्चे को फॉरेन में। स्वयं मत जाना। भेजते हैं अपने बच्चों को। स्वयं जाओगे तो स्वयं बिगड़ जाओगे, पतित हो जाओगे तथा स्वयं नरक में जाना पड़ेगा। यह मालूम है इस लिए बच्चों को भेजते हैं। बच्चे नरक में जाएंगे तो पता चलेगा। ठीक है न ? श्री कृष्ण महाराज अपनी पुत्रियों को भागवती दीक्षा के लिए समझाते थे ताकि वे दुर्गति में न जाएं। आप अपने बच्चों को विजनेस के लिए अमेरिका भेजते हैं। ऐश-ओ-इशरत के लिए गोवा और कश्मीर भेजते हैं या ? वहाँ जा कर वे क्या काम नहीं करते ? सारी दुनियां के

‘पापड़ बेलते’ हैं। दुनियां के सब काम करते हैं और जब घर पर आ पहुंचते हैं तब ऐसे सीधे साधे ! कि जैसे उन को A, B, C. नहीं आती। आप समझते हैं कि हमारा बच्चा बहुत अच्छा है। आप उस का गुणगान करते हैं कि हमारा बच्चा कितना qualified है, वह अमेरिका जा कर आया है। आप ने क्या उसे समझाया ? आप ने तो उस के जीवन का पतन कर दिया। वर्तमान से बचने की आवश्यकता है।

कदम-कदम के ऊपर कांटे बिछे हैं।

कदम-कदम पर फिसलन है।

कदम-कदम पर सम्भलना है ॥

यदि एक भी कदम फिसल गए तो याद रखना सीधे सातवें पाताल में जाओगे। कोई रक्षक न मिलेगा वहां। आप को मालूम है कि ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियां होती हैं। नीचे पड़ने के लिए सीढ़ियां होती है ना ? क्या जरूरत है नीचे गिरने के लिए सीढ़ियों की ? ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की आवश्यकता होती है और नीचे उतरने के लिए तो छलांग ही काफी हैं। केवल एक छलांग लगाई और सीधे सातवें पाताल के अन्दर तक, सीढ़ियां उतरने की आवश्यकता नहीं है। गिरने के लिए एक मिट भी नहीं लगता, चढ़ने में देर लगती है। जीवन में आहार शुद्धि की आवश्यकता है। जीवन में यदि आहारशुद्धि को अपनाया तो आप का जीवन शुद्ध अहिंसावादी बन सकता है। जैसे गांधी ने अहिंसा का सिद्धांत बताया और नेहरू ने पंचशील सिद्धांत विकसित किया। यह सब हमारी जैन धर्म की देन हैं। हमारे जैन धर्म के सिद्धांत की, अहिंसा के सिद्धांत की, महावीर के उपदेश को सारा विश्व स्वीकार कर ले तो मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि सारे संसार में जो युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, समाप्त हो सकते हैं। तथाविश्व शांति कायम हो सकती है। परमाणु शांति के लिए

बनाए जाते हैं ? बहुत सुन्दर ध्येय है उस का । परन्तु वो ही परमाणु बम जब लोगों की हत्या का कारण बन जाता है तो मानवता का नाश स्पष्ट दुग्गोचर होता है । परमाणु विस्फोट के आधार पर फिल्म बनी है । वह फिल्म सम्भवतः कृत्रिम होगी । आजकल लोग फिल्मों से अधिक समझते हैं । उस में बताया गया है कि परमाणु विस्फोट होने के पश्चात् उस का क्या प्रभाव होता है । इस बात के लिए उस फिल्म में सिर्फ तीन सैकेण्ड का दृश्य दिखाया गया है । ऐसा करुण अन्जाम ! इतना करुण दृश्य होता है कि इन्सान देख नहीं पाता ? फिल्म में परमाणु विस्फोट हुआ ? यदि मानव के पास दिल हो तो बस मात्र तीन सैकेण्ड का दृश्य देख कर व्यक्ति का हार्टफेल हो जाए । वह करुण दृश्य देखा नहीं जा सकता, देख कर आंखों में आंसू आ जाते हैं । छोटे दिल वाले व्यक्ति का तो हार्टफेल ही हो जाए । उस दृश्य के पहले सैकेण्ड में परमाणु विस्फोट होता है । दूसरे क्षण में वहां खड़ी एक सुन्दर षोडशी कन्या का सुन्दर सवस्त्र शरीर हाडपिंजर हो जाता है । वह युवती सुन्दर नहीं रहती । पलक झपकने की ही देर है कि तीसरे सैकेण्ड में वह हड्डियों का गट्टड़ भी समाप्त हो जाता है । वह जलकर राख बन जाता है । मात्र तीन सैकेण्ड के अन्दर ही वे सब हो जाता है । यह तीन सैकेण्ड की प्रक्रिया एक युवति की कथा नहीं है । यदि इन्हीं ३ सैकेण्ड के अनुभव से किसी देश को गुजरना पड़े तो उस देश का एक भी प्राणी जीवित न बचे । यदि हम परमाणु अस्त्रों का प्रयोग करें तो एक बार नहीं सत्ताईस सत्ताईस बार हम विश्व को समाप्त कर सकते हैं । इतना शस्त्रों का भंडार आज हमारे पास है ।

आवश्यकता है महावीर की । आवश्यकता है गांधी जी की । क्या आज हमारे पास है ऐसा-गांधी ? ऐसा गांधी पैदा करके तो दिखाओ ? नहीं हो सकता । ऐसा गांधी हजारों वर्षों के बाद

पैदा होता है जो अहिंसा के सिद्धांत पर चलने की प्रेरणा देता है तथा अहिंसा का पालन करना जानता है। आज हमें अहिंसा के लिए दृढ़ संकल्प करना है। प्रतिज्ञा कर लेनी है। अहिंसा को जीवन में स्थान देना है। हिंसा को दूर से ही छोड़ देना है अपने आप को शुद्ध बनाना है, अहिंसावादी बनाना है।

जीवन में आहार शुद्धि तथा विचार शुद्धि भी होनी चाहिए। हमारे भारतवर्ष में कैसे माँसाहार का प्रचार हो रहा है। लोग कहते हैं कि माँस खाने में हर्ज क्या है? उन के तर्क बहुत विचित्र हैं—यथा “यदि आप एक दिन में हजारों लाखों गेहूँ के दाने खाते हैं, तो उन सब दानों की हत्या करते हैं। इस से तो अच्छा है कि एक हाथी को या किसी बड़े प्राणी को मार के उस का माँस महीना भर खाओ कि जिस से एक ही हत्या का पाप लगे। ऐसे-ऐसे अहिंसा के दुश्मन हमारे देश में पैदा हो गये हैं। क्या है उन की दलील? अरे, मैं कहना चाहूँगा कि यदि ऐसे-ऐसे विचार आप के मन में प्रविष्ट हो गए तो दिवाला निकल जाएगा, जीवन का, जीवन बरबाद हो जाएगा। हाथी पंचेन्द्रिय प्राणी है, और गेहूँ एकेंद्रिय प्राणी है। हाथी की हत्या गेहूँ की हत्या से विशेष समझी जाएगी। हत्या हिंसा आत्म-विकास से सम्बन्धित है। जिस का जैसा आत्म विकास और उस की जैसी हिंसा वैसा ही आप को पाप लगता है। हमारे लोक-व्यवहार में कोई कीड़ी को मारता है तो कीड़ी को मारने के पश्चात् न्यायाधीश उसे सजा नहीं करता। कोई उसे पूछता भी नहीं कि तूने कीड़ी को क्यों मारा। जब कोई हाथी या घोड़े की हिंसा करता है तो उसे फाँसी की सजा नहीं होती, उसे छोटी-सी सजा मिलती है। जब लोक-व्यवहार में यह स्थिति है तो आत्मविकास के साथ हिंसा का सम्बन्ध क्यों न माना जाए। यदि आप छोटे प्राणी को मारोगे तो छोटी हिंसा का पाप लगेगा तथा बड़े प्राणी को

मारोगे तो बड़ी हिंसा का पाप लगेगा। शास्त्रों में वनस्पति खालेने से उतनी हिंसा नहीं बताई, जितनी एकमात्र विकसित प्राणी हाथी को मारने से होती है। अहिंसा की Defination बहुत विशाल है। अहिंसा के मार्ग पर चलते रहना। मांसाहार से बहुत दूर बच कर रहना। ऐसा मत सोचो कि कुछ धर्म ग्रंथों में मांसाहार की बात लिखी है। किसी भी धर्म में मांसाहार को खाना नहीं बताया गया। भले वो सिख धर्म हों, भले वो पारसी धर्म हो, भले वो बाईबल हो, भले वो जैन शास्त्र हो, भले वो कुरान हो, बौद्ध शास्त्र हों। कहीं भी यह लिखित वचन नहीं कि मांस खाना चाहिये। जब से बौद्ध धर्म के भिक्षुओं ने मांसाहार करना प्रारम्भ कर दिया तब से उन का भारत वर्ष से निष्कासन हो गया। चीन, जापान, थाईलैण्ड तथा बर्मा में उनके अनुयायियों में मांसाहार प्रचलित हो गया है। सिख समाज के आद्य धर्मगुरु गुरु नानक ने अपने धर्म ग्रंथों में एक बहुत सुन्दर बात कही है।

जे रत लग्गे कपड़ा,

जाम्मा होय पलित्त।

जे रत पीये मानसा,

निर्मल कैसे चित्त ॥१॥

जब हमारे कपड़े में खून का धब्बा लग जाता है, तो हम कहते हैं कि हमारी कमीज खराब हो गई। यदि खून का एक ही धब्बा लगने से हमारी पोशाक गन्दी हो जाती है तो जो लोग खून वाला पशु पेट में डालते हैं और मांस का भक्षण करते हैं, खून और मांस को खाते हैं, उन का शरीर क्या अपवित्र नहीं होता? अरे! शरीर भी अपवित्र होता है, मन भी अपवित्र होता है। अतः आज आवश्यकता है हिंसा और अहिंसा को समझने की। जो व्यक्ति अहिंसा को ठीक समझ जाता है जीवन में उत्थान कर लेता है। भगवान् महावीर ने कहा था, "जीयो! तुम्हें जीने का

अधिकार है और साथ में दूसरों को भी जीने दो।” “Live & let live” स्वयं जीते जाओ और दूसरों को अपना अधिकार प्राप्त करने दो। “जियो और जीने दो” यह सूत्र भी जीवन में पूर्णतया अपना लोमे तो अहिंसा व्रत साकार हो सकेगा।

वर्तमान में मानव ही मानव का शत्रु बन रहा है। मानव का परस्पर सामीप्य समाप्त हो रहा है, परन्तु मानव ही मानव से डर क्यों रहा है? कारण स्पष्ट है कि मैत्री कम हो रही है। जब पारिवारिक सम्बन्धों में भी प्रेम—वात्सल्य की भावना कम हो रही है तो अपने पड़ोसियों से अथवा विश्व के प्रत्येक व्यक्ति से मैत्री सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है?

श्वान श्वान का शत्रु होता है परन्तु वह किसी अपरिचित श्वान की भौंकता है, परिचित को नहीं। जब कि मानव तो परिचित को ही अधिक भौंकता है। भागीदार को ही धोखा देता है। भाई से ही स्वार्थ पूर्ण व्यवहार करता है। माता पिता तथा बुरजर्गों को भी स्वार्थ के ही दृष्टिकोण से देखता है।

बहुत से लोग-जो विश्व मैत्री की बातें करते हैं, अपने परिवार को भी सन्तुष्ट नहीं कर पाते। स्पष्ट है कि वे विश्व-मैत्री का मुखौटा पहन लेते हैं परन्तु उन के अन्तर्मन से उत्पीड़न का हालाहल विष भरा होता है। हृदयवर्ती यह विषकुंभ अन्ततः उन्हें ही नष्ट कर देता है।

अहिंसा की विचार धारा मानव के प्रति प्रेम सिखाती है। जब भी किसी को ‘पराया’ समझ लिया जाए तब ही विद्रोह, विद्वेष, अशांति की सम्भावनाएं आविर्भूत हो जाती हैं।

यदि मानव, मानव के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाए तो अहिंसा का फल जीवन में मिल सकता है। फिर मानव ही प्रिय नहीं रहेगा, मानवता ही प्रिय हो सकेगी। मानवता प्रेमी युद्ध की बातें न करेगा, क्लेश की बात भी न सोचेगा। अनावश्यक लाखों लोगों

को युद्ध के कटाह में डाल कर तमाशा न देखेगा। वह प्रत्येक हिंसा कर्म से बचेगा।

जहां अहिंसा होती है, वहां भय नहीं होता। सन्देह नहीं होता। वहां विश्वास होता है, अभय होता है।

अहिंसा को समस्त धर्मों का समर्थन प्राप्त है। तुलसी दास जी ने कहा था—

दया धर्म का मूल है, पाप-मूल अभिमान।

तुलसी दया न छोड़िए, जब लग घट में प्राण।।

जहां जीवों की दया-करुणा नहीं होती, वहां धर्म का वास कैसे हो सकता है? एक मांसाहार करने वाले तथा अन्य जीवों की हत्या करने वाले लोगों में सैद्धांतिक रूप से कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों कार्यों में हिंसा होती है। एक कवि ने बहुत मार्मिक शब्दों में मांसाहारियों को ललकारते हुए कहा है—

जो पत खाए बकरी, उस की उतरे खाल।

जो उस बकरी को खाए, उस का क्या हाल।

तृण-पत्र आदि खाने वाली बकरी की खाल उतार ली जाती है। वह बेचारी कोई पाप नहीं करती फिर भी ऐसा-ऐसा कर्म फल भोगती है। यदि कोई व्यक्ति उस बकरी को मार कर उस का मांस खाए तो उसे क्या कर्म फल प्राप्त होगा? परन्तु हत्या करने वाले तथा मांस का भक्षण करने वाले अपने भविष्य की चिन्ता कब करते हैं?

भारत वर्ष की स्वतन्त्रता के पश्चात् जिस पंचशील सिद्धांत को राष्ट्र का प्राण माना जाता है उस में अहिंसा सर्वप्रथम है। भारत के प्राचीन महर्षि कहते हैं कि हिंसा करने वाले को हिंसा से उत्तर मत दो। क्योंकि बैर से बैर कभी शांत नहीं होता। एक गलती का जबाब दूसरी गलती नहीं होता। गलती का जबाब

उस गलती को सुधार कर ही दिया जा सकता है। Tit for tat. के सिद्धांत से कभी किसी को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। अपने विरोधियों को भी क्षमादान देने वाले ऐतिहासिक महापुरुषों का जीवन कितना शांत होता है। हिंसा फैलाने वालों को भी सुधारने का अवसर देना चाहिए। यदि वे न सुधरे तो राष्ट्र तथा समाज को दण्ड व्यवस्था का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है।

समस्त विश्व से प्रेम तथा मैत्री विकसित करने के लिए पहले अपने घर से श्रीगणेश करो। फिर देखो कि प्रेम का अंकुर कैसे पल्लवित तथा पुष्पित होता है ?

एक व्यक्ति एक महात्मा के पास पहुंचा तथा बोला, महाराज ! मुझे संन्यासी बना दीजिए। महात्मा ने कहा कि क्या कारण है संन्यासी बनने का ? संन्यास धारण करना बहुत कठिन है। कहीं बाद में पारिवारिक जनों का मोह तो नहीं सताएगा ?

“नहीं महाराज ! घर वालों से तो मैं वैसे ही परेशान हूँ। प्रतिदिन उन से क्लेश होता है। उन के साथ तो मुझे न प्रेम है न मोह। उस का उत्तर था।

महात्मा ने प्रत्युत्तर में कहा कि, “तू अभी संन्यास के योग्य नहीं है। यहां पर तो समस्त प्राणी जगत् से प्रेम करना पड़ता है, यहां पर आ कर प्रत्येक जीव को अपने समान समझना पड़ता है। तू तो परिवार से भी प्रेम न कर सका, समस्त विश्व से प्रेम क्या करेगा ? जा पहले अपने परिवार से प्रेम करना सीख।

प्रेम का भान, अहिंसा की फल श्रुति है। अहिंसा के सद्भाव में प्रेम का अभाव नहीं हो सकता।

सर्वतः अहिंसा जो साधु की अहिंसा है—वह किसी अपराधी को भी दण्डित करने की आज्ञा नहीं देती। साधु को प्रत्येक स्थिति से क्षमाशील तथा अहिंसक बने रहने का उपदेश दिया

गया है। परन्तु गृहस्थ की अपनी विवशताएं हैं। उसे विवशताओं का जीवन जीना पड़ता है। कभी-कभी परिस्थितिजन्य हिंसादि उस का कर्तव्य बन जाता है। परन्तु गृहस्थ कभी भी निरपराध की हिंसा न करे। अपराधी का भी अपनी सुरक्षा के लिए प्रतिकार करे। कहीं ऐसा न हो कि अपराधी को देख कर वह इतने आवेश में आ जाए कि उस की हत्या करने का ही प्रयत्न करे। वह सुरक्षात्मक आक्रमण करे जिससे कि लाठी भी न टूटे एवं सांप भी मर जाए। अर्थात् हत्या तथा मुकदमा भी न हो तथा शत्रु भी परास्त हो जाए।

यहां पर एक प्रश्न होता है कि यदि आप के पड़ोस में कोई चोरी करने के लिए पिस्तौल लेकर आ जाए तो वहां आप का धर्म क्या कहता है ?

यह निश्चित है कि आप उस समय धर्म या शास्त्रों की आज्ञाओं के विषय में अधिक विचार ही न कर पाएंगे। आप उस समय की परितः बन रही सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक धार्मिक तथा व्यावहारिक स्थितियों का अध्ययन करेंगे।

यदि आप के उस व्यक्ति के साथ आप के व्यक्तिगत सम्बन्ध प्रगाढ़ हैं तो आप सुरक्षात्मक रीति से उस की कुछ सहायता करेंगे। अर्थात् इस चोर के सामने न आ कर उस पड़ोसी को सतर्क कर देंगे।

यदि आप का सम्बन्ध हार्दिक मित्रता का है तो आप प्राणों की बाजी लगा देंगे।

यदि आप की उस पड़ोसी से शत्रुता चल रही है तो आप उस अवसर पर उपेक्षा करेंगे।

यदि आप स्वार्थी हैं तो मात्र स्वयं सतर्क (Alert) हो जाएंगे। पड़ोसी के लिए कुछ भी नहीं करेंगे।

यदि आप सामाजिक रूप से विचार करें तो सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण आप उसकी कुछ सहायता कर सकते हैं अथवा यह सोच कर कि कभी मुझे भी आवश्यकता पड़ सकती है, आप उस की सहायता करने को तैयार हो जाते हैं।

यदि आप आर्थिक रूप से विचार करें तो पड़ोसी को कुछ इनाम प्राप्त करने के लिए भी सहायता कर सकते हैं।

यदि आप यह सोच कर कि—यदि मैंने पड़ोसी को बचाया तथा चोर के साथ युद्ध किया तो ये चोर मेरे घर पर भी चोरी करने आ सकते हैं। सहायता न की तो यह आप का भय का दृष्टिकोण है।

“इस की रक्षा करते-करते यदि चोर मर गया तो मैं कहीं दण्डित न हो जाऊं यह आप का स्वरक्षा का दृष्टिकोण है।

आप का धार्मिक चिन्तन आप को कहेगा कि पड़ोसी को बचाना तो आवश्यक है, परन्तु अनावश्यक हस्तक्षेप मैं क्यों करूँ? तो यहाँ सामाजिक दायित्व आप के ऊपर आ जाता है, प्रतिष्ठा का प्रश्न भी हो जाता है कि यदि मैंने रक्षा न की तो मेरी ‘कायर’ के रूप में अप्रतिष्ठा हो जाएगी।

“यदि मैंने पड़ोसी की मदद न की तो ठीक न दिखेगा?” कभी यह पड़ोसी मुझ पर व्यंग्य ही कस देगा तो मुंह नीचा करना पड़ेगा। यह आप का व्यावहारिक दृष्टिकोण है।

“यह व्यक्ति बहुत धनाढ्य है इस की मन्त्रियों तक पहुंच (Approach) है, अतः इस को बचाना ही चाहिए। सम्भव है कि कभी इस के द्वारा कोई व्यापारादि में या दंडादि में लाभ हो जाए। यह आप का राजनैतिक दृष्टिकोण है।

इस प्रकार गृहस्थ की परिस्थितियां अनेक प्रकार की हो सकती हैं। गृहस्थ का धर्म वहाँ कुछ भी व्यवस्था दे परन्तु गृहस्थ वहाँ पर धर्म को नहीं, परिस्थितियों को महत्ता देगा।

परन्तु आनन्द कामदेव आदि श्रावकों की तरह अपने दृढधर्म प्रेम का परिचय नहीं देगा। बहुत कम श्रावक ऐसे होते हैं जो कि उस समय धर्म को प्रमुखता देते हैं।

मन वचन तथा काया से हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग होना आवश्यक है। साधु के लिए तो जल, वायु अग्नि आदि का सेवन भी वर्जित है।

यहां एक प्रश्न होता है कि साधु प्रासुक (गर्म) जल ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि सचित्त जल के पान या स्पर्श से हिंसा होती है। परन्तु जल को गर्म करने से जल के जीवों की हिंसा होती, उस का पाप क्या साधु को न लगेगा।

प्रश्न उचित है। परन्तु इस के समाधान के लिए जैन दृष्टि से विचार करना अनिवार्य है।

पूर्वकाल में गृहस्थ श्रावक गर्म जल (प्रासुक) पीते थे साधुओं को स्थान-स्थान से थोड़ा-थोड़ा जल मिलना सुलभ था। यह जल एषणीय तथा दोष रहित होता था क्योंकि जैसे गृहस्थ के घर से परिवार के लिए बनाए गए भोजन में से साधु आधी रोटी ले भी आता है तो उसे दोष नहीं लगता उसी प्रकार से पानी प्राप्त करने में भी दोष नहीं था।

वर्तमान में गृहस्थों ने गर्म पानी पीना छोड़ दिया है। सभी सचित्त जल पायी बन गए। परिणामतः साधुओं के लिए गर्म प्रासुक जल गृहस्थ के घर में या आयुर्विलशाला में विशेष रूप से बनना प्रारम्भ हो गया। एक तो यह आधाकर्मी दोष तथा साधु के निमित्त से जल तथा अग्निकाय के जीवों की हिंसा का दोष। ये २ दोष तो लगते ही हैं। परन्तु इस से साधु गर्म पानी लिए बिना सचित्त (सजीव-कच्चा) ही पीना प्रारम्भ न कर देगा क्योंकि ऐसा करने से अनेक अन्य दोषों की पूरी सम्भावना है।

१. प्रासुक जल सीमित ही मिलता है अतः सीमित रूप से ही उसका उपयोग भी होता है। यदि साधु कच्चा पानी प्रयोग

में लाना प्रारम्भ कर दे तो पानी अधिक उपयोग में आएगा, परिणामतः साधु जहां सुविधावादी बनेगा, वहां प्रामुक्त जल में होने वाली हिंसा से अधिक जल इस्तेमाल करके अधिक पाप का भागी बनेगा ।

२. साधु यदि जल प्राप्त करने के लिए नल को खोलेगा या कूँ में से भी कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर पानी निकालेगा तो निकलने वाले पानी के साथ स्पर्श करने वाले अनेक मन पानी भी हिलेगा तथा इस प्रकार कितने अधिक जीवों की हिंसा का पाप उस साधु को लगेगा ।

३. साधु पानी को घड़े में भर कर रखेगा तो वह घड़ा कच्चे पानी का होने के कारण सतत तथा प्रतिदिन जल को उसी में भरेगा तो प्रामुक्त जल की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तीन चार या पांच प्रहर की व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? चातुर्मास में (तीन प्रहर का विधान होने के कारण २ काल के पानी की व्यवस्था क्या न टूटेगी ?

४. जब सचित्त जल साधु लेना प्रारम्भ कर देगा तो सचित्त भोजन (फल आदि) लेने से उसे कौन रोक सकेगा ?

५. सचित्त जल लेने वाला साधु बासी भोजन (जिसे सचित्त जल के मिश्रण के कारण अभक्ष्य कहा गया है) क्यों न लेगा ?

६. यदि सचित्त जल का पान हो सकेगा तो वर्षा आदि में साधु को आहारादि लाते देख कर या विहार करते हुए देख रोकना कहां तक उचित होगा ?

७. जलकाय के उपयोग की छूट मिल जाने के बाद अग्नि-काय, वायुकाय आदि के उपयोग से उसे क्या रोका जा सकेगा ?

८. सचित्त का परिहारी साधु फिर सचित्त वनस्पति

(पान आदि) का भक्षण करने लग गया तो ?

६. सचित्त जल की नदी को क्या वह बारंबार पार न करेगा ?

१०. सचित्त पृथ्वी तथा सचित्त घास उसके लिए अप्रयोज्य क्यों रह जाएगा ?

११. रात्रि के कंवली के काल का फिर क्या होगा ? सचित्त जल का सेवन करने वाला रात्रि में पड़ने वाली ओस से क्यों पाप मानेगा ?

१२. इस प्रकार साधुत्व की आधारशिला अहिंसा ही डगमगा जाएगी ।

१३. सब से मुख्य बात यह कि जो साधु एक बार पानी के गर्म हो जाने के कारण (यदि आधाकर्मो स्वनिमित्त से गर्म किया हुआ पानी ले तो) एक बार ही जीवघात का दोषी होता है । परन्तु वही साधु जब कच्चे पानी को घड़े में भर के रखेगा तो (क्योंकि वह सचित्त जल उस ने अपने लिए रखा है इस लिए) सारा दिन उस कच्चे जल में होने वाली जीवोत्पत्ति का तथा जीव विनाश का कारण उसे बनना पड़ेगा ।

१४. इतना ही नहीं बार-बार उस कच्चे पानी को या उस घड़े को हाथ लगाने या हिलाने से या पानी लेने के लिए घड़े के जल के हिलने से जो बारंबार जीव हिंसा होगी—उस हिंसा का दोष क्यों साधु को न लगेगा ?

इस प्रकार साधु धर्म ही शंकास्पद हो जाएगा । भगवान् महावीर ने साधु के लिए अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य—ये दो महाव्रतों को अत्यन्त प्रधानता दी है क्योंकि इन दो महाव्रतों का पालन करने के बाद अन्य महाव्रतों का पालन सुकर हो जाता है । उन में भी ब्रह्मचर्य व्रत को मुख्यतः अहिंसा व्रत के पालन के लिए भी आवश्यक समझाया गया है ।

धम्मो मंगल मुक्कित्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

भगवान् महावीर तो अहिंसा के विना धर्म की कल्पना भी नहीं करते। अहिंसा, संयम (ब्रह्मचर्य) तथा तप (जो कि तपेसु वा उत्तमं बंधेचरं के अनुसार ब्रह्मचर्य में ही सम्मिलित हो जाता है) धर्म का स्वरूप है।

निमित्त से भी हिंसा होती है। यदि आप अपनी तलवार को खूटे पर टांग कर कहीं चले जाते हैं तथा उस पर बैठने वाला कोई पक्षी कट जाता है अथवा कोई व्यक्ति उस तलवार से कोई हिंसा कर देता है तो उस का पाप आपको ही लगेगा क्योंकि आप ने ही उस तलवार को लापरवाही से रखा तथा हिंसा होने में आप निमित्त बनें। इसी प्रकार आप की बन्दूक से कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है तो उस का पाप भी आप को ही लगेगा।

यदि कोई हलवाई रात्रि के समय जलती भट्टी को बुझाए बिना घर पर चला जाता है। रात्रि में कोई चूहा आदि प्राणी उस में मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उस प्राणी की हत्या का दोष हलवाई को ही लगेगा।

मुर्गी घर (Poltry form) बनाने वाले यद्यपि मुर्गी को मारते तो नहीं परन्तु उस से उस का अंडा छीन लेते हैं। जहां वह अंडा देती है वह स्थान फिसलने वाला होता है। अंडे के वहां पड़ते ही वह नीचे आ जाता है तथा मुर्गी देखती रह जाती है। उस स्थान पर मुर्गी को बहुत जकड़ कर बिठाया जाता है जहां उस के लिए हिलना भी मुश्किल होता है। मुर्गी की यह परि-तापना-यह उत्पीड़न मानवीय हृदय को कष्ट से भर देता है। फिर भी उस मुर्गी के अंडे को शाकाहारी आदि कहा जाता है। वह अंडा शाकाहारी नहीं, उस अंडे में तो मुर्गी की आर्हें छिपी रहती हैं।

एक कवि ने कहा था—

मत सता जालिम किसी को, मत किसी की आह ले।
दिल के दुख जाने से उस के, आसमां हिल जाएगा ॥

गरीब या दुःखी की आह (दुराशीष) आसमान को भी हिला सकती है अतः किसी को दुःख नहीं देना चाहिए। एक लेखक ने कहा था—

Nothing good comes, out of violence.

हिंसा से कभी कुछ भी अच्छा फल नहीं होता।

अष्ट प्रवचन माता में भी मुख्यतया अहिंसा का ही पालन है। पांच में से ४ समितियाँ (ईर्या समिति, एषणा समिति, आदानभंड, निक्षेपणा, पारिष्ठापनिका) तथा एक एक गुप्ति (कायगुप्ति) तो काया से होने वाली हिंसादि को रोकने के लिए है। भाषासमिति तथा वचन गुप्ति वचन से होने वाली, हिंसा को रोकने के लिए है तथा मनोगुप्ति मन की हिंसा को रोकने के लिए है।

इस प्रकार अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। मात्र बड़े-बड़े कार्यों में अथवा धार्मिक कार्यों में ही अहिंसा का पालन नहीं करना चाहिए, अपितु प्रत्येक छोटे बड़े सांसारिक कार्यों में भी यतना से काम करना चाहिए।

‘जयणा धम्मस्स जणणी’ यतना (विवेक) धर्म की माता है। यदि मानव जीवन अहिंसायुक्त बन जाए तो जीवन में पाप का बंध अल्प हो जाए। यदि समाज में अहिंसा का वातावरण बदला जाए तो शाब्दिक हिंसा भी दूर हो जाए तथा विश्व में यदि अहिंसा का महत्व समझा जाए तो विश्व में हिंसा आदि से उत्पन्न हो रहे विनाश तथा अनरोष को रोकने में सहायता मिल सकती है।

तात्पर्य है कि स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, मनोबल, वचन बल, काया बल, श्वास तथा आयु— इन १० प्राणों में से जिस प्राणी के जो प्राण होते हैं, उन प्राणों का नाश करने से प्राणी दुःख का अनुभव करता है अतः प्राणों का नाश

ही हिंसा हैं। जो कि कर्म बन्ध का हेतु होने के कारण त्याज्य है।
 एकेंद्रिय को १ प्राण—प्रथम तथा अन्तिम तीन, द्वीन्द्रिय को रसना
 तथा वचन सहित ४, त्रीन्द्रिय को घ्राण सहित ७, चतुरिन्द्रिय को
 चक्षु सहित ८, संमूच्छिम पंचेंद्रिय को श्रोत्र सहित ९ तथा गर्भज
 पंचेंद्रिय तक नारकी एवं देव को १० प्राण होते हैं।



सत्य

अब हेमचंद्राचार्य द्वितीय महाव्रत का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनुतव्रतमुच्यते ।

तत् तथ्यमपिनो तथ्यं, अप्रियं चाहितं च यत् ॥२१॥

अर्थ—प्रिय हितकारी तथा सत्य वचन ही सत्य महाव्रत होता है। जो सत्य वचन प्रिय तथा हितकारी नहीं होता वह सत्य हो कर भी सत्य नहीं होता क्योंकि उस से हिंसा का दोष लगता है।

विशेष—सत्य एक ऐसा देवता है, जिस के आगे सभी देव-दानव किन्नर तथा मनुष्य नमस्कार करते हैं। सत्य इस जगत् का आधार है। एक कवि का कथन है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः ।

सत्येन पवनः बहति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।

सत्य से ही पृथ्वी खड़ी है। सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से ही पवन चलती है, सब कुछ सारा संसार सत्य पर आधारित है।

यदि इस संसार में दुर्जन, बेईमान तथा असत्यवादी लोगों को सफलता मिल जाती तो प्रलय लाखों वर्ष पहले हो चुकी

होती। सदैव इन असत्यवादियों का प्राबल्य नहीं होता। सत्यवादी इस संसार में सदैव रहते हैं जिन के प्रताप से यह पृथ्वी स्थिर रहती है। अन्यथा इस पृथ्वी पर कितने भूकंप आते मानव जाति को तबाह कर सकें, ऐसे-ऐसे भूकंप, समुद्री, तूफान, वातूल आदि आये, परन्तु मानव जाति समाप्त नहीं हुई। ये परमाणु बम, जो कि समस्त संसार की समाप्ति को मात्र १२ मिण्ट की दूरी पर रखे हुए हैं—क्यों अपने-अपने स्थान पर पड़े हैं? सत्यवादी धार्मिक व्यक्तियों के कारण इन का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

सत्य के कारण ही सूर्य पृथ्वी पर प्रकाश फैलाता है। सत्य की प्राप्ति से मानव ग्रह नक्षत्र तथा तारों को, देवों को झका सकता है।

सत्य के बल से भूमि तथा आकाश हिलते हैं।

सत्य है कि सत्य से भगवान भी मिलते हैं ॥

सत्य से ही संतुलित वायु चलती है। समय पर मानसून, पड़, ऋतु आती हैं। वर्तमान से ज्यू-ज्यू सत्य की महत्ता कम होती जा रही है। त्यों-त्यों पृथ्वी सूर्य तथा पवन भी परिवर्तित होने लगे हैं।

सत्य मानव जीवन का मूलमंत्र है। सत्य से मानव का व्यापार तथा व्यवहार चलता है। सत्य के आधार पर ही व्यापार में लाखों रूपयों का विनिमय होता है। सत्य से ही मानव का विश्वास टिका है। यदि सत्य धरती से लुप्त हो जाए तो मानव को मानव पर ही सन्देह हो जाए। परिवार के सदस्य भी सन्देह की नज़र से एक दूसरे को देखने लग जाएं।

वर्तमान में सत्य की प्रतिष्ठा कम हो रही है। सत्य को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है। राष्ट्र में सत्य के स्थान पर असत्य का बोलबाला है। कोई किसी का वफादार नहीं है।

ठगी तथा बेइमानी एवं रिश्त ने चारों तरफ डेरा डाल रखा है। कहीं जासूसी है, तो कहीं नेताओं की हत्या, कहीं धोखा है तो कहीं बनावटी बातें।

परिवार के सदस्यों का प्रेम बनावटी है। मित्रों की दोस्ती जिस पर संसार का वैभव न्यौछावर हो जाता था, वह भी स्वार्थ के कारण बनावटी हो गई है परन्तु इस बनावट का पता कभी न कभी चल ही जाता है।

सच्चाई छिप नहीं सकती, बनावट के असूलों से।

कि खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से॥

असत्य कपट, झूठ कभी न कभी फूट पड़ते हैं। जब कोई भी असत्य पकड़ा जाता है तो मानव घबराता है। परन्तु असत्य आचरण के लिए दोषी वह स्वयं ही होता है कोई अन्य नहीं।

इस युग में वफादारियां भी बदल रही हैं। न जाने कितने जय सिंह एवं माधव सिंह हमारे देश में हो गये हैं। अभी भी उन के वंशजों के प्रकोप से भारत का छुटकारा नहीं हुआ है। देश-देश में न जाने कितने विद्रोह हो चुके हैं। इस असत्य बेइमानी, हेरा-फेरी को व्यापार, समाज, तथा देश में से नेस्तनाबूद करने की आवश्यकता है। कई बार तो सच के प्रमाण ही समाप्त कर दिए जाते हैं। झूठ को प्रमाणित किया जाता है, परन्तु सच सदैव दीवार पर चढ़ कर बोलता है। दीवारें ही ऐसे असत्यों को सुन-देख कर जनता तक पहुंचा देती हैं।

जहां असत्य होता है, वहाँ माया भी होती है। माया के बिना झूठ टिक नहीं सकता। झूठ बोलने वाला यदि माया न करे तो उस का झूठ समाप्त हो जाएगा।

एक चोर चोरी करने गया। घर वालों ने उस को देख लिया तथा पकड़ लिया। उस से पूछा गया, कि तू कौन है ?

अब कपट करने से भी काम चलने वाला नहीं था। वह बोल उठा—“मैं चोर हूँ” घर वालों ने उसे ईनाम दिया तथा सत्कार पूर्वक आगे से भी घर में आने के लिए निमन्त्रण दिया। क्या सत्य का ही प्रताप न था। सत्य कहने में हिचकंचाहट तो होती है परन्तु इस का फल सदैव मीठा होता है। पुत्र गलती करे तथा पिता उस से पूछे, तो पुत्र सब कुछ सत्य कह दे तो पिता उस बच्चों को कुछ भी न कहेगा। यदि बालक ने वहाँ झूठ बोल दिया तथा उस का झूठ सफल हो गया तो वह असत्यवादी बन कर आगे भी लोगों को ठगना शुरू कर देगा।

एक मात्र सत्य ही कितने ही गुणों को लाता है। गुरु नानक ने एक चोर को नियम दिया कि वह आगे चोरी तो भले करे, परन्तु पूछने पर वह सत्य बता देगा कि उसने चोरी की है। २-४ दिन बाद ही वह चोर गुरु नानक के पास गया तथा बोला गुरु जी ! अब तो चोरी ही नहीं हो रही। गुरु नानक ने पूछा कि मैंने तो तुझे चोरी न करने का नियम नहीं दिया था। चोर बोला, “मैं चोरी करके जा रहा था कि लोगों ने सन्देह से पूछ लिया कि तुम कौन हो ? मैंने कहा कि मैं चोर हूँ। लोगों ने मुझे मारना प्रारम्भ कर दिया। अब तो चोरी करना कठिन हो गया है।

सत्य बोलने वाले को व्यापार तथा समाज में प्रारम्भ में कठिनता का सामना करना पड़ता है। परन्तु उस का विश्वास जम जाता है तो सब से अधिक लाभ भी वही उठाता है।”

भारत में दुकानों पर एक Rate कम ही देखे गये हैं। बड़े शहरों में तो कृत्रिम माल का अतिरिक्त मूल्य भी २-४ गुणा मांगा जाता है। परन्तु यूरोप में एक भारतीय ने एक वस्तु खरीदी। दाम पूछने पर उस ने कहा ‘चार रुपये।’ भारतीय तुरन्त अपनी पुरानी आदत के अनुसार बोला ‘कुछ तो कम करो मूल्य’..... वह बोला—“पांच रुपये” भारतीय ग्राहक बोला “चार से कम

कीजिए।” “छः रुपये।” थोड़े समय में तो दुकानदार चार रु० के १० रुपये मांग रहा था। भारतीय बोला, “हमारे साथ इतनी बेईमानी करते हो?” “अरे! बेईमान तो तुम हो, जो चार रुपये की वस्तु के पूरे पैसे भी देना नहीं चाहते हो।” दुकानदार का उत्तर था। “लेकिन! तुमने हर बार रेट बढ़ा कर क्यों बताए?”

“मेरे पास तुम भारतीयों की तरह समय बर्बाद करने के लिए नहीं है। रेट बार-बार पूछ कर यदि कोई समय बर्बाद करता है तो उस समय की कीमत उसी वस्तु में लगा दी जाती है।

बेचारा भारतीय चुप था।

यदि भारत में भी सभी दुकानों पर एक रेट हो जाए तो समय की कितनी बचत हो जाए।

एक ग्राहक ५० रुपये की वस्तु १० रुपये में ले जाएगा तो कभी वापिस उस दुकान पर न आएगा। बताओ! घाटे में कौन रहा? Rate Fix हो तो ग्राहक बढ़ते ही हैं, घटते नहीं। हां! विश्वास सम्पादन में समय अवश्य लगता है।

भारत वर्ष की जनता ने ऋषि महर्षियों की वाणी को विस्मृत कर दिया तो महर्षि कहते थे, “तं सच्चं भयव” सत्य ही भगवान् है। परन्तु सत्य ये भगवान का दर्शन किसी को नहीं होता। किसी की बुद्धि भ्रष्ट हो तो उसके सत्य का क्या दोष है? वर्तमान में तो असत्य में ही लोगों को भगवान का दर्शन होता है।

एक राजा था। वह राज्य सभा में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पूछा करता था कि आज कल किस वस्तु का जमाना है?

सभी मंत्री पृथक् पृथक् उत्तर देते। कोई कहता ‘हेराफरी’ का जमाना है। कोई कहता ‘सत्य का जमाना है’ कोई कहता कि ‘अहिंसा का युग है’ तो कोई कहता कि ‘ज्ञान का युग है’। परन्तु राजा को किसी के उत्तर से संतोष न हुआ।

अंत में राजा ने राजपर्षद में एक वेश्या से पूछा तो वेश्या बोली, “महाराज ! आज कल तो झूठ का जमाना है। राजा ने इस बात को भी नहीं माना। वेश्या ने कहा कि “राजन् ! मैं आप को एक मास में यह प्रत्यक्ष दिखा दूंगी कि जमाना झूठ का है या नहीं ?”

वह वेश्या तीर्थ यात्रा के लिये चल पड़ी तथा एक मास के बाद एक योगिनी का वेश बना कर उसी नगर में आई। सारा नगर उस योगिनी के दर्शनों को उमड़ पड़ा। योगिनी ने एक बंद कमरे में एक मंच बना कर उस पर एक जूता रखा हुआ था। वह आने वाले सभी व्यक्तियों को कहती कि क्या आप को भगवान् के दर्शन करने हैं ? प्रत्येक व्यक्ति हां में उत्तर देता। वह पुनः कहती कि, “मैंने इस कमरे में भगवान् को बुलाया है। लेकिन वह दिखेगा उसे ही, जो अपने असली बाप का बेटा होगा। जो असली बाप का बेटा नहीं होगा, उसे वहां पर जूता पड़ा ही दिखाई देगा।”

हजारों लोग पंक्तियों में लग गए तथा क्रमशः कक्ष में प्रवेश करके भगवान् के दर्शन करके पावन होने लगे। वहां तो योगिनी के अनुसार भगवान् बैठे ही थे। परन्तु कोई अपने असली बाप का बेटा हो तो ही, किसी को वहां भगवान् दिखाई दें। वहां जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को वहां जूता ही दिखाई दिया। परन्तु वह सोचने लगा कि यदि मैं किसी को यह कह दूं कि मुझे जूता दिख रहा है तो लोग मेरी ओर शंका की दृष्टि से देखेंगे। मुझे दूसरे बाप का बेटा मानेंगे। मेरा उपहास उड़ाएंगे।”

जब भी कोई व्यक्ति कक्ष से बाहर आता तो उसे पूछा जाता कि भगवान् के दर्शन हुए ? तो वह सन्तोष पूर्वक उत्तर देता “हां, हुए” यह गडरिया प्रवाह बच्चों से बूढ़ों तक चला। कोई भी अपनी पत्थर के धूल में मिल जाने के भय से यह

कहने को तैयार न था, कि मैंने अन्दर जूता देखा है।

जनश्रुति से यह समाचार राजा को भी मिले। राजा के मन में भी भगवान् के दर्शन करने की इच्छा जागृत हुई। क्रमशः राजा भी योगिनी के पास आ पहुँचा। योगिनी ने उसी क्रम से राजा को कक्ष में भेजा। परन्तु यह क्या? वहाँ तो जूता ही दिखाई दे रहा था। राजा आश्चर्य चकित हुआ। परन्तु जहाँ समस्तनगर जनों में यही प्रवाद चल रहा था कि मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं तो राजा कैसे कह सकता था कि मुझे वहाँ भगवान् नहीं दिखे।

राजा के कक्ष से बाहर आने पर योगिनी ने राजा के मुख पर निराशा की रेखाएं देख कर राजा के मन की बात को जान लिया।

३० वां दिन आने पर वह योगिनी राज्य सभा में पहुँची, राजा ने उसे नमस्कार किया। क्रम से योगिनी ने राजा को अपना वेश्या का रूप दिखाया। राजा बोला—“अरे! यह सब क्या झूठा वेष पहन रखा था? तेरे कथन के अनुसार एक मास हो चुका है। अब तुझे यह सिद्ध करना चाहिए कि जमाना झूठ का है।”

वेश्या बोली—“महाराज! क्या अब भी इस बात पर विश्वास नहीं होता। सच-सच बताइये कि आप को कक्ष में प्रवेश करने पर क्या दिखा था। भगवान् या जूता”? राजा बोल उठा कि, “मुझे दिखा तो जूता ही था। परन्तु प्रतिष्ठा के भय से मैंने यह नहीं कहा। क्योंकि सभी लोग तो कह रहे थे कि अन्दर भगवान् के दर्शन हुए हैं।” वेश्या बोली, कि “महाराज, जैसे आप को वहाँ जूते के दर्शन हुए वैसे ही वहाँ सभी को जूते के ही दर्शन हुए। भगवान् के दर्शन करना इतना सरल नहीं है। इस बात का

ज्ञान होते हुए भी किसी ने जूतों के दर्शन के रहस्य पर से पर्दा नहीं उठाया। बताइये। यहां बैठे इतने लोगों में से किसी ने भी सत्य का आश्रय लिया? यह सिद्ध हो चुका है कि जमाना झूठ का है।

परन्तु सत्य सदैव कटु होता है। उस का सामना तो करना ही पड़ता है। जो सत्य का सामना करने से घबराता है, वह आत्मवचना करता है, स्वयं को ठगता है।

किसी व्यक्ति ने फटी कमीज के ऊपर सुन्दर कोट पहना हो तो वास्तविकता क्या होती है? वह कोट वास्तविकता नहीं होती। कोट के अन्दर वह फटी हुई कमीज ही सत्य की द्योतक होती है।

कभी कभी जन-प्रवाह के विरुद्ध भी सत्य के पक्ष में हो जाना आवश्यक हो जाता है।

कोई कुलटा स्त्री किसी सच्चारित्र व्यक्ति पर दुराचार का आरोप लगा दे तो समस्त जनता तथा वहां एकत्र होने वाला जन समूह उस महिला की बात पर सद्यः विश्वास कर लेता है। लोगों में इतनी बुद्धि कहां होती है कि वे उस व्यक्ति को ही निर्दोष घोषित करें। सारी भीड़ में एक आध व्यक्ति ही ऐसा दिखेगा जो कि समय की खोज करता हुआ निष्पक्ष हो कर उस उस व्यक्ति का पक्ष करे।

वर्तमान में बहुमत का युग है। बहुमत जो कहे, वह सत्य माना जाता है। परन्तु यदि असत्य के पक्ष में सभी लोग इकट्ठे हो जाएं तो भी सत्य, सत्य ही रहता है तथा देर सबेर उस सत्य के पक्षपाती की विजय ही होती है। परन्तु सत्य कहने का साहस व्यक्ति में होता चाहिए तथा जनता में भी सत्य पर खड़े की बुद्धि

होनी चाहिए।

एक बार एक राजसभा में एक ठग आया। उस ने तरह-तरह की बातें करके राजा का मन मोह लिया। वह अंत में कहने लगा कि महाराज ! हम आप के लिए एक परिधान (Dress) लाए हैं। उस परिधान की यह विशेषता है कि, सब को दिखेगा परन्तु पहनने वाले को नहीं दिखेगा। परिधान इतना सुन्दर है कि देखने वाले आप के रूप की प्रशंसा करेंगे। राजा ने उस बहु-मूल्य परिधान को पहन लेने की ठानी।

उस परिधान का मूल्य ले लेने के पश्चात् शभ मुहूर्त्त में उन ठगों ने लाखों की पर्षद के सम्मुख राजा के कपड़े एक-एक करके उतारने प्रारम्भ किये तथा साथ-साथ में वह अदृश्य परिधान पहनाना भी प्रारम्भ किया। ज्यू-ज्यू राजा के वस्त्र उतरते गये, राजा जनता को निर्वस्त्र दिखता चला गया। राजा भी स्वयं को इसी दशा में देख रहा था। परन्तु उन ठगों की तो यह शर्त ही थी कि वस्त्र राजा को नहीं दिखेंगे। राजा स्वयं को निर्वस्त्र देखकर भी उस नई पोशाक से सन्तुष्ट ही था। जब पोशाक ही नहीं थी, उस के दिखने का अर्थ ही क्या था ? यह तो जनता को उल्लू बना कर उन्हें ठगने का एक तरीका था।

समस्त जनता आश्चर्य चकित थी कि राजा इस प्रकार से अपने कपड़े क्यों उतरवा रहा है ? पर्षद का एक-एक बालक भी किकर्त्तव्य विमूढ़ हो चुका था कि वह राजा को कैसे समझाए कि आप के साथ धोखा हो रहा है।

अन्ततः नवीन परिधान पहना कर वे राजा से बोले, “महाराज आप इस वेश में बहुत सुन्दर दृष्टिगत हो रहे हैं। क्या आप का रूप सजा है इस परिधान से ?” किसी व्यक्ति की साहस न हो सका कि वह उन ठगों को चपत लगा कर उन को शिक्षा दे। जब राजा ही निर्लज्ज था तो लोगों को लज्जा करने की क्या बात थी।

अंत में इसी नूतन वेष में राजा को रथ में खड़ा करके जन-समूह के साथ नगर में राजा की शोभा यात्रा निकाली गई। लोग दांतीं तले अंगुलि दबाने लगे परन्तु वे राजा के पीछे चले जा रहे थे। राजा गवाक्षों में खड़े स्त्री-पुरुषों, बालकों का अभिवादन शान से स्वीकार कर रहा था। आज आनन्द का पार न था। क्योंकि वह उस समय अदृश्य परिधान में बहुत ही सुन्दर नजर आ रहा था।

राजा की सवारी एक चौक में से हो कर गुजरी। अकस्मात् राजा ने वहाँ के एक मकान में से एक छोटे बच्चे की आवाज सुनी, वह कह रहा था। “पिता जी! राजा आज नग्न हो कर नगर में घूमने को क्यों निकला है? क्या यह कोई विशेष विधि है? जिस में से प्रत्येक राजा को गुजरना पड़ता हो।” बालक के चेहरे के भाव से राजा के मन में विचार आया कि मेरे साथ कहीं थोखा नहीं हुआ। किसौ ने ऐसा नहीं कहा। परन्तु यह बालक झूठ क्यों बोलेगा? तभी उस ने बालक के पिता को आवाज को सुना, “बेटे! तू ठीक देख रहा है, ठीक ही कह रहा है, परन्तु राजा तो राजा है, उसे कौन समझाए?”

राजा समस्त स्थिति को भांप चुका था। वह समझ गया कि उस के साथ सरासर धोखा हुआ है।

राजा तुरन्त रथ से नीचे उतरा, उस ने तुरन्त वस्त्र मंगवा कर पहने तथा दोनों ठगों को गिरफ्तार कर लिया।

असत्य का आनन्द अद्भुत ही होता है जब कि सत्य को पचाना तथा सहना कठिन होता है। असत्य में रहने वाला भ्रांति में रहता है, मूर्खों के जगत में रहता है। उसी भ्रांति में मूर्खता में अलौकिक आनन्द लूटता है। परन्तु वह भूल जाता है कि जब सत्य उस के सामने आएगा तो वह उसे सहन ही न कर सकेगा।

वर्तमान में असत्य ही जीवन का सत्य बन चुका है। असत्य

का विशाल संसार सत्य के आगे बौना लगता है परन्तु इस सत्य से जीवन जीना प्रत्येक को नहीं आता ।

असत्य जीवन के किस क्षेत्र में नहीं है । व्यापार, अर्थ, नीति, समाज, व्यवहार ये सभी असत्य से दूषित हो चुके हैं । सत्य का पक्षपाती असत्य प्रिय लोगों में दब सा जाता है । उस का स्वर मुखर नहीं हो पाता । बहुत से चोरों के बीच साधु की क्या कीमत ? बहुत से ठगों के बीच ईमानदार की कितनी कीमत ? बहुत से मूर्खों के मध्य बुद्धिमानों की कितनी कीमत ? बहुत से असत्यवादियों के मध्य सत्य का भी क्या मूल्य ?

परन्तु असत्यवादी को समझ लेना चाहिए कि उस की पोल अधिक नहीं चल सकती । जब उस असत्य का भंडाफोड़ हो जाता है तो व्यक्ति कहीं का नहीं रहता । उस का विश्वास समाप्त हो जाता है । उस की गतिविधियां संदिग्ध हो जाती हैं तथा वह स्वयं अशांति का शिकार हो जाता है ।

असत्य को कई बार सत्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है । परन्तु असत्य सत्य कैसे बन सकता है ? एक झूठ को सिद्ध करने के लिए मानव को १०० झूठ बोलने पड़ते हैं वह झूठ फिर भी झूठ ही रहता है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता ।

आज तो कदम-कदम पर झूठ बोला जाता है । आज असत्य ही जीवन का सत्य बन चुका है । यह सब जीवन की किसी उपलब्धि के लिए है ? जीवन चलाने के लिए रोटी ही तो चाहिए । किसी भी कार्य का अर्थ उदर पूर्ति ही तो होता है । छोटे से पेट के लिए बड़े से बड़े झूठ बोले जाते हैं । कई बार तो बच्चे को भी झूठ सिखाया जाता है । परिणामतः सत्य बोलने की संभावना ही समाप्त हो जाती है ।

एक गृहस्थ से उस का व्यापारी रूपये मांगने आया । वह गृहस्थ अभी देने के मूड में न था । उस आगन्तुक ने द्वार

खटखटाया। बच्चा बाहर आया। आगंतुक व्यापारी ने पूछा, बेटा ! “तेरे पिता जी क्या घर हैं ?” बेटा अन्दर गया तथा पिता जी को सारा वृत्तांत सुनाया। पिता जी बोले, “जा बेटा ! कह दे कि पिता जी घर पर नहीं हैं।” बेटा उस के पास जा कर बोला—“चाचा ! पिता जी कह रहे हैं कि पिता जी घर पर नहीं हैं।”

इन कार्यों से समाज को सत्य बनाया जा रहा है। छोटे से लाभ के लिए अपना धर्म बेच देना किस धर्म-ग्रन्थ में लिखा है ?

“ऋतस्य पन्थाः दुर्गमाः दुरत्ययाः” सत्य का पथ दुर्गम होता है, उस पर चलना बहुत कठिन होता है। किसी भी स्थिति में सत्य का दामन छोड़ना नहीं चाहिए।

वसु राजा की दुर्गति असत्य से ही तो हुई थी। वसु, नारद तथा पर्वत तीनों मित्र थे तथा एक उपाध्याय से अध्ययन किया करते थे। वसु, राजा का पुत्र था। नारद ब्राह्मण-पुत्र था। पर्वत उपाध्याय का ही पुत्र था। उपाध्याय ने एक बार रात को देखा कि आकाश में रात को कहीं जा रहे २-३ चारण मुनि परस्पर वार्तालाप कर रहे थे तथा कह रहे थे कि इन तीन विद्यार्थियों में से २ नरक में तथा एक स्वर्ग में जाएगा। उपाध्याय ने विचार किया कि परीक्षा करके यह पता लगाना चाहिए कि कौन से दो विद्यार्थी नरकगामी हैं।

उस ने तीनों विद्यार्थियों को आटे का एक-एक मुर्गा दिया तथा उस से कहा कि इस को वहां काट कर आओ, जहां पर कोई भी न देखता हो। पर्वत तथा वसु ने जंगल में जा कर मुर्गों को मार दिया। जब कि नारद ने जंगलों तथा पर्वतों में जा कर यह सोचा कि यहां परमात्मा भी देख रहा है तथा मैं भी तो देख रहा हूँ, अतः इस आटे के मुर्गों को कैसे मार जा सकता है।

वह मुर्गे को मारे बिना ही वापिस लौटा। उपाध्याय समझ चुके थे कि यही एक नारद है, जो स्वर्ग में जाएगा।

कालांतर से वसु राजा बना। उस के सत्य के प्रभाव से उस का सिंहासन धरती से सदैव ऊपर रहता था।

एक बार पर्वत तथा नारद में कलह हुआ। नारद ने कहा कि गुरु जी ने 'अज' का अर्थ तीन वर्ष पुराना धान्य किया है। जब कि पर्वत कह रहा था कि 'अज' का अर्थ बकरा है।

दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि वसु राजा के पास जा कर यह दात पूछेंगे तथा जो असत्यवादी होगा वह अपनी जीभ काट लेगा।

गुरुपत्नी को पता लगा कि मेरे बेटे ने यह शर्त (प्रतिज्ञा) की है तो वह कल्पांत रुदन करने लगी क्योंकि वह जानती थी कि पर्वत इस विवाद में हार जाएगा।

वह सीधे वसु राजा के पास पहुंची तथा पर्वत की प्राण रक्षा के लिए कर्बद्ध प्रार्थना की। वसु ने स्पष्ट कहा कि गुरु जी ने जो अर्थ बताया था मैं उस का अन्य अर्थ नहीं कर सकता।

परन्तु अन्ततः गुरुमाता पर वसु को दया आ गई तथा उस ने राज्य सभा में पर्वत के पक्ष में मत दिया। इस असत्य के प्रकट होते ही सत्य के अधिष्ठायाक देवों ने सिंहासन को नीचे पटक दिया। वसु वहीं रक्त का वमन करता हुआ मृत्यु को प्राप्त करके नरक में गया।

असत्य का दामन पकड़ने वालों का कभी न कभी यही हाल होता है।

“सत्यमेव जयते हि नानृतम्।”

सदैव सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। आज भी विश्वयुद्ध की विभीषिका से इसी लिए बचा हुआ है क्योंकि सभी देश परमाणुबम से होने वाले विनाश को कल्पना नहीं,

सत्य मान रहे हैं। वे भी समझते हैं कि विनाश का प्रारम्भ कराने वाला ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति को समाप्त कर देगा। परमाणु बमों के भय से ही युद्ध का भय टला हुआ है। अन्यथा एक भी देश के निर्बल होने पर शत्रु का आक्रमण शीघ्र ही हो सकता है।

परन्तु परमाणु बमों के साये में पल रही शांति श्मशान की भयानक शांति होती है। इस शांति को यदि अहिंसा से जोड़ दिया जाए तो यह शांति स्थायी हो सकती है। परन्तु यह परम सत्य है कि कटु सत्य का सामना करने वाला ही स्थायी शांति को प्राप्त कर सकता है।

सत्य बोलने में यदि किसी भय को भी मोल लेना हो तो ले लेना चाहिए। क्योंकि उस का परिणाम भी अच्छा ही होता है।

वाणी में भी सत्य को ही स्थान देना चाहिए। जो वचन दो, उसे पूरी तरह से निभाना चाहिए। 'प्राण जाए पर वचन न जाए। प्राणों की बाजी लगा कर भी वचन को सत्य कर दिखाना चाहिए। वाणी से जो प्रतिज्ञा की हो, मरणांतकष्ट आने पर भी उस का पालन करना चाहिए। यही सत्य की कसौटी है।

'सत्यवादी भवेद् वक्ता।'

वक्ता भी वही होता है जो सत्यवादी हो। यदि कोई वक्ता असत्य का सुन्दर प्रतिपादन करता हो तो वह वक्ता कैसा? अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए असत्या बोलन—कहाँ तक उचित है?

सदैव सत्यवचन बोलने वाले को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। फिर वह इच्छापूर्वक या अनायास ही जो कुछ बोलता है वह स्वयमेव सही होता चला जाता है उसके मुख से जो भी निकलता है वह सत्य का ही प्रतिरूप होता है। योगी महात्माओं को वचन की सिद्धि अनायास ही प्राप्त नहीं होती, वचन की सिद्धि सत्यता तथा

मित भाषिता से होता है ; अतः सत्य वचन को 'हितमितपथ्यं सत्यं' कहा है । जो वचन हितकारी होता है, दूसरे का कल्याण करता है, किसी को दुःख नहीं पहुंचाता है, किसी के हित को बुद्धि से कल्याण की कामना से कहा जाता है, वह सत्य होता है ।

सत्य सदैव 'मित' होता है । वह कभी-कभी विस्तृत रूप से नहीं कहा जाता । जब सत्य का विस्तार किया जाता है तो कहीं भी असत्य के मिश्रण का भय रहता है ।

सत्य सदैव पथ्य होता है । वह अमृत की तरह शरीर तथा मन को सात्त्विक बनाता है । पथ्य वचन का प्रयोग मन तथा वचन को पवित्र बनाता है ।

ऐसा सत्य किसी के लिए अप्रिय नहीं होता । जो सत्य हो कर भी अप्रिय होता है, उसे सत्य भी नहीं कहना चाहिए ।

संत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् ।

न ब्रूयात् सत्यमप्रियं ॥

सत्य लेकिन प्रिय वचन बोलना चाहिए । जो सत्य किसी को दुःख दे, वो सत्य अहिंसायुक्त नहीं हो सकता । काने को काना, अंधे को अंधा कहा जाए तो उसे क्या दुःख न होगा ?

वाणी की मधुरता भी सत्य की ही परिभाषा है । यह मधुरता चापलूसी नहीं होनी चाहिए । अन्यथा चापलूसी वाला वचन भी असत्य की भांति ही फल देगा ।

श्री तुलसी दास जी ने असत्य को सबसे बड़ा पाप कहा है ।

नहि असत्य समपातक पुंजा,

गिरिसम होहि कि कोटर गुंजा ।

असत्य से मानव की आंतरिक शक्तियों का विकास रुद्ध हो जाता है । सत्य की शक्ति का आभास सत्यवेत्ता को ही हो सकता है । एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है—

'The Truth and love are most powerful things in the world.'

धत्य तथा प्रेम संसार में सब से अधिक शक्तिशाली वस्तुएं हैं। सत्य से संसार में श्रेष्ठता प्राप्त होती है। प्रेम से जगत अपना ही दिखाई देता है।

हरिश्चन्द्र ने सत्य के बल से ही विश्व में सत्यवादी होने का अलंकरण प्राप्त किया। सारा संसार बदल सकता है। सूर्य पश्चिम में उदित हो सकता है परन्तु सत्यवादी का सत्य विचलित नहीं हो सकता। वह सत्य को नहीं छुपाता है। न सत्य के सामने होने वाले आक्षेपों से घबराता है तथा न ही सत्य कहने में हिचकिचाहट का अनुभव करता है। सत्य ही उस के जीवन का, प्राणों का आधार होता है।

महाभरत म द्रोण वध का कारण असत्य ही बना था, जब द्रोण-आचार्य को जीतना कठिन हो रहा था। द्रोणाचार्य ने शंकर से यह वरदान प्राप्त किया था कि अश्वत्थामा की मृत्युका समाचार सुने बिना वह न मरेगा। पांडवों ने योजना बना ली तथा युधिष्ठिर को इस कार्य के लिये तैयार किया गया कि वह युद्ध के प्रांगण में कहेगा कि 'अश्वत्थामा हतो' अश्वत्थामा मर गया है। धर्मराज उर्फ युधिष्ठिर को असत्य बोलने का दोष भी न लगे इस लिए उन्होंने निर्णय किया कि इस के तुरन्त बाद नगाड़ा की ध्वनि में यह कह दिया जाए कि 'नरो वो कुंजरो वा'-अश्वत्थामा मर गया है परन्तु यह पता नहीं कि अश्वत्थामा नाम का हाथी मरा है या मनुष्य।

'अश्वत्थामा हतो' शब्दों का श्रवण करते ही द्रोणाचार्य ने हथियार डाल दिये तथा अन्तिम समय में वन में पहुंचे परन्तु वहां भी द्रोणाचार्य को वास्तविकता का पता न चल जाए—यह सोचकर धूँटदुम्न ने वहां जा कर द्रोणाचार्य को मार डाला।

एक असत्य ने एक व्यक्ति का नाश कर दिया। महाभारत में युद्ध से पूर्व जो प्रतिज्ञा, शर्तें रखी गई थी--उन का भी पालन नहीं हुआ। अर्थात् पूर्व में कहे गए वचन असत्य ही प्रमाणित हुए।

युद्ध में नियम बनाया गया था कि कोई भी योद्धा किसी निःशस्त्र पर आक्रमण नहीं करेगा। परन्तु कर्ण जब अपने रथ गर्त से निकाल रहा था, तब निःशस्त्र कर्ण को बाणों से बिद्ध कर दिया गया। वचन का पालन न हो सका।

श्री कृष्ण ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अर्जुन के सारथि बन कर रहेंगे लेकिन एक प्रसंग पर श्री कृष्ण ने भी रथ का पहिया शस्त्र के रूप में उठाया था। इस प्रकार प्रतिज्ञा वचन वहां टूट गया।

महाभारत में नियम बनाया गया था कि स्त्री या नपुंसक पर आक्रमण नहीं किया जाएगा। परन्तु जब भीष्म बाणों की वर्षा कर रहे थे तब नपुंसक शिखंडी को बीच में खड़ा करके उस के पीछे सुरक्षित रह कर अर्जुन ने बाण चलाए। जबकि नियम के अनुसार भीष्म शिखंडी पर बाण नहीं चला सकते थे। तब अर्जुन की प्रतिज्ञा क्या अखंड रही।

नियम के अनुसार एक योद्धा ही एक योद्धा के साथ युद्ध कर सकता था। परन्तु चक्रव्यूह में प्रविष्ट अभिमन्यु को कौरवों ने मिल कर मार डाला। यह कौरवों का क्या प्रतिज्ञा पालन था ?

इस प्रकार प्रतिज्ञा भ्रष्ट होने से ये महारथी अपने कहे हुए वचन को क्या सत्य कर सके ? इस प्रकार असत्य के पक्षधर बन गए।

अतएव एक अंग्रेजी के लेखक को कहना पड़ा कि "God is truth and truth is God" सत्य ही ईश्वर है तथा ईश्वर ही सत्य है। सत्य का ईश्वर की तरह सन्मान करना ही चाहिए। यह सन्मान मात्र शाब्दिक न हो, आचरण में भी हो एक writer ने कहा है।

*Not only with our lips,
but also with our lives.*

अर्थात्—सत्य का सम्बन्ध होठों से नहीं जीवन से होना चाहिए। गृहस्थ के सत्य व्रत में कुछ छूट मिल जाती है। गृहस्थ को अपने व्यापारादि में कुछ झूठ तो बोलना ही पड़ता है परन्तु बड़े झूठ का श्रावक के लिए निषेध है।

यदि गृहस्थ को बहुत बड़े लाभ के लिए छोटा झूठ बोलना पड़े तो वह क्षतव्य हो सकता है।

यदि गृहस्थ मार्ग में चलते हुए यह देखे कि एक गाय उधर से निकली है तथा कुछ ही क्षणों के पश्चात् वहां से कोई कसाई निकले तथा उस से पूछे कि आप ने यहाँ से गाय को जाते हुए देखा है? तो वह गृहस्थ सत्य कहने से पहले अपने अहिंसा धर्म को समझे।

हो सके तो उस कसाई को बातों में लगा दे ताकि गाय और भी दूर जा सके। वह दिशा न बताए कि किस दिशा में गाय गई है। वह विपरीत दिशा बता दे, जिस से कि गाय की रक्षा हो सके। जहाँ असत्य बोलना पापकारी न होगा। क्योंकि उसके पीछे सद्हेतु है।

यदि किसी साधु के सामने ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाए तो वह जहाँ तक हो सके मौन रहने का प्रयत्न करे।

परन्तु यदि वह कसाई बहुत ही आग्रह करे तो साधु मरणगत कष्ट भी सहन कर ले परन्तु वहाँ सत्य या असत्य तो नहीं बोले। क्योंकि उस अवसर पर सत्य कहने से जीव हिंसा होती है तथा असत्य कहने से व्रत में दोष लगता है।

यह सत्य व्रत, करना कराना अनुमोदना इस प्रकार तीन प्रकार का होता है? साधु सत्य का पालन स्वयं भी करे, दूसरों

से भी कराए तथा असत्य का स्वयं त्याग करके दूसरे सत्यवादियों की अनुमोदना भी करे ।

मन से असत्य का विचार भी न करे । वचन से असत्य न बोले तथा काया से झूठे इशारे न करे ।

इस महाव्रत को स्थिर करने के लिए पांच भावनाओं का वर्णन शास्त्रों में आता है ।

असत्य पांच कारणों से कहा जाता है ।

कोहा वा, लोहा वा माया वा हासा वा । (भःषणाच्च)

१. क्रोध से :—जब मानव क्रोध में आता है तो वह सत्य-असत्य, मन में जो कुछ भी आता है, बोलता जाता है । क्रोध में वह सत्य बात को न तो परख सकता है, न बोल सकता है । जब भी क्रोध आए, तब असत्य बोलने में कुछ विलम्ब कर देना चाहिए । बाद में ठंडे दिमाग से विचार करने पर व्यक्ति असत्य न कह कर सत्य बात भी कह देगा । अपनी गलती को भी मान लेगा । क्रोध के समय चित्त अस्थिर होता है । अतः तब किसी बात का भान भी नहीं रहता, न कर्त्तव्य का भान रहता है, न वाच्यावाच्य का क्रोध में व्यक्ति निंदा भी कर देता है तथा आरोप भी लगा देता है ।

२. लोभ से :—धन के लोभ से झूठ प्रायः बोला जाता है । रिश्वत आदि लेने के बाद, चोरी करने के बाद झूठ बोलना प्रायः देखा जाता है । अन्यथा पाप के पकड़े जाने का भय रहता है । झूठ बोल कर आप कुछ प्राप्त तो कर सकते हैं । परन्तु उस का उपयोग नहीं कर सकेंगे । वह वस्तु किसी भी कारण आप से दूर चली जाएगी । वह वस्तु झूठ से टिकेगी या पुण्य से ? व्यापारी तो दिन में सैकड़ों झूठ बोलता है । रुपये की वस्तु के लिये जब ग्राहक १० रुपये देगा तो वह तुरन्त कहेगा कि १० रु० में तो यह

खरीद कर ही लाया है। बिना माया तथा मूषावाद के धन कैसे कमाया जा सकता है।

३. माया से :—प्राणों की रक्षा करने के लिए भय के कारण झूठ बोला जाता है। भयभीत व्यक्ति को सदैव भय होता है कि मेरी कोई बात पकड़ी न जाए। वह डर-डर कर बोलेगा, तथा बारम्बार असत्य बोलने के कारण अपने बयान भी बदलेगा। भय से थरथर क पते हुए वह सत्य बोल भी कैसे सकता है? यदि उसे भयमुक्त किया जाए तो सत्य बोलने की सम्भावना हो सकती है। मानव अपयश, हानि आदि के भय से कह देता है कि मैंने यह काम नहीं किया। परन्तु इस प्रकार पाप+झूठ मिल जाने से द्विगुणित पाप हो जाता है। लोगों से भय अच्छा या आत्मा से भय अच्छा? असत्य को स्वीकार करके प्रायश्चित्त करना चाहिए।

लाई डिटेक्टर (Lie Dectecter) के द्वारा कई अपराधियों का झूठ पकड़ लिया जाता है, क्योंकि झूठ बोलते समय मानव के हृदय की धड़कन कुछ बढ़ ही जाती है। परन्तु जिसे लाई डिटेक्टर Indicate करता है। परन्तु कई व्यावसायिक (पेशेवर) अपराधी वहां भी झूठ को ऐसे बोल जाते हैं जैसे कि वह सत्य ही क्यों न हों। परन्तु झूठ बोलने वालों को भय के कारण भी अनायास ही झूठ बोलना पड़ता है।

४. हास्य से—हंसी मजाक में कई बार झूठ बोला दिया हंसी मजाक को यदि मनोरंजन तक ही रखा जाए तो व्यावहारिक रूप से उचित हो सकता है परन्तु जब यह प्रतिक्षण का ही कार्य बन जाए तो ?

कई बार तो हंसी मजाक से अपने सम्बन्धी या शत्रु किसी की मृत्यु का झूठा तार (Tele gramme) दे दिया जाता है।

जिस का दुष्प्रभाव अत्यधिक होता है। कई लोग तो अपने प्रिय की मृत्यु की सूचना पाकर स्वयं ही मर जाते हैं। एक अप्रैल के दिन एप्रिल फूल बनाने वाले भी कुछ ऐसा ही करते रहते हैं। एक कवि ने कहा था—

रोग का घर खांसी, लड़ाई का घर हांसी।

मजाक जब सीमा से बाहर हो जाता है तो कई बार वह चुभने लगता है। कटाक्षों तथा व्यंग्यों की भी कोई सोमा होती है। हंसी मजाक में ही कई लोग हिंसक कलह तक उतर आते हैं।

हंसी मजाक में प्रायः झूठ का ही आश्रय लेना पड़ता है। हंसी मजाक अनर्थ दण्ड भी है अतः इस का त्याग करना चाहिए।

मजाक में किसी की वस्तु के अभाव में व्याकुल होता देख कर आनन्दित होना तथा पूछने पर कहना कि मैंने तो तेरी वस्तु देखी ही नहीं, यह सफेद झूठ मजाक के कारण होता है। किसी के मजाक से मम्मन सेठ, दरिद्रणारायण या (व्यङ्ग्य में) बुद्धिमान् या मूर्ख कहते रहने से भी उस के हृदय पर बहुत असर होता है।

बिना सोचे बोलने से :—यह झूठ अनायास ही बोल दिया जाता है, किसी ने कुछ पूछा तथा आप को कुछ ख्याल नहीं है तो आप से कुछ भी वचन निकल ही जाएगा। अतः पूरी तरह से सोच-विचार कर उत्तर देना चाहिए। बिना विचार किए किसी के प्रति कुछ भी गलत कहते जाना महामूर्खता का लक्षण है। ऐसा करने वाला उस को अपना शत्रु बना लेता है तथा जीवन में कभी न कभी अवश्य ही पश्चात्ताप करता है। कोई भी कार्य अविचार से तथा जल्दबाजी से नहीं करना चाहिए। सहसा की गई क्रिया का परिणाम कभी-कभी बहुत भयंकर होता है।

हो सके तो कम से कम बोलो। कम बोलेंगे तो असत्य भी

कम कहेंगे। महात्मा गांधी कहा करते थे कि यदि एक शब्द से काम चलता हो तो दो शब्द मत बोलो। इस से आप बहुत से अनावश्यक पापों से बच जाएंगे।

उपर्युक्त पांचों असत्य कारणों को राग द्वेष तथा मोह में समाविष्ट किया जा सकता है। राग द्वेष के बिना असत्य बोलना नहीं जा सकता। इस का मूल कारण मोह होता है। इस प्रकार मानव असत्य से हट कर सत्य का पथिक बने, असत्य से सदैव स्वयं की रक्षा करे तो उसे जीवन में शांति मिल सकती है।



अचौर्य

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम् ।

बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो, हरता तं हता हिते ॥२२॥

अर्थ—न दिए को ग्रहण न करना अदत्तादान महाव्रत है। मानव के लिए धन बाह्य प्राण है, उस के अपहरण से ही उसके प्राणों का हरण हो जाता है।

बिना किसी से पूछे किसी वस्तु का स्पर्श मत करो। साधु आप के घर आते हैं। आप के घर में सैंकड़ों प्रकार के पदार्थ होते हैं, परन्तु साधु उन को देख कर भी स्पर्श नहीं करता है। साधु गृहस्थ के घर में समस्त पड़े तूण को भी स्पर्श नहीं करता। उस के लिए उसे गृहस्थ की आज्ञा लेनी पड़ती है। साधु धर्म में समस्त विधि अनवद्य तथा निरवद्य होने की है। जो भी गृहस्थ की सांसारिक क्रिया है, उन सभी से मुक्त हों जाना—यह सर्वविरति धर्म है।

पांच महाव्रतों में अदत्तादान विरला व्रत है, अनुपम व्रत है। क्योंकि हेरा फेरी, बेईमानी, ठगी किए बिना सांसारिक प्राणी का जीवन निर्वाह ही नहीं हो सकता। कदम-कदम पर मानव हिंसा करता है। कदम-कदम पर झूठ बोलता है। इसी तरह कदम-कदम पर हेरा फेरी भी करता है।

शास्त्रकारों के अनुसार प्रत्येक त्रिविध-त्रिविध प्रकार में होता है। करना, कराना अनुमोदना तथा मन से, वचन से एवं काया से। चोरी करने वाला मन से भी चोरी कर सकता है। यदि मन में यह विचार मात्र भी आ गया कि मैं चोरी कर लू तो पाप का बन्धन हो जाता है।

यदि वचन से यह कह दिया कि यह वस्तु उठा लेनी चाहिए तो वह वचन से चोरी है। अदत्त ग्रहण है।

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परकीय वस्तु को चुरा कर ले जाना काया से चोरी है।

आज समाज में बहुत हेराफेरी चल रही है। केवल व्यापार की बात नहीं है। मानव के प्रत्येक कर्म में हेराफेरी है। अनैतिकता है। यदि आप तोलने में कपट करते हैं तो वह भी एक प्रकार की चोरी है।

अचौर्य व्रतधारी ही समझ सकता है कि अदत्त के अग्रहण से क्या लाभ हो सकता है? चोरी करने से दूसरे की आत्मा को दुःख होता है। चोरी तो हिंसा से भी बदतर है।

चोरी करने से हिंसा करने की अपेक्षा अधिक पापोपाजन होता है। क्योंकि हिंसा करने वाला तो जान से मारता है किन्तु धन हरण करने वाला एक प्रकार से सारे परिवार को ही दुःखी करता है। धनाभाव में उन का जीवनयापन कठिन हो जाता है। वह समस्त परिवार जीवित होने पर भी मृत के समान हो जाता है। परिवार का मुख्य व्यक्ति जब परिवार को भोजन नहीं दे पाएगा तथा सफेद पोशी एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वह याचना भी नहीं कर पाएगा तो उस का जीवन ही नष्ट हो जाएगा। वह स्वयं भी क्षुधित होकर मरेगा तथा अन्यो को भी मृत्यु के अभिशाप से नहीं बचा सकेगा।

चोर के मन में भय होता है। वह छोटा हो या बड़ा हो, उस के मन में भय अवश्य होता है। जहां भय है, वहां धर्म नहीं हो सकता। जहां हिंसा या असत्य है, वहां भी धर्म नहीं हो सकता। चोरी करने वाला इसी भय से ग्रस्त रहता है कि मुझे कोई देख न ले। वह चोरी करके भाग जाना चाहता है। जिस से कि उस की चोरी पकड़ी न जाए। चोरी के साथ प्रायः माया का संबन्ध होता है। जो चोरी करेगा। वह न पकड़े जाने पर माया कपट से उसे छुपायेगा। यदि कोई तलाशी लेने आएगा तो छुपाई वस्तु को पकड़े जाने का भय भी बना रहेगा। चोरी करने वाले को समय-समय पर पांच व्रतों के खंडन का दोष लगेगा।

वह पकड़े जाने पर असत्य भी बोलेगा। चोर स्वयं कहेगा कि मैंने चोरी नहीं की। इतना ही नहीं, चोरी करने वाले की दृष्टि ही गिद्धे-दृष्टि बन जाती है। वह यत्र-तत्र इसी दृष्टि से ही देखता रहता है कि कहीं से कुछ मिल जाए। जहां कहीं ताला लगा होगा। वहाँ वह ताला तोड़ने का विचार यदि न भी करे तो खुला वस्तु को उठाने की वृत्ति उस की अवश्य बनी रहेगी।

चोरी करने वाले को घर में या मार्ग में कहीं पर कोई ललकार दे तो वह युद्ध भी करेगा। इस प्रकार वहां हिंसा होने की पूरी सम्भावना होती है। चोरों के पास प्रायः शस्त्र होते ही हैं। बैंक या घर को लूटने वाले प्रथम पहरेदार को ही तीक्ष्ण छुरी या गोली से मार देते हैं या घायल कर देते हैं। कुत्ते को विषमय वस्तु खिला देते हैं तथा कभी-कभी दूढ़ प्रहारी की तरह बाल-बध स्त्री-बध, गो-बध तथा ब्राह्मण बध या साधु बध भी कर देते हैं। चिलाति पुत्र को भी चोरी के कारण ही सुसीमा की हत्या करनी पड़ी थी।

चोरी करने से कभी ब्रह्मचर्य के खंडन का प्रसंग भी आ सकता है। मान लिया कि एक चोर किसी परकीय घर में प्रविष्ट

हुआ। वहाँ पर उस ने चोरी करने से पहले या बाद में किसी सुन्दर स्त्री को देख लिया। यदि वह एकाकी हो तो चोर का मन उस के प्रति आसक्त हो सकता है। बंकचल के सम्मुख एवंविध प्रसंग उपस्थित हो गया था, परन्तु वह तो नियम के कारण पतित न हुआ। अन्यथा वहाँ पतित करने के लिए रानी स्वयं सम्मुख से प्रार्थना कर रही थी।

यदि चोर पकड़ा जाए तो उस की मृत्यु तक हो सकती है। ललितांग कुमार रानी के अन्तःपुर में गया था परन्तु रानी ने उसे गंदे कूप (गटर) में डाल दिया था।

चोर का परिग्रह से क्या सम्बन्ध ! न्यायनीति से धन कमाने वाला तो अपरिग्रही हो सकता है। परन्तु अनीति से धन संग्रह करने वाला लोभी ही होगा। अपरिग्रही नहीं हो सकता। क्या वह परिग्रह की मर्यादा कर पाएगा ?

इस प्रकार चोरी से पाँचों व्रतों में दूषण तथा अतिचार लगते हैं।

चोर अपने कर्त्तव्य से भी अपरिचित होता है। चोरी चोर का साध्य होता है। चोरी करने के लिए यदि हिंसादि भी करनी पड़े तो हिंसा भी वह करेगा। तब वह विस्मृत कर देगा कि वह चोरी करने आया है, किसी को मारने नहीं।

धन आज के मानव का ११ वां प्राण है। जैसे १० प्राण में से एक भी प्राण न हो तो पंचेन्द्रिय प्राणी जीवित नहीं रह सकता। वैसे ही धन भी एक प्राण के ही समान है। यदि धन न हो तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता तथा धन के हरण से कई व्यक्तियों को हार्ट अटैक तथा हार्ट फेल होते हुए भी देखा गया है। अतः इस का मूल्य भी प्राण से कम नहीं है। व्यक्ति प्राणों से भी अधिक प्रेम धन से करता है। वह धन के लिए समुद्र पार करना

है। वह बहुत बड़े-बड़े कष्ट झेलता है। खून-पसीना एक करता है। प्राणों तक का बलिदान देने को तैयार रहता है फिर भी यदि वह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा लूट लिया जाता है तो उसे क्यों न दुःख होगा ? प्राण रक्षा के लिए भी धन का उपयोग न करने वाले लोग इस विश्व में मिल जाएंगे। परन्तु धनरक्षा के लिए प्राणों की बाजी न लगाने वाले लोग बहुत कम मिलेंगे।

धन मानव की बहुत बड़ी कमजोरी है। यही कमजोरी व्यक्ति से चोरी कराती है। योग-शास्त्रकार कहते हैं कि दोनों से मुक्ति पाने के लिए अचौर्य व्रत आवश्यक है। धर्म के नाम पर ठगी करने वाले लोग भी इस दुनिया में हैं। कोई महात्मा बनकर कोई धर्मात्मा बन कर, कोई पुजारी बन कर या भक्त बन कर जनता की वंचना करता है।

यदि कोई साधु वेषधारी वंचक आप को यह कहे कि वह एक अंगूठी की चार अंगूठी बना सकता है। तो आप उसे सोने की अंगूठी देंगे या नहीं ? अवश्य देंगे। यहीं पर आप का लोभ आप की वंचना करा देता है। तब वह व्यक्ति चार गुणा देने के विपरीत वह माल लेकर नकली माल आप को थमा देगा या वह अंगूठी लेकर भाग जाएगा और लोभी मार्गदर्शी बन कर उस के लौटने की प्रतीक्षा करता बैठा रहेगा। जहां लोभी होते हैं, वहाँ ठग भी होते हैं। कतिधा धर्मस्थानों पर भी चोरियां होती हैं। मुख्यतः जूतों की चोरी। कई लोग यहाँ जूते चुराने ही आते हैं। तथा अवसर का लाभ उठा लेते हैं। बताइये, जहाँ जूतों की चोरी होती है वहाँ भक्त उपदेश सुनने जाएगा ? धर्मस्थान पर भी पाप के कर्म ? कौसी दूषित मनोवृत्ति।

कई लोग भीड़ में जब काटने में दक्ष होते हैं। मन्दिरों में प्रायः भीड़ तो होती है। अतः वे भक्त बन कर आते हैं और जब काट कर चले जाते हैं।

कई चोर आत्म-बंधक भी होते हैं। वे लाखों की संख्या की चोरी करके कुछ दान कर देते हैं या दीन-दुखियों को वितरित कर देते हैं। उन्हें यह आत्म सन्तोष होता है कि वे इम से धर्म ही कर रहे हैं। जब कि अनर्थकारी धन से किया गया धर्म भी अनर्थकारी ही होता है।

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरं ।

पहले चोरी का पाप करके फिर थोड़ा सा दान दे देना कीचड़ में पैर डाल कर प्रक्षालित करने के समान है। यह कोई बुद्धिमत्ता पूर्ण कार्य नहीं है। वे समझते हैं कि धनवानों के धन की चोरी करके गरीबों का दुःख दूर करना उचित ही है। परन्तु चोरी से दुःखी उस धनवान् का दुःख दूर कौन करेगा ?

देश के बड़े-बड़े स्मगलर भी आत्म-प्रबंधना के शिकार हैं। वे स्मगलर से करोड़ों रुपये अजित करके लाखों रुपये धर्म के कार्यों पर लगा देते हैं। जिससे देश में समानांतर अर्थव्यवस्था खड़ी करके वे देशद्रोह के भागीदार बनते हैं।

साधु का अचौर्य सम्पूर्ण है। सूक्ष्म है परन्तु गृहस्थ को भी अचौर्य के सम्बन्ध में कुछ नियम बना ही लेने चाहिए।

मान लीजिये आपके पास किसी ने अपनी अमानत रखी। आप उसमें ख्यानत कर जाते हैं। वह जब आपके पास मांगने आए तब आप उसे कह देते हैं कि, 'तूने मेरे पास वह वस्तु कब रखी थी? अथवा चोर ले गया है।' यदि आप के साथ ऐसा व्यवहार हो तो! नियत ही बिगड़ जाए तो आँखों की लज्जा कहाँ रह

सकती है ?

आज मानव सरकार, परिवार तथा धर्म के साथ ठगी करके Black money बढ़ाता जा रहा है। वह समस्त धन भी चोरी का ही धन है।

लोग धन के लिए सरकार के करों की चोरी करते हैं। तथा स्पष्टतः (Clearitication) यह कहते हैं कि सरकार ने टैक्स लगाए ही इतने हैं कि करचोरी करनी ही पड़ती है। करचोरी करने वालों से पूछा जाए कि सरकार तुम से कर लेती है तो क्या उस के विनिमय में तुम को वह क्या कुछ नहीं देती? आप सरकार से सैनिक तथा नागरिक सुरक्षा प्राप्त करते हैं। सरकार से प्रत्येक सुविधा जैसे जल, भोजन वितरण, विद्युत, भूमि, उद्योग, सड़कें प्राप्त करते हैं। सरकार यदि इन सुविधाओं पर पाबंदी लगा दे तो क्या आप कोई भी कार्य कर सकेंगे? आप विद्युत, जल आदि का कर देते हैं तो आय कर देने से क्यों घबरा जाते हैं? आप यह भूल जाते हैं कि आप के द्वारा प्रदत्त आयकर सारे भारत की रक्षा व्यवस्था के लिए भी पर्याप्त नहीं होता।

ब्लैक मनी की समस्या से आज हर देश की सरकार चिंतित है। काला बाजारी, स्मगलिंग, हेराफेरी, ड्रुपलीकेट एकाऊट की कापियां आदि प्रत्येक से अर्थ व्यवस्था पर प्रबल चोट लगती है। पूंजीपति का संगृहीत धन भी गरीबों तक नहीं पहुंच पाता है। पूंजीवाद से गरीबों का शोषण भी होता है। शासकीय चोरी दंडनीय भी होती है। राष्ट्र की गुप्त रक्षा व्यवस्था के दस्तावेजों की चोरी तथा जासूसी से भी देश का अधःपतन होता है— अर्थ-व्यवस्था भंग करने तथा भ्रष्टाचार फैलाने वाले तत्वों से समाज तथा देश को बचाने की आवश्यकता है।

सरकार के प्रत्येक विभाग में रिश्वत की शक्ति का उद्घोष है। इस में रिश्वत लेने वालों का ही दोष नहीं, रिश्वत देने वालों का भी दोष है। कोई रिश्वत देगा ही नहीं, तो कोई लेगा कैसे? हमारे देश में एक ऐसी संस्था बन चुकी है जो भ्रष्टाचार को कानूनी मान्यता प्राप्त करवाने को कटिबद्ध है। उस का तर्क है कि जब भ्रष्टाचार के बिना चल नहीं सकता तो उसे कानून

सम्मत ही क्यों न करार दिया जाए। यह एक संतोषजनक बात है कि भ्रष्टाचार तथा रिश्वतखोर लोगों को कई बार दण्ड भी दिया जाता है परन्तु यदि मानव समाज के चोरी के इन समस्त रूपों को समझ कर उन में इन कर्मों के त्याग की भावना उत्पन्न की जाए तो अनायास ही देश तथा समाज से ऐसे पाप दूर हो सकते हैं।

परकीय वस्तु का ग्रहण तो दूर, उन का स्पर्श भी तर्जनीय माना जाना चाहिए। भारत वर्ष में मार्ग में प्राप्त किसी वस्तु को यदि पुलिस स्टेशन पहुंचा दिया जाए तो इसी को ईमानदारी कहा जाता है परन्तु पश्चिम के एक देश में एक विचित्र घटना घटी थी।

एक भारतीय ने एक बैग पड़ा देखा। भारतीय संस्कारों के अनुसार उस ने बैग पुलिस स्टेशन पहुंचा दिया। बैग के गुम हो जाने के बाद बैग का मालिक भी पुलिस स्टेशन रिपोर्ट लिखवाने गया। तो पुलिस ने उसे कहा, “देखो! यही तो तुम्हारा बैग नहीं है? स्वीकृति पा कर पुलिस वाला बोला, इस व्यक्ति को तुम्हारा बैग मिला है। उसने इसे यहाँ पहुंचाया है अतः इसे कुछ इनाम दो।”

सेठ ने बैग के रूपों को गिनती की तथा कहा, ईनाम! इस व्यक्ति को तो दंड देना चाहिए क्योंकि इस ने मेरे बैग को स्पर्श करने का अपराध किया है। जब यह बैग उस का नहीं था तो परकीय वस्तु को उस ने हाथ क्यों लगाया जिस का वह बैग होता वह अवश्य ही स्मृति के अनुसार वहाँ पहुंच कर अपना बैग ले जाता। सेठ का तर्क था।

लिखने का तात्पर्य है कि भगवान् महावीर का वह सिद्धांत अद्वितीय है। किसी की वस्तु को स्पर्श करने मात्र से ही व्यक्ति

को 'चोर' के अलंकार से विभूषित होना पड़ सकता है।

परिवार तथा भाईयों से ठगी करने वाले भी विश्व में कम नहीं हैं। धर्म के धन को पचा जाने वाले भी इस दुनिया में हैं। चोरी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

चोरी छुपे किसी सुन्दर स्त्री को देर तक अपलक देखना भी क्या चोरी नहीं है? एक शायर ने दो शब्दों में चोरी की व्यापकता का दिग्दर्शन करा दिया है।

न सूरत बुरी है, न सीरत बुरी है।

बुरा है वह जिस की नीयत बुरी है ॥

विश्व का कोई भी पदार्थ बुरा नहीं है। बुरी तो मात्र इंसान की नीयत है। यदि नीयत अच्छी नहीं है तो शेष शून्य बचता है बुराई का पहला या अन्तिम मानदण्ड ही यह है। क्योंकि नीयत का सम्बन्ध व्यक्ति के "पवित्र मन" से हैं।

धन को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है : "बाइट मनी" (नीति का धन), ब्लैक मनी (सरकार की दृष्टि से बचाया हुआ धन) सिक्रेट मनी (परिवार या पत्नी की आंखों में धूल डाल कर) दुकान से बचाया हुआ धन, रिलीजियस ट्रस्ट ब्लैक मनी (धार्मिक ट्रस्ट बना बनाकर उसके धन का दुरुपयोग।) प्रथम को छोड़कर शेष तीन प्रकार, प्रकारांतर से चोरी के ही रूप हैं। कोई व्यापारो हो या सर्विस मैन, प्रत्येक को उपर्युक्त सर्व-विध भ्रष्टाचार से बचने की आवश्यकता है। उससे न केवल देश या समाज का कल्याण होगा बल्कि व्यक्ति का नैतिक जीवन भी सुधरेगा तथा वह इहलौकिक समृद्धि तथा प्रतिष्ठा के साथ-साथ पारलौकिक सुखों का उपभोक्ता भी बन सकेगा।

चोर के नाम से प्रतिष्ठित होने के लिए एक ही चोरी काफी है। फिल्में भी जहां अपहरण, बलात्, युद्ध, कलह आदि

सिखाती है, वहां चोरी भी सिखाती हैं। फिल्मों में यथा रूप दृश देख कर बालक तथा युवकों के मन में भी तादृश कुछ करने की लालसा जागृत होती है तथा कभी-कभी वह साकार भी हो जाती है। एक फिल्म में सभी प्रबन्धों के बावजूद एक चोर गुप्त जगह पर पहरेदारों के रक्षण में पड़ी हीरो की पेट्टी को उठा कर ले जाता है। ऐसा दृश्य देख कर बच्चे चोर नहीं बनेंगे तो क्या बनेंगे ?

बड़ों की चोरी की आदत देख कर बालक भी तत्सदृश व्यवहार सीख जाता है। परिस्थिति तब और भी अधिक भयानक हो जाती है। जब चोरी करके स्कूल से पेन पेंसिल या स्लेट लाने वाले बच्चे के मां-बाप कुछ भी नहीं कहते हैं। एक बालक विद्यालय से एक पेन चुरा कर लाया। मां ने उस पेन को संभाल कर रख लिया तथा कहा, कि “मुझे चार आने का लाभ हुआ।” मां से उस को प्रोत्साहन मिल चुका था। मां नहीं जानती थी कि वह अपने बेटे के जीवन को बर्बाद करने के लिए सामान पैदा कर रही है। मां बच्चे के इस कर्म को इस दृष्टि से देख रही थी कि मेरा बेटा चुस्त है जो दस वर्ष की आयु से धन जमा करता है तथा मां को यह बताता है कि चोरी करने से माल मिलता है तथा किसी को पता भी नहीं चलता है। तदनन्तर वह अन्य छोटी बड़ी वस्तुएं भी चुरा-चुरा कर लाता रहा। अन्त में युवावस्था में चोरी के आरोप में पकड़ा गया। उसे मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी गई। मां को इस बात का पता चला तो वह रो पड़ी। अब रोने का अर्थ क्या ? बेटे को चोर तूने स्वयं बनाया है। युवक से उस की अन्तिम इच्छा की पृच्छा की गई। बेटे ने मां से मिलने की इच्छा व्यक्त की। वह मां के प्रति द्वेषाग्नि से दग्ध ही रहा था। मां को बुलाया गया। उस ने मां का एक अन्तिम चुम्बन लेने के लिए मां को आगे आने के लिए बुलाया।

मां के पास में आने की देर थी कि युवक ने उस की नाक को दांतों से काट खाय। मां सचमुच इसी प्यार के योग्य थी। लोगों ने आश्चर्य चकित होकर पूछा कि “तूने यह कार्य क्यों किया” तो उस ने उत्तर दिया, कि “मैं चोरी करके जब कोई वस्तु लाता तो मां मुझे और चोरी करने के लिए प्रोत्साहन देती।” उस ने मां से कहा, “मां, मैं तेरी कृपा से शीघ्र ही यमराज के घर पहुंच रहा हूँ। मैं यही कामना करता हूँ कि तू भी शीघ्र ही मुझ से मिलने के लिए भगवान् के घर पहुंच जाए।” मुझे मिल रही मृत्यु मां के ही कार्यों का प्रतिफल है। ‘चोर को मत मारो, चोर की मां को मारो।’ इस लोकोक्ति के पीछे यही तो रहस्य है।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि बालक किसी वस्तु को खाने या पाने के लिए सहज रूप में या अन्य बालकों को देख कर घर से भी चोरी कर लेता है। इसी अवस्था में उस के जीवन को मनोवैज्ञानिक रीति से समझने या सुधारने की आवश्यकता है। उस के जीवन को इतनी सुन्दर रीति से निर्मित करें कि वह आप को जीवन भर याद करे।

इस्लामिक देशों में चोरी करने वालों के हाथ काट दिये जाते हैं। कानून के सख्त होने से अपराधों के अवरोध में सहायता मिलती है। कानून तो सख्त होना ही चाहिए, फिर भले हाथ काटने की सीमा तक सख्त भी क्यों न हो ? चोरों, डाकुओं तथा जेबकतरों को ऐसा दंड देना चाहिए जिस से वे स्वयं ही इन अपराधों से मुक्त हो जाएं। दस्यूसुन्दरी फूलन देवी तथा डाकू मान सिंह आदि बड़े-बड़े डकैत किसी मजबूरी से ही डाकू बने हैं। इन का समूल नाश करने के तरीके अपनाने के बदले जे० पी० का फार्मला अपना लिया जाए तो काम सरल हो सकता है। जब जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में अनेक दस्युओं को चोरी से मुक्ति दिला कर नैतिक जीवन के लिए तैयार किया गया।

चोरी के अनेक कारणों तथा दरिद्रता, लोभ, प्रेम, परम्परा आदि परिगणित किए जा सकते हैं। अंगुलि माल तथा रोहिणिय कुल परम्परा से डाकू थे परन्तु उन्होंने क्रमशः भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध के उपदेशों को जीवन की दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। दरिद्रता जैसी विवशता से क्रियमान चोरी उस व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करके दूर की जा सकती है। जम्बू कुमार जैसे महावीरों के जीवन को देख कर, प्रभव, जैसे पत्नीपति प्रभव स्वामी बन कर महावीर के पट्ट को सुशोभित कर सके। महात्माओं के उपदेश से बंकचूल जैसे चोर भी नरक गति की नियति से मुक्त हो कर स्वर्ग के सुख भोगों को पा सका। बुभुक्षितः किं न करोति पापं जो भूखा होगा, बेरोजगार होगा वह चोरी के मार्ग पर चले तो आश्चर्य नहीं है। अतः अपने सार्धर्मियों को शनैः-शनैः ऊपर उठाना चाहिए। सामायिक करने वाले सेठ के हार को चुराने वाला जब पत्नी की प्रेरणा से वह हार बेचने के लिए उसी सेठ के घर जाता है तो वह सेठ सार्धर्मियों का ह्याल न रखने की अपनी गलती मान कर वह हार उसी को देकर क्षमा याचना भी करता है वस्तुतः अपने पड़ोसी या सार्धर्मी भाई को सहायता न देकर समाज उसे स्वयं चोर बनाती है। चोरी के धन से व्यक्ति सतत रूप से उद्विग्न रहता है। वह शांति को प्राप्त नहीं कर सकता। खून पसीने से से अर्जित धन से सदैव शांति प्राप्त की जा सकती है। उस धन में बरकत होती है। वह धन उपयोग में लेने पर भी नहीं खूटता। अन्याय के धन में ऐसी दुर्गन्ध होती है जिस से न्यायशील व्यक्ति को वहाँ खड़ा रहने से भी घृणा हो जाती है।

चोर अपनी ओर से चोरी का कोई प्रमाण छोड़ कर नहीं जाता परन्तु परिवेक्षण के पश्चात् वह जब हस्तगत हो जाता है

तथा असत्य बोल कर स्वयं को मानो एक किनारे के पीछे छुपाने का प्रयत्न करता है तो पुलिस के डंडों का 'रसास्वाद' उसे अपने कृतकर्मों पर अश्रुधारा प्रवाहित करने को विवश करता है। यदि वह तब भी सुधर जाए तो गनीमत है। अन्यथा कई चोरों ने जेल जाना एक ब्याज बना लिया है। जेल में कम से कम रोटा तो नसीब होगी, यही विचार धारा उन्हें नेक इन्सान न बनने की बाध्य करती है। समाज कल्याण कर्त्री संस्थाएं अन्य अनेक क्षेत्रों में प्रगति कर रही हैं उन्हें इस क्षेत्र में भी कुछ कार्यरत होना चाहिए। इस से समाज को विश्वास, अभय, प्रेम तथा असदेह प्राप्त होगा जो कि प्रत्येक सामाजिक प्राणी का अयाचित अधिकार है।

कई व्यक्तियों की प्रायिक पृच्छा होती है कि महाराज ! हमारा अचौर्य व्रत कैसा है ? क्या इस स्थूल अदत्तादान विरमण को लेकर हम आयकर तथा विक्रयकर बचा सकते हैं ? वास्तव में यह ही मन की दुर्बलता का प्रश्न है। जो नियम सरकार ने बनाये वे सभी जनता के लाभ के लिए होते हैं, स्वयं के लाभार्थ नहीं। एक व्यक्ति से मैंने पूछा, "क्या तुम आयकर देते हो ?" जी हां, मैं ईमानदारी से आयकर- जो कि वार्षिक ५-६ लाख रु० बनता है-सरकार को अर्पित करता हूँ।" यह उसका उत्तर था। मैंने उस को उत्तर की सत्यता की परीक्षा के लिए कहा, "तुम ऐसा क्यों करते हो ? इतना टैक्स देने के बाद तुम्हें क्या मिलेगा ? उस का समुचित उत्तर था। "महाराज ! हमें टैक्स देना ही चाहिए।" अन्यथा प्रजा इसी प्रकार विचार करने लग जाए तो सरकार को देश की व्यवस्था करना कठिन हो जाएगी। हम टैक्स देकर सरकार पर कोई एहसान नहीं करते, मात्र अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

कर चोरी करके भी क्या आप उसे सधर्मी सेवा तथा दान पुण्य में लगाना चाहते हैं ? यदि कर चोरी करके आप उस राशि को दान पुण्य में लगा देते हैं तो भी किसी रूप में ठीक है । परन्तु मनी को ब्लैक मनी बना कर दान करने से कहां श्रयान् होगा ? आप शासन की अनुमति लेकर धार्मिक ट्रस्ट बनाएं तथा सरकार की सहमति से ही उस ट्रस्ट के धन को सत्कार्यों में लगाएं ।

ब्लैक मनी को कभी भूल कर भी घर में मत रखना । वह मनी आपके लिए अनेक अनर्थों को जन्म देगी । उस मनी को यदि सत् कार्यों में नहीं लगाया तो अवश्य ही वह ब्लैक मनी आप के लिए रोग, शोक, दुर्भिक्ष, हानि आदि ब्लैक फॉरच्यून लेकर आयेगी ? उस मनी का उपयोग करने से वह मनी शरीर में ही रोग बन कर फूट सकती है ।

मैं ब्लैक मनी को बनाने का समर्थन नहीं कर रहा हूँ । मात्र उस धन को चैरिटी में लगाने का परामर्श दे रहा हूँ । उस से आप के पाप का ब्याज कुछ तो चुकाया जा सकेगा । यदि ब्लैक मनी का पश्चाताप करके आगे से यह कार्य छोड़ देने का संकल्प ले लिया जाए तो पाप के मूल से भी मुक्ति हो सकती है ।

यदि टैक्स आदि देकर आप सरकार को देशरक्षा तथा देशोत्थान में सहयोग देते हैं तो यह भी पुण्य का ही एक प्रकार है । देश रक्षा के लिए जैन श्रावक भामा शाह ने अपना सर्वस्व (बाइट मनी) महाराणा प्रताप के चरणों में अर्पित कर दिया, तो क्या आप देश के लिए सरकार का उचित अधिकृत धन सरकार को नहीं दे सकते ?

दुकान पर यदि आप १० रु० की वस्तु का २० रु० बनाते हैं तो आप का बच्चा भी उसी अनुपात में शोषण की ही छूट खेलेगा । गरीबों की मृगया उसे कठोर हृदय बना कर एक पक्का

अप्रामाणिक बना कर रख देगी। दुकान पर यदि एक निश्चित मार्जन पर वित्रय किया जाए तो यह सामाजिक दूषण माघ के शंत्य से नवअंकुरित पुष्पों की तरह नवोदित युवावर्ग को ध्वस्त न कर पाएगा।

हेमचन्द्राचार्य ४ प्रकार की चोरी का विवरण देते हैं।

१. स्वामि अदत्त—वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना वह वस्तु ग्रहण करना।

२. जीव अदत्त—यदि माता-पिता (स्वामी) अपना पुत्र साधुओं को देते हैं परन्तु उस पुत्र की स्वयं की इच्छा दीक्षा धारण करने के विरुद्ध है तथापि उम जीव को दीक्षा देना आदि।

३. तीर्थंकर अदत्त—तीर्थंकर के मार्ग या विधिनिषेध या आज्ञा के विरुद्ध चलना।

४. गुरु अदत्त—गुरु की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना।

चोरी करने वाला व्यक्ति लाभांतराय कर्म का बन्धन भी करता है। उसे भवांतर में लाभ होने में अन्तराय होता है। उसे भोगों का उपभोग करने में भी अंतराय हो जाता है। फिर उसके पास समस्त सांसारिक साधन होने पर वह उन का भोग नहीं कर सकता। इस अंतराय के रूप में उसके शरीर में रोग, शोक आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे वह भोगोपभोग कर ही नहीं सकता। यहां तक कि कतिधा उस का अर्जित धन तथा भौतिक साधन उस के घर से उड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं और वह देखता ही रह जाता है।

शास्त्रों में एक कथा आती है। एक चोर था, वह चोरी कर करके दान दिया करता था। उसका विचार था कि धनाढ्य लोग

जब गरीबों को स्वाजित धन वितरित नहीं करते तो हमें ही यह शुभ कार्य करना चाहिए। धनाढ्यों का धन जबरदस्ती लूट कर दीन दुखियों को बांट देना चाहिए। ऐसे विचारों के परिणाम से दान के प्रभाव से वह बड़े-बड़े धनपति के घर में उत्पन्न होता है।

जब उस की युवावस्था का प्रारम्भ होता है। घनादि के भोग्य उस अवस्था में भोगांतराय कर्म उदित होता है। वह एक दिन स्नान कर रहा था तो अकस्मात् उस ने देखा कि उस के घर की वस्तुएं उड़ती जा रही हैं। स्नानगृह में उस ने देखा कि कि टब उड़ गया था। लोटे को जमीन पर रखते ही वह भी आकाश में उड़ गया। वह आश्चर्य चकित हो कर घर से बाहर आता है। वह देखता है कि उस के घर की मेज, कुर्सी, पलंगादि सभी कुछ उड़ते जा रहे हैं। अब तो घर का कीमती सामान भी छू-मन्तर हो जाता है। और तो और, ऐसे समय पर मकान भी उड़ जाता है। उस ने हर पदार्थ को बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किया। परन्तु एक वस्तु पकड़े तो दूसरी उड़ने लगी, इस प्रकार उस वराक के देखते ही देखते उस की पैतृक सम्पत्ति वहां से उड़ चुकी थी। वह शोकाकुल था, परन्तु चिन्तन हो कर वहां खड़ा रहा। कई बार व्यापार में हानि हो जाती है। माल का जहाज डूब जाता है। सामान को आग लग जाती है। यह समस्त कार्य भोगांतराय कर्म का फल है। जब उपभोग का समय आता है तब उस भोग-योग्य पदार्थ का नाश हो जाता है। दान करने से सभी कुछ मिला, परन्तु चोरी से वह सब समाप्त हो गया।

वह सामान उड़ कर जा कहां रहा था? यह प्रश्न आप के मन में अवश्य होगा। उस चोर ने जिस सेठ के घर से सामान उठाया था, वह सामान वहीं वापिस जा रहा था। उस सेठ ने

माल के चोरी हो जाने के पश्चात् उसे कर्मफल माना । संयम लेने से उस के अंतराय कर्मों का क्षयोपशम होने लगा । अब वही सभ्यता उस सेठ को अनायास ही उस चोर के घर से उड़ कर के प्राप्त हो गई ।

यदि आप का यह विचार है कि मैं किसी का माल ले लूँ तथा उसे पता भी न लगने दूँ तो ख्याल में रखना कि उस कर्म का फल भी अवश्य मिलेगा । व्यापारी को २ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

१. कभी भूल कर भी टैंक्स की चोरी मत करना क्योंकि उस का एक पैसा भी खाने पीने या भोगने में लग गया तो अनर्थ खड़ा कर देगा । इस से भय उत्पन्न होगा ।

जनता ज्योतिषी तथा तांत्रिक-मांत्रिकों के पास यहां तक कि कुछ पहुंचे हुए साधुओं के पास भी जाते हैं तथा कहते हैं कि कोई ऐसा उपाय करे कि छाया हम पर न पड़े । ज्योतिषी तो कोई उपाय कर देगा । साधु अपनी उपासना को बेच कर कोई उपाय क्यों बताएगा ? शासन के विपरीत कार्य आप करो तथा रक्षा करे साधु ? इस से श्रेष्ठ है कि गलत कार्यों से ही अलग हो जाओ । **As you sow, So shall you reap** 'करोगे तो अवश्य भरोगे । ज्योतिषी तथा साधु स्वयं कर्मवश हैं । वे किसी की क्या रक्षा करेंगे ।

२. किसी के साथ ठगी, धोखा, हेराफेरी मत करना । योग्य तथा एक निश्चित आय वाला मूल्य ग्राहक से ले लो । व्यापार बुरा नहीं है । व्यापार में एक ही बुराई है कि लोभ तथा कामनाओं की वृद्धि होने के कारण जीवन चिंता-ग्रस्त तथा असंतुष्ट हो जाता है ।

आज के युग में यदि सुखी है तो सर्विस मैन है। उस की आय कम है तो उस का तदनु रूप बजट भी होगा। तदनु रूप वह उपाय करेगा, एक निश्चित मासिक आय के कारण न केवल वह चिंता मुक्त रहता है, अपितु सन्तुष्ट भी हो सकता है। यद्यपि रिश्वत लेने वाले इन क्षेत्रों में भी देखे जाते हैं तथापि जनता के साथ जिनका संपर्क नहीं उन में रिश्वत की सम्भावना भी कम होती है तथा शुद्ध आय तथा सन्तुष्ट जीवन की संभावना भी अधिक होती है। व्यापारी वर्ग को ईमानदारी तथा सन्तोष धारण करना चाहिए। ईमानदारी के व्यापार में आप को जरा सा धैर्य तो धारण करना ही होगा। प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी। परन्तु 'सहज पके सो मीठा होय' उक्ति के अनुसार कुछ ही समय में आप के व्यापार को चार चांद लग जाएंगे।

न्याय सम्पन्न वैभव। श्रावक बनाने की पूर्व भूमिका रूप गुणों में प्रथम गुण यह अचौर्य का ही उपनाम है। यह गुण जीवनसौध की आधारशिला है। वैभव यदि न्याय सम्पन्न होगा तो अन्य उपगुणों की प्राप्ति भी हो सकेगी तथा श्रावक बनने की एवं देशविरति धर्म को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो सकेगी।

साधु धर्म में 'अदत्त' के अनादान में द्रव्य (पैसा) को भी समाविष्ट किया गया है क्योंकि वह 'तीर्थंकर अदत्त' है। तीर्थंकर देव ने साधु को द्रव्य (रुपया, सोना, चांदी आदि) रखना इस लिए निषिद्ध किया है कि द्रव्य से त्याग स्थिर नहीं रहता। साधु धर्म अनवद्य है, अतः भगवान महावीर ने साधु को पाप से बचाने के लिए द्रव्य के स्पर्श का वर्जन किया है।

गृहस्थ के धर्म में अनुमोदन की कुछ छूट है। क्योंकि किसी भी पाप कार्य का उस से अनुमोदन हो ही जाता है। (सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, दुविहं ति विहेणं, 'करेमि भते सूत्र) परन्तु साधु के लिए तो अनुमोदना का भी पूर्णतः निषेध है।

क्या चोरी का अनुमोदन करने वाला चोर नहीं होता ? यदि वह स्वयं चोर न हो, चोरी को सत्कर्म न मानता हो तो वह चोर की या चोरी की अनुमोदना क्यों करेगा ?

अभय कुमार ने जिस रामय सम्राट् श्रेणिक के उद्यान में से आम्रफल चुराने वाले व्यक्ति को पकड़ने के लिए एक सभा का आयोजन किया तथा वहां पर एक कथा सुनाई तो आम्रचोर व्यक्ति ने तुरन्त कहा था कि, 'जिन चोरों ने आभूषण सहित कन्या के आभूषण नहीं चुराए, उन का कार्य सब से कठिन था, अभय कुमार ने तुरन्त उसे चोर समझ कर पकड़ लिया ।

गृहस्थ से मन ही मन अनुमोदना हो जाती है क्योंकि उस का जीवन ही पापों में से गुजर रहा होता है । वह साधु तो नहीं कि किसी के पाप से उस का दूर का भी सम्बन्ध न हो । कोई सराफ हो तथा वह स्मगलिंग या चोरी का सोना सस्ते दामों पर ले रहा हो तो सामने वाले सराफ के मन में यह विचार प्रायः आ ही जाएगा कि काश ! मेरे पास भी इतना रुपया होता तो मैं भी रात में ही लखपति बन जाता ।

अदत्त ग्रहण नीति के भी विरुद्ध है । साधु बिना मांगे किसी की वस्तु लेगा या स्पर्श करेगा तो कुत्रचित् कलह क्लेश उत्पन्न हो सकता है । अथवा उस साधु का अपमान हो सकता है । साधु का जीवन तो कलह तथा अपमान से दूर होना चाहिए ? यदि साधु कलह तथा अपमान के चक्रव्यूह में फंस गया तो वह दुःखी होता रहेगा, साधना न कर पाएगा ।

अतएव अदत्त के त्यागी साधु का जीवन आदर्श होता है । इसी लिए साधु की एक ही आवाज, एक ही उपदेशकण लाखों प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ होता है ।

श्रीमद्हेमचन्द्राचार्य ने अदत्तादान महाव्रत की पांच भाव-

नाओं का निरूपण किया है, जो क्रमशः निम्न रूप से हैं—

१. वसति याचना—साधु गृहस्थ के प्रसाद के लिए बारंबार वसति की याचना करे। इस से गृहस्थ प्रसन्न रहता है तथा उस की भावना बनी रहती है।

पांच व्यक्तियों से वसति की याचना की जाती है। १. इन्द्र से (दक्षिण लोकार्ध का स्वामी, सौधर्मन्द्र तथा उत्तरी अर्धलोक का स्वामी, ईशानेन्द्र है।) २. चक्रवर्ती से। ३. मांडलिक राजा से (किसी भी शासक से)। ४. गृह के अधिपति से। ५. उसी घर में ठहरे हुए साधु से (वह साधु अपने ही सम्प्रदाय का हो तो भी उस से ठहरने की आज्ञा माँगना अनिवार्य है)।

साधु बिना याचना किए तृण का भी स्पर्श नहीं करते तो किसी की भूमि में बिना पूछे रहने का तो अर्थ ही क्या है? साधु माँग कर वसति ले तो गृहस्थ का मन प्रमुदित रहता है। अयाचित भूमि में वास करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

अयाचित भूमि के ग्रहण से गृहपति क्लेश कर सकता है। क्लेश से साधु की साधना का ह्रास होगा तथा गृहस्थ अधर्म प्राप्ति करेगा।

साधु वसति की याचना गृहपति से ही करे। किसी पड़ोसी के कहने से घर में प्रवेश न करे। यहाँ तक कि गोचर चर्या के लिए उपस्थित साधु 'धर्म लाभ' कह कर तथा उस का प्रत्युत्तर "पधारो" आदि सुन कर ही गृह में प्रवेश करे। गृहपति की पुत्री (परिणीत हो तो) की आज्ञा से भी घर में न रहे, क्योंकि वह पुत्री घर की अधिपति नहीं होती। इस प्रकार घर में किसी अन्य सदस्य से भी पूछ कर तभी वसति ग्रहण करे, जब इस बात का विश्वास हो कि गृह का वास्तविक मालिक आकर दुर्भाव प्रदर्शित नहीं करेगा।

२. साधु गृहपति से मात्रादि के लिए या परठने के लिए भी भूमि की बारंबार याचना करे। ऐसा करने से, गृहपति ने जिस प्रमोदभाव-अहोभाव से वसति दी, उस की वह भावना अभी तक है या नहीं, इस का पता लग सकेगा। इस के अतिरिक्त उस के दुर्भावादि को देख कर साधु वहां ले अन्यत्र जाने का कार्यक्रम भी बना सकता है। साधु गृहपति को अल्पांश में भी उद्विग्नखिन्न देख कर तुरन्त वहां से विहार करे। वहां एक भी दिन का अधिक वास न करे। यदि साधु इस उचित व्यवहार का प्रदर्शन न करेगा तो अन्य साधुओं को वसति मिलना दुर्लभ हो जाएगा। गौचरी के विषय में भी यही बात बौद्धव्य है।

३. साधु आवश्यक स्थान की याचना करके उतने ही स्थान में संकुचित हो कर रहे। उसी स्थान में गौचरी, स्वाध्याय, ध्यान, काउसग आदि क्रियाएं करे, जिस से गृहस्थ को वह अप्रिय न हो।

४. वसति में पूर्व ही याचना-पूर्वक स्थित साधु के पास जाकर उस स्थान पर रहने की आज्ञा मांग कर ही रहना चाहिए।

५. गुरु की आज्ञा से ही भोजन, आहार, उपकरण आदि का उपयोग करना चाहिए। इस से गुरु का न केवल सन्मान होता है अपितु अनेक दोषों का भी निराकरण होता है।

गुरु सदोष-निर्दोष वस्तु, लाभ-हानि आदि का ज्ञाता होता है। अतः वह शिष्य की उपकरणादि सामग्री को उचित अनुचित आदि समझ कर स्वीकार करने की आज्ञा दे सकता है।

इस के अतिरिक्त साधु को राजनिषिद्ध (शासन के द्वारा वर्जित) स्थान पर भी नहीं जाना चाहिए। वहाँ जाने से वह साधु जासूस आदि समझ कर पकड़ा जाए तो उसे ग्लानि तथा दैन्य का सामना करना पड़ता है। वहाँ वह शत्रुओं के षड्यंत्र का शिकार भी बन सकता है ?

चोरी के धन से सद्बुद्धि का विनाश होता है। दुर्बुद्धि समातो है तथा 'विनाश काले विपरीत बुद्धिः' विनाश का समय समीप आ जाता है। चोरी के धन से नरक मिलता है। चोरी के द्वारा परभव में अनेकविध कष्टों तथा दुर्भाग्य से Face करना पड़ता है जो कि मानव को अनिच्छित है।

चोरी के धन से, ब्लैक मनी से, राष्ट्र द्रोह तथा परिवार द्रोह से प्राप्त धन से यदि दान पुण्य भी कर लिए जाएं तो ऊपर स्वर्ग का विमान नजर आने की कोई सम्भावना नहीं है।

ऐरन की चोरी करे, हीरा दस मन दान।

ऊपर चक्कर देखतो, क्यूँ न आवे विमान।

थोड़ी सी चोरी करके यदि दस मन हीरा भी दान दे दिया तो उस से स्वर्ग नहीं मिल सकता।

पुराकाल के धर्मिष्ठ दानवीर राजा अन्याय से उपाजित धन का दान नहीं देते थे। वे न्यायोपाजित वित्त से धर्म, दान-पुण्य करते थे तथा उस का फल भी उनको सद्यः प्राप्त होता था। वर्तमान में दान का फल जो तुरन्त नहीं मिलता, उस के पीछे द्रोह का धन तो कारण नहीं।

मातृवत् परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति ॥

जो व्यक्ति परस्त्रियो में माता का स्वरूप देखता है। पर धन को लोष्ठ (मिट्टी के ढेले) के समान समझता है तथा प्रत्येक आत्मा को अपने समान समझता है, वही सच्चा दर्शक है।

इस प्रकार अदत्तादान से विरत हो कर साधक मोक्ष पथ पर अविरत रूप से तथा अबाध गति से आगे बढ़ सकता है। ★

ब्रह्मचर्य

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने चारित्र के चौथे भेद के रूप में ब्रह्मचर्य की निरूपणा की। उन के कथनानुसार संसार के भौतिक पदार्थों की आवश्यकता तथा संसार की प्रेम मोहबबत छोड़ देना ब्रह्मचर्य है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य :—व्यक्ति स्वयं को संयम में स्थिर करे। यह शरीर भोगों का इच्छुक है। संसार के समस्त पदार्थों के त्याग का मार्ग सरल है। ब्रह्मचर्य इस से भी कठिन है। शास्त्रकारों का कथन है, “तवेमु वा उत्तमं बंभचेरं” सभी प्रकार के तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है। क्योंकि ब्रह्मचर्य अत्यन्त काठिन्य से साधक को सिद्ध होता है। किसी विद्या को प्राप्त कर लेना या किसी देवता को सिद्ध कर लेना सरल है परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त दुष्कर है। अन्य धार्मिक कार्यों में व्यक्ति का मन भटक सकता है परन्तु ब्रह्मचर्य की साधना में मन एकाग्र हो जाता है तथा मन की चंचलता समाप्त हो जाती है।

काया के ब्रह्मचर्य के साथ वाचा का ब्रह्मचर्य भी आवश्यक है। वाणी के द्वारा कोई ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए, जिस से कलह उत्पन्न हो।

जब काया से पाप नहीं होता तो वाणी से प्रायः हो जाता

हैं। मन का संयम महत्त्वपूर्ण है। यदि काया से संयम का पालन हो रहा है, परन्तु मन में काम-वासनाओं की प्रचुरता है, प्रतिक्षण; मन संकल्प-विकल्प के जाल में उलझा रहता है तो वह काया का ब्रह्मचर्य विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सकेगा। मन के विचारों को जब तक सात्विक नहीं बनाया जाता तब तक ब्रह्मचर्य मात्र एक आडम्बर बनकर रह जाता है। आज के युग में भौतिकता के कारण मन का वशीकरण अधिक कठिन हो रहा है। इस युग में गृहस्थों की तो क्या! साधुओं की वृत्ति भी कलुषित विचारों से दूर रहनी कठिन है। बम्बई जैसी मोहमयी नगरी में जिसमें आज से ५० वर्ष पूर्व वातावरण कुछ सादगी पूर्ण था, फैशन तथा सौंदर्य का यहां बाजार न लगता था, साधुओं का गतागत एक सोचा समझा हुआ कदम था। सर्वप्रथम श्री मोहन लाल जी महाराज बम्बई में आए तथा उन्होंने बम्बई को साधुओं की विहरण स्थली बनाया।

वस्तुतः कोई भी देश या वेष क्यों न हा, साधुओं को सचेत रहना ही पड़ता है। देश का प्रश्न ही व्यर्थ है। यदि मन संयम में है तो क्या बम्बई, क्या कलकत्ता, सब संयम के साधक हो सकते हैं। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' बाजार में चले जाइये। फिल्मों के अश्लील पोस्टर दृष्टि गोचर होते हैं। अनेक राष्ट्र सुधारक संस्थाओं ने इन सब का विरोध किया परन्तु परिणाम शून्य ही रहा। परितः अधः पतन ही दृष्टिगोचर हो रहा है। जनता इस मार्ग पर जाकर क्या प्राप्त करेगी ?

फिल्मों में मारघाड़ तथा प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त करना कठिन है। प्रेम की ऐसी काल्पनिक कृत्रिम कथा चिचित की जाती है कि दर्शक चकित रह जाता है। ऐसी कथाओं में मिलता क्या है? समाज के युवक नावेल पढ़ते हैं। वे संयम को समझना नहीं चाहते। जब कि संयम को समझने की आवश्यकता

इस युग में पहले से कहीं अधिक है। भारतवर्ष में तो क्या ! पश्चिम के देश तो इस विषय में बहुत आगे बढ़ चुके हैं। वे कई बार दम-दस विवाह करते हैं। दो-दो वर्ष में ही प्रथमा से तलाक लेकर द्वितीयावादी बन जाते हैं। परन्तु फिर भी शांति उन के भाग्य में दृग्गोचर नहीं होती। भारतवर्ष की संतों-महात्माओं की पृथ्वी पर प्रतिदिन हजारों, लाखों ऋषि अपनी उपदेश गंगा को बहाते हैं। जिस से यहां पर संयम का महत्त्व आज भी स्वीकार किया जाता है : पाश्चात्य जगत् में ऐसे-ऐसे दृष्टांत मिलते हैं कि बाप के विवाह में बेटा जा रहा है। दादा-दादी की बारत में पौत्र जा रहा है। पौत्र भी प्रेम से जा रहा है।

एक व्यक्ति ने पत्नी को तलाक दिया तथा सास से शादी की। पूर्व पत्नी अपनी मां के विवाह में सप्रेम सम्मिलित होती है। यह है संयम का दिवाला, इतना नैतिक पतन !

यदि भारतवर्ष में फिल्में, भौतिकवाद आदि इसी रूप में चलता रहा तो वही पाश्चात्य स्थिति भारत में भी आते देर न लगेगी। हमारा इतिहास कितना पावन है। एक-एक पृष्ठ खोल कर देख लीजिए। जैन इतिहास की एक-एक कथा, एक-एक जीवन चरित्र आदर्श की प्रतिमा को प्रतिष्ठित करते हैं। भौतिक पदार्थ सम्मुखस्थ हों, तथापि मन का संयम प्रबल बन कर अडिग रहे, यह इतिहास की स्वर्णिम कड़ी है।

स्थूल भद्र की कथा सब जानते हैं। पूर्वमुक्त कोशा वेश्या के घर में स्थूल भद्र मुनि षड्रस भोजन को ग्रहण करके भी भी अविकारी रहे। ८४ चौबीसी के तीर्थंकरों द्वारा ४२ कालचक्र तक उन का उदाहरण (उत्कट ब्रह्मचर्य के लिए) दिया जाता रहेगा।

विजय सेठ तथा विजया सेठानी ने विवाह से पूर्व गुरु म० से क्रमशः कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष को ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने

का नियम लिया था। विवाह के पश्चात् उस ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा को उन्होंने जिस प्रकार से निर्वाहित किया। वह एक प्रशंसनीय घटना है। वे एक ही शय्या के मध्य में तलवार रख कर सोते थे।

जिनदास सेठ तथा जिनदासी श्राविका ने भी विजय तथा विजया की भाँति ही ब्रह्मचर्य का समादर किया था तथा स्वविषय में जनश्रुति को सुन कर सद्यः दीक्षा का अङ्गीकरण किया था। पति-पत्नी परस्पर संयम में सहायक हो सकते हैं। यह दाम्पत्य ही जीवन की नौका बन सकती है।

एक श्रावक को संकल्प जागृत हुआ कि मैं ८४ हजार साधर्मि भाइयों को भोजन कराऊँ। तीर्थंकर महावीर ने उस की भावना को साकार करने का सामान्य सा फार्मूला बताया कि यदि तुम केवल जिनदास सेठ तथा जिनदासी श्राविका को भोजन करा दो तो तुम्हें ८४ हजार श्रावकों को भोजन कराने का लाभ मिल करता है।

सुदर्शन सेठ ने अभया जैसी सुन्दर राजांगना के निमन्त्रण को मौन भाव से अस्वीकृत कर दिया। उसे रानी के स्त्री चरित्र से शूली पर आरूढ़ करने की राजाज्ञा हुई, परन्तु सुदर्शन सेठ का दृढ़ ब्रह्मचर्य तथा सेठानी मनोरमा का सत्यशील इतना प्रबल था कि शूली भी सिंहासन बन गई। देवों ने सुदर्शन के शील का गुणगान किया।

भीष्म पितामह ने अपने पिता के लिए सर्वस्व समर्पित कर दिया। वे ब्रह्मचर्य के पालन का निर्णय लेकर आजीवन ब्रह्मचारी रहे। कौसी अद्वितीय होगी उन की दृढ़ता।

आज के युवकों के पतन के लिए कुसंगति कारण है। वे जानते हुए या अनजाने में भी कुमार्ग पर चल पड़ते हैं। जिस माता पिता का जीवन सदाचार से ओतप्रोत हो उन के बालक भी वैसे संस्कारी होंगे।

श्री लक्ष्मण जी के ब्रह्मचर्य की क्या प्रशंसा की जाए। मेघनाद को मारना अतीव कठिन कार्य था। उसे यह वरदान मिला था किसी योगी का कि जो व्यक्ति १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करेगा—वही तुझे मार सकेगा, अन्य नहीं। लक्ष्मण इस कार्य में सफल रहे थे। बनवास का समय उन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से व्यतीत किया था।

श्री लक्ष्मण जी की गोद में सीता जी सुप्त थीं। श्री राम अकस्मात् वहाँ पहुँचे तथा सीता जी को इस स्थिति में देख कर चकित रह गये। उन्होंने श्री लक्ष्मण जी की परीक्षा करनी चाही तथा त्वरितगत्या शुक का रूप बनाकर एक वृक्ष पर उड़ कर बैठ गए तथा लगे एक श्लोक गुनगुनाने—

तप्तांगारसमानारी, घृतकुंभ समः पुमान् ।

जंघामध्ये स्थिता नारी, कस्य नोच्चलते मनः ॥

नारी तो तप्त अंगारे के समान है तथा पुरुष घृत घट के समान है। जब नारी गोद में हो तो किस का मन विचलित नहीं होता है।

लक्ष्मण जी ने शुक के श्लोक का उत्तर श्लोक से ही दिया।

पिता यस्य शुचिर्दक्षो, माता यस्य पतिव्रता ।

द्वाभ्यां यस्य च संभूतिस्तस्य नोच्चलते मनः ॥

जिस का पिता शुद्ध हो, जिस की माता पतिव्रता हो, इन दोनों के द्वारा जिस का जन्म हो, उस का मन विचलित नहीं होता। श्री राम निरुत्तर थे। लक्ष्मण के माता पिता के संयम ने ही दोनों में यह संयम भावना कूट-कूट कर भर दी थी।

एक व्यक्ति का रोग किसी भी प्रकार से ठीक न हो रहा था। घर के नौकर ने मालिक से कहा कि सभी प्रयोग तो व्यर्थ ही हो चुके हैं। “क्या मैं भी अपना प्रयोग आजमा कर देख लूँ ? मुझे विश्वास है कि मेरा प्रयोग गलत नहीं हो सकता। स्वीकृति

प्राप्त होने पर उस ने अपनी एक प्रस्वेदबिंदु को जल में मिलाया तथा रोगी को जल पिला दिया ।

इस दवा का शीघ्र ही असर होने लगा । देखते ही वह व्यक्ति २-४ दिन में ही पूर्ण स्वस्थ हो गया । लोगों ने पूछा कि इस प्रयोग की सफलता का रहस्य क्या है ?' उस ने उत्तर दिया कि यह मेरे माता पिता के सदाचार का प्रभाव है । जब मैं बच्चा था तब एक बार मेरे देखते हुए ही मेरे पिता ने माँ के साथ कुछ ठीक व्यवहार न किया । माँ बहुत लज्जित हुई और बोली, "देखो । बच्चे पर इसका क्या असर पड़ेगा" और संध्या के समय माँ ने लज्जा के कारण आत्महत्या कर ली । वही माँ बाप का सत्व तथा शील मुझ में है अतएव मेरे प्रस्वेद ने यह चमत्कार दिखाया है ।

आज के कई युवक बलबों में जाते हैं । वहां सभी प्रकार के कुकर्म करते हैं । उन के बालक भी अपनी युवावस्था में यदि वैसे ही बन जाएं तो कोई बड़ी बात नहीं है । बहुत संभलने की आवश्यकता है । आज जमाना कहां भागा जा रहा है ? सभी अंधकूप में गिरते जा रहे हैं । हमारा पावन कर्तव्य है कि हम अंधानुकरण न करें । जब एक अंधा कूप में गिर रहा हो तो अन्य अंधे भी उस में गिरते चले जाते हैं । लेकिन आप को ऐसा नहीं करना है । आप को जो आंखें तथा बुद्धि मिली है, उन के द्वारा देख कर तथा सोच कर प्रत्येक कदम उठाना है । यदि आप ऐसे ही भ्रष्ट होते चले गए तो भारत वर्ष के नाम को बदनाम करेंगे तथा ऋषि महर्षियों की धरती को कलंकित करेंगे ।

क्या भारत वर्ष की गुलामी का कारण कभी आपने खोजने का प्रयत्न किया है । प्रायः भारतवासी कहते हैं कि हम गुलाम बन गए, अतः हम पतित हो गए । यह सत्य नहीं है । पहले हम पतित हुए, फिर गुलाम बने । जय सिंह, माधव सिंह आदि पतित

देशद्रोही न होते तो क्या भारत परतन्त्रता की शृंखलाओं में जकड़ा जाता ? पतित हो क्रूर व्यक्ति अपना सर्वस्व खो देता है परन्तु पता तभी लगता है जब वह पूर्णतः लुट जाता है । नैतिक पतन होने से संयम के लुट जाने से शेष कुछ भी रक्षा के योग्य न रहा । यदि भारत में अल्लाउद्दीन जैसे अत्याचारी आए तो चित्तौड़ की पद्मिनी जैसी देवियों ने भी अपना जौहर दिखा कर भारत के नाम को प्रकाशित कर दिया । पद्मिनी ने १५००० कन्याओं के साथ अग्नि का शरण स्वीकार किया । अल्लाउद्दीन उस की शूर वीरता तथा सतीत्व देख कर लज्जित हो गया ।

ए व्रत जग मां दीवो रे...

यह चतुर्थ व्रत जगत् में दीपक के समान है । ब्रह्मचर्य स्वयं प्रकाशित होता है । जगत् को प्रकाशित करता है । यह दीपक न हो तो जगत् में अंधकार ही अंधकार छा जाए ।

जवख रवेखस्स गंधव्व, देव दानव किन्नरा ।

बंभयारि नमंसंति, दुक्करं ये करति ते ॥

सभी देवता ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं जो कि अत्यन्त दुष्कर कार्य करते हैं ।

आज हम कहीं जा रहे हैं ? बहुत शोचनीय प्रश्न है । हमारा आदर्श पुराकाल में कैसा था और हम कैसे बनते जा रहे हैं ?

पुराकाल में साधुओं का तो क्या ? श्रावकों का ब्रह्मचर्य भी अनुपम था । कुमारपाल ने पत्नी की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह नहीं किया था और वर्तमान में पत्नी की अर्थी निकल रही हो तो उसी महफिल में दूसरा रिश्ता निश्चित कर लिया जाता है । मृत पत्नी के शव पर आंसू कौन बहाए ? वहाँ भविष्य के जीवन के लिए भूतकाल को विस्मृत कर देना ही उचित समझा जाता है । द्रौपदी के यद्यपि पूर्व भवोय कर्मों के कारण ५ पति थे परन्तु उस ने कभी भी किसी अन्य पुरुष का स्वप्न में भी चिंतन नहीं किया ।

महासती चलना ऐसी पतिव्रता सती स्त्री थी। श्रेणिक सम्राट् के द्वारा उस पर शंका किए जाने पर भगवान् महावीर ने उस के सतीत्व की प्रशंसा करके सम्राट् को शंका मुक्त कर दिया।

आज आप मात्र प्रशंसा ही चाहते हैं। धनवान्, विद्वान्, शीलवान्, बड़ता होने की। परन्तु गुण के बिना कोई प्रशंसा प्राप्त नहीं हो सकती। गुण के बिना यदि प्रशंसा की जाए तो वह चापलूसी है। खुशामद है। कवि का वचन है—

खुशामद में ही आमद है, इस लिए बड़ी खुशामद है।

वर्तमान में ऐसे चापलूसों का बाहुल्य है जो अपने प्रिय को अन्धकार में रख कर निज स्वार्थों की पूर्ति करने रहते हैं।

महर्षि व्यास अपने शिष्य को समझा रहे थे।

बलवान्निद्रिय ग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति।

“मानव की इन्द्रियां बहुत बलवान् हैं ये विद्वान् को भी पाप कर्म की ओर आकर्षित करती हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी स्त्री के साथ एक आसन पर भी नहीं बैठना चाहिए। अपनी मां तथा बहनों के साथ भी नहीं।”

शिष्य ने गुरु व्यास की बात मानने से इन्कार कर दिया। वह बोला, “गुरु जी, विद्वान् कभी इन्द्रियों के विषयों से आकर्षित नहीं हो सकता। विद्वान् कहते ही उसे हैं जो संयम में रह सके।”

महर्षि श्री व्यास जी बोले, “प्रिय शिष्य! मैं तुम्हें कोई शिक्षित बात नहीं कह रहा हूँ। मैं तो अनुभव की बात कह रहा हूँ। महर्षि जमदग्नि ने रेणुका से विवाह किया, अन्य कई ऋषियों का पतन हो गया।”

“अतः तुझे मेरी बात को स्वीकार कर लेनी चाहिए।” न मानने पर गुरु जी ने शिष्य की परीक्षा लेने के लिए ठान ली। बहुत बड़ी-बड़ी बातें करने वाले भी संयम की परीक्षा में अनुतीर्ण हो जाते हैं।

श्री व्यास ने एक नाटक का आयोजन किया। वह शिष्य जंगल में छोटी सी झोंपड़ी बना कर बंठा है। आनन्दचित्त हो कर प्रभु के ध्यान में मग्न है। झोंपड़ी के बाहर मूसलाधार वर्षा होने लगी। महर्षि व्यास एक षोडशी कन्या का रूप बना कर वहाँ उपस्थित हो गये : उन्होंने द्वार खटखटाया। शिष्य ने बार-बार उस खटखटाहट को सुन कर द्वार खोला तो देखा बाहर वर्षा से क्लिन्नवस्त्रा एक षोडशी खड़ी है। शिष्य के आश्चर्य का पार न रहा। रात्रि में एकांत में एक सुन्दर नव-यौवना उन के सन्मुख खड़ी थी। शिष्य महोदय कुछ क्षणों के लिए किकत्तव्य विमूढ़ हो गए। वे विचार करने लगे कि यह युवती इस समय यहाँ क्यों आई होगी ? उसे यह पता न था कि यति के पास सती को भ्रम हो ही कैसे सकता है ?

अन्ततः शिष्य ने पूछ लिया, कि 'बहन, यहाँ क्यों आई हो।' कन्या ने उत्तर दिया, "महात्मन्, मैं घर की तरफ चली जा रही थी, मार्ग में अकस्मात् वर्षा हो गई तो मैं जलार्द्र हो गई। इसी आशय से इस आश्रम में आई हूँ कि सम्भवतः यहाँ रात्रि पर्यन्त के लिए स्थान मिल जाए। यदि स्थान दें तो बहुत कृपा होगी। मैं प्रातःस्वगृह चली जाऊँगी।" शिष्य जी घबरा गए। एक तरफ एक कन्या की शरण का प्रश्न था और एक तरफ संयम के टूटने का मानसिक भय था। इस परिस्थिति में शिष्य ने उपकार करना चाहा। परन्तु कुटिया में इतना स्थान भी न था कि २ व्यक्ति आराम से सो सकें। एक तरफ खड़ा था तथा दूसरी ओर सिंह था। शिष्यराज 'इतः कूपः उतः सिंहः' की स्थिति में थे। स्थान कन्या को दे दिया गया, शिष्य राज कुटज के बाहर आसन जमा कर बैठ गए। वे विद्वान् थे अतः कन्या को शिक्षा देते हैं कि यह जंगल है। वन में भी मुसाफिर आ सकते हैं। रात्रि के समय यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा द्वार खटखटाए तो द्वार मत खोलना। कोई कितना भी यत्न करे प्रातः से पूर्व द्वार मत खोलना। यहाँ

तक यदि मैं भी तुम्हें आवाज दूँ तथा द्वार खट-खटाऊँ तो भी द्वार मत खोलना ।”

एक दो चार घंटे तो आराम से बीते । अब शिष्य राज के मन-मन्दिर में भगवान के दर्शन के बदले उस युवति के दर्शन होने लगे । किसी भी तरह उस सुन्दर षोडशी की स्मृति असह्य आती जा रही थी । वे विचार करने लगे, “क्या ही अबला थी । परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति के ज्ञान-बल को क्षीण कर रही है । क्या उस का रूप था ? एक बार अपूर्ण दृष्टि से उसे देखा । अरे ! मैं भी मूर्ख रहा जो उस से दो मिनट बात भी न कर सका । अब यदि.... ।” वे व्यथित हो उठे । उन का धर्म टूटने लगा । उन के मन में वेगपूर्ण विचारों की यातायात आरम्भ हो गई । “मैं उस से पूछ लेता कि वह कहां जाएगी, तो ठीक होता । मैं उस से २ बात ही कर लेता । एकांत भी तथा रात्रि भी थी । मदमाना यौवन था, कजरारी आंखें थीं... एक अचसर हाथ से चूक गया ।”

उस ने निश्चय किया कि वह एक बार द्वार खटखटा करके देखेगा । सभवतः द्वार खुल जाए ।

दिवा पश्यति नो लूकः, रात्रौ काकः न पश्यति ।

अपूर्वः नरः कामांधो, दिवानवतं न पश्यति ॥

उल्लु दिन में नहीं देखता तथा कौआ रात्रि में नहीं देखता । परन्तु कामांध व्यक्ति न दिन में देखता है न रात में ही ।

उसे कामावेग में यह स्मरण भी न हो पाया कि उस ने स्वयं ही तो उसे कहा था कि वह स्वयं द्वार खट खटाए तो भी वह द्वार न खोले । खट्-खट्-खट् !! खट्-खट्-खट् !!! परन्तु द्वार न खुल सका । एक-दो घंटे तक भी जब द्वार न खुल पाया तो आप ने एक नई विधि के बारे में सोचा । भीत में छोटे-छोटे छिद्र थे, वे उन्हीं में झांक-झांक कर देखने लगे । परन्तु जब उन्होंने बहुत ध्यान से देखा तो पाया कि अन्दर वह कन्या नहीं, गुरुदेव महर्षि व्यास बैठे हैं । वे आश्चर्य चकित हो गए । इतने में गुरुदेव

गम्भीर ध्वनि करते हुए बोले, "शिष्य चिन्ता न कर ! मैं यहां आ पहुंचा हूं ।" वह बहुत लज्जा कुल होकर गुरुदेव के चरणों में पड़ गया । तथा बोला, "गुरुदेव ! आप ने जो कुछ कहा था, बिल्कुल सत्य था, यह वासना विद्वान को भी क्षमा नहीं करती ।"

व्यक्ति आवेग तथा आवेश में दुराचार के मार्ग पर चल पड़ता है परन्तु जब तक वह वापिस लौटता है । सर्वस्व लुटा चुका होता है ।

'Wealth is lost nothing is lost, health is lost something is lost, but if character is lost everything is lost.'

धन गया तो कुछ नहीं गया । स्वास्थ्य गया तो 'कुछ' गया परन्तु यदि चारित्र्य-आचार चला गया तो सब कुछ चला गया ।

एक बार भी यदि जीवन में धब्बा लग जाए तो फिर वह धूल नहीं सकता । अपने जीवन को ऐसा बना लेना चाहिए कि किसी लोभ के आगे जीवन के उत्थान का मूल्यांकन कम न किया जाए : किसी भी स्थिति में पतन न हो ।

कई लोग फिल्में न देखने का नियम लेते हैं । परन्तु यदि कोई कह दे कि, "एक फिल्म रिलीज हो चुकी है, बहुत धार्मिक है, आप साथ में चलें" तो वे साथ में चल देते हैं । क्योंकि फिल्म धार्मिक है । फिल्म और धार्मिक ? आज की अच्छी से अच्छी फिल्म में भी नृत्य, डिस्को डांस, प्रेम, युद्ध के बिना कार्य नहीं चल सकता । "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" फिल्म का नाम कितना धार्मिक है, नाम से ही आप उस को देखने का विचार कर लेते हैं । लेकिन जिन्होंने यह फिल्मी देखी है । वे जानते हैं कि इस फिल्म में क्या है ? नाम से ही लोग जाल में उलझते हैं । धर्म के लिए क्या कोई और स्थान नहीं ?

छत्रपति शिवा जी, महाराष्ट्र के इस वीर ने जब औरंगजेब

से लोहा लिया तथा औरंगजेब के सेनापति शाइस्ता खां को मार दिया तो औरंगजेब ने भी किसी प्रकार से शिवा जी को कैद कर लिया। परन्तु शिवा जी स्वबुद्धि से कई बार उस की कैद से निकल भागे।

एक बार जब मुगल फौज शिवा जी के भय से हट गई तो शिवा जी के कुछ सैनिकों ने एक सुन्दर मुस्लिम युवति को पकड़ लिया तथा पालकी में उसे बैठाकर शिवाजी के पास भेंट के रूप में लाए। शिवा जी ने उन को ऐसा करने के कारण डांटा। पालकी का पर्दा उठा कर देखा तो उन्होंने पाया कि उस में एक अतीव सुन्दर युवति बैठी है। शिवा जी ने कहा कि "काश! अगर आप मेरी मां होतीं तथा मैंने तुम्हारे उदर से जन्म लिया होता तो थोड़ा सा सौन्दर्य मैं भी पा जाता। यह कह कर युवति को पुनः मुस्लिम शिविर में भिजवाया। क्या संयम था शिवा जी का! उस कन्या में रूप का नहीं, मातृत्व का दर्शन किया।

महात्मा गांधी ने भी ब्रह्मचर्य के बहुत प्रयोग किए। वे समस्त प्रयोग-भले ही वे फिर उन में उत्तीर्ण हुये हों या अनुत्तीर्ण अपनी आत्म कथा में लिख दिये। परन्तु उन की आत्म कथा से ध्वनित होता है कि गांधी जी शनैः-शनैः संयम को किसी सीमा तक प्राप्त कर चुके थे।

औरंगजेब में बहुत बुराइयां थीं। उस में अपने पिता को कारागृह में डाल दिया। भाइयों की मार दिया, परन्तु कहा जाता है कि वह सदाचार का प्रेमी था। न तो उस के जीवन में व्यभिचार था तथा न ही वह प्रजा का व्यभिचार सहन करता। एक बार उस की पुत्री अपने रंगमहल से बाहर आई तो उस ने बहुत ही झीने वस्त्र पहन रखे थे। आज भी फैशन है। उस समय भी फैशन था। ढाका की मलमल तो कई शताब्दियों से प्रसिद्ध है। कुछ ढाका की मलमल जैसे पारदर्शी वस्त्र उस ने पहन रखे

थे। वह औरंगजेब के सामने से हो कर निकली। औरंगजेब ने देखा। कि "अहो ! मेरी पुत्री ! और उस की यह निर्लज्जता ! " यौवन का प्रारम्भ हो चुका है और वे वस्त्र....." औरंगजेब क्रोधावेश में आ जाता है तथा कहता है कि, 'यह अच्छा प्रदर्शन है। जा "पहले अन्य वस्त्र परिधान करके आ। फिर आकर मेरी बात सुन।" राजकन्या वस्त्र परिवर्तन करके आई तथा करबद्ध हो खड़ी हो गई। औरंगजेब बोला, "आगे से ऐसे वस्त्र मत पहनना यह फैशन मेरे राज्य में नहीं चलेगा। यदि आगे से ऐसे वस्त्र पहने तो राजमहल से तुझे बाहर निकाल दिया जाएगा।"

क्या आप अपने बच्चों को ऐसा कंट्रोल करते हैं ? नेपोलियन बोनापोर्ट जो एक स्वप्न देखा करता था कि 'मैं सारे संसार का बादशाह बनूंगा।' उसने सारे यूरोप को जीता था तथा विजय प्राप्त करते-करते काफी दूर पूर्व तक आ पहुंचा था। उसकी विजय के पीछे भी उसकी सदाचार-प्रियता की छिपी कहानी है।

वह युवावस्था में जहां शिक्षा का अर्जन कर रहा था उसके सामने एक परिवार रहता था। उस गृह में एक महिला ने नेपोलियन को देख कर उसे अपने जाल में फंसाने का निर्णय किया। तदनन्तर उसने नेपोलियन को पत्र भी लिखा परन्तु नेपोलियन ने उस की किसी बात का कोई जबाव न दिया।

सेनापति बनने के पश्चात् जब वह तुर्किस्तान की ओर जा रहा था तो उस ने फिर उसी स्थान पर अपनी छावनी जमा ली। उस स्त्री को पता लगा कि नेपोलियन आया है। तो वह नेपोलियन को पहचान नहीं पाती है। नेपोलियन उसे पहचान लेता है। उस स्त्री ने प्रश्न पूछा कि "क्या आपही नेपोलियन हैं ?" तो उसने कहा 'कि क्या बात करती है यदि मैं तेरे चक्कर में पड़ गया होता तो आज मैं सम्राट न होता ?'

दरिद्रता में दान, शक्ति होने पर क्षमा, त्याग, या गुण होने पर भी प्रशंसा से दूर रहना तथा उपभोग की शक्ति होते हुए भी उसे छोड़ना यह किसी भी मानव की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

पुरुष प्राधान्य से इस युग में पति परमेश्वर का नारा चला है। स्त्री का तो सहज समर्पण भाव है कि वह पति को परमेश्वर मान कर चलती है। परन्तु आज के पति क्या पत्नी को परमेश्वरी मानते हैं? पति की आज्ञा मान्य होनी ही चाहिए। परन्तु पत्नी का क्या मूल्य है इस युग में? आज पत्नी का दहेज के कारण दहन होता है। आज पत्नी को गुलाम माना जाता है। स्त्री के अधिकारों की बातें तो महिलावर्ष में बहुत हुई परन्तु क्या प्राप्त हुआ? स्त्री का अर्थ है परतन्त्रता की मूर्ति, दयनीयता की प्रतिमा। वस्तुतः जहाँ नारी का सम्मान होगा वहीं पर समृद्धि की संभावना हो सकती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

सती है धर्म की ज्योति, सती है कीमती मोती।

सती है सत्य को बोती, सती है पाप को खोती ॥

एक महात्मा थे, तपस्या के बल पर उन्हें एक सिद्धि प्राप्त हो गई थी। वह सिद्धि थी, जिसे चाहो जला कर राख कर दो। एक बार वे एक वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। ऊपर से एक चिड़िया ने महात्मा के सिर पर बीठ कर दी। महात्मा ने जब यह देखा तो कोपायमान हो उठे। अरे! अरे! चिड़िया की यह ताकत! मेरा अपमान! महात्मा ने तुरन्त ही सिद्धि का प्रयोग किया। चिड़िया तड़पती हुई जमीन पर आ गिरी तथा उस के प्राण अग्नि के दहन के कारण उड़ गए। यह दृश्य सामने एक घर में अपने पति को भोजन करा रही सती स्त्री ने देखा।

महात्मा भोजन चर्या के लिए चले तथा उसी सती के घर ही पहुंच गए। सती स्त्री ने पति परमेश्वर के ध्यान में महात्मा

को देखा भी नहीं। २-५ मिनट तक महात्मा खड़े रहे। उपेक्षा सहन करते रहे। उस के बाद उन्हें बहुत क्रोध आया। “अरे! बाह! महात्मा घर में आ जाएं तो उन का यह अपमान! पहले पति की सेवा या महात्मा की? मैं इस को भी जला डालूंगा।” महात्मा जी मन ही मन बड़बड़ाए।

सती स्त्री ने महात्मा की बड़-बड़ाहट सुनी तथा बोल पड़ी, “अरे महात्मा! मुझे चिड़िया मत समझना। तेरी इस सिद्धि से वह चिड़िया जल सकती है, पति को परमेश्वर मानने वालो स्त्री नहीं जल सकती। तेरा जादू मुझ पर न चलेगा और वस्तुतः महात्मा का जादू उस पर न चल सका।”

ब्रह्मचर्य द्वारा अनेक सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। आचार्य वल्लभ सूरि जी की वृद्धावस्था में ज्योति समाप्त प्रायः हो गई। डाक्टरों ने स्पष्ट कह दिया कि अब इन के नेत्रों में ज्योति न आ पायेगी। परन्तु आप्रेशन होने के बाद डाक्टरों ने देखा कि सचमुच उन के नेत्रों में ज्योति आ चुकी थी। वे बोल पड़े, यह इस महा-पुरुष के ब्रह्मचर्य तथा संयम का ही प्रताप है। अन्यथा नेत्र-ज्योति के पुनः प्राप्त होने की शक्यता न थी।

महापुरुषों के पास रह कर यदि आप कुछ सीखें तो अवश्य ही कुछ न कुछ पा सकेंगे।

भरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय के लिए चले तो सुन्दरी को कह गए थे कि मैं तुझे पट्टरानी बनाऊंगा। परन्तु सुन्दरी ने भरत के दिग्विजय करने तक (६००० वर्ष) आयम्बिल तप करके शरीर को कृश कर लिया था। तब भरत ने सुन्दरी को सौंदर्यहीन तथा भावनाशील देख कर दीक्षा की आज्ञा दी थी। वही भरत जब चञ्ची बन कर ६० हजार स्त्रियों का स्वामी बनता है तो उन स्त्रियों के मोहजाल में फंसता नहीं है। इसी का परिणाम था कि भरत को शीशमहल में छोटा-सा निमित्त मिल जाने पर ही केवल

ज्ञान प्राप्त हो गया ।

सीता का अपहरण हो जाने के पश्चात् श्री राम सीता को ढूँढने के लिए चले तो मार्ग में विमान से सीता के द्वारा प्रक्षिप्त आभूषणों को देख कर लक्ष्मण जी से पूछने लगे कि “लक्ष्मण ! देख ! सीता जी के अलंकार ! क्या तू इन को पहचानता है ?”

लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

केयूरे नैव जानामि, नैव जानामि कंकणैः ।

नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाब्ज वंदनात् ॥

श्री राम ! मैं न तो केयूरों को जानता हूँ तथा नहीं कंकणों को । परन्तु चरणों में पहने जाने वाले नूपुरों को जानता हूँ, क्योंकि सीता के चरणों में नित्य वंदन करने से उन की मुझ पहचान हो गई है ।

यह था लक्ष्मण का ब्रह्मचर्य । उन्होंने कभी सीता के मुख को भी न देखा था ।

ब्रह्मचर्य से अनेकविध शक्तियों का पुञ्ज प्रकट होता है । मानव शरीर के हार्मोंस तथा मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु एक ही शक्ति से निर्मित होते हैं । जब ब्रह्मचर्य के द्वारा हार्मोंस का विकास बंद हो जाता है तो मस्तिष्कीय ज्ञान-तन्तु शक्तिमान बन जाते हैं । मस्तिष्क की कार्य क्षमता तथा एकाग्रता बढ़ती है । मस्तिष्क में दूरगामी भविष्य की अनेक बातों को देखने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

जिस व्यक्ति के हार्मोंस क्षीण होते जाते हैं, जो व्यक्ति अपनी शक्ति का पात करता है, उस के मस्तिष्क की शक्ति भी क्षीण ही जाती है । उस की एकाग्रता तथा स्मृति भी क्षीण हो जाती है । फिर वह किसी बात को न तो सूक्ष्मता से सोच सकता है, न समझ सकता है । वह एक विचार को समझते-समझते दूसरे विचारों में उलझ जाता है । वह एक बात को कहते-कहते जब

प्रसंगानुसार दूसरी बात कहता है तो पहली बात को भूल जाता है। उस की मति तीक्ष्ण नहीं रहती। बुद्धि विचलित ही अनुभव होती है। कार्य करने को मन नहीं करता तथा मानव स्वयं को सदैव तनाव ग्रस्त तथा थका-थका हुआ सा अनुभव करता है।

जब कि ब्रह्मचर्य का पालन इन समस्त बाधाओं तथा दुर-वस्थाओं से रक्षा करता है।

ब्रह्मचारी का शरीर सौष्ठव आकर्षक होता है। उस का स्वास्थ्य श्रेष्ठ होता है तथा उस का मनोबल बहुत ऊँचा होता है। वह अपनी इच्छा शक्ति से अलभ्य पदार्थों को भी प्राप्त कर लेता है। वह साहस के बल पर असफलताओं को पार करता हुआ, कदम-कदम पर ठोकरें खाता हुआ भी अन्ततः सफल हो जाता है।

ब्रह्मचारी की मात्र अनुमोदना करने से भी अत्यन्त लाभ होता है। पथङ्गशाह !

एक बार एक श्रेष्ठी ने ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वालों को एक-एक पोशाक भेंट दी। वह व्यक्ति पथङ्ग शाह को भी नगर श्रेष्ठी होने के कारण वह पोशाक देने गया। पथङ्गशाह ने पूछा कि "यह पोशाक किस लिए दे रहे हो?" उस श्रेष्ठी ने उत्तर दिया कि नगर में जिन व्यक्तियों ने ब्रह्मचर्य धारण किया है, उनको मैंने यह पोशाक दी है।

पथङ्ग ने सोचा कि मैं इस पोशाक के योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैंने तो यह व्रत लिया नहीं है। परन्तु प्रेमपूर्वक पोशाक देने आए इस श्रेष्ठी को इन्कार भी कैसे किया जा सकता है? यह सोचकर पथङ्ग शाह ने तुरन्त मन में ही ब्रह्मचर्य का नियम लिया तथा तत्पश्चात् ही पोशाक को स्वीकार किया।

दूसरों के ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ समझ कर अनुमोदन करने वाला ही यह साहस कर सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी एक बार पत्नी के मायके चले जाने पर विचलित हो उठे। वे विरह वेदना को सहन न कर पाए तो रात्रि में ही चल पड़े समुराल की ओर ! वहाँ जा कर देखा तो द्वार बंद हो चुके थे। तुलसीदास ने गवाक्ष की ओर देखा तो वहाँ उन्हें एक रज्जू दिखाई दी। वे उस रज्जू के द्वारा गवाक्ष तक पहुँचे तथा कक्ष में प्रविष्ट हुए। पत्नी जागृत हुई; “कौन ?” पूछने पर तुलसी दास ने कहा, “मैं हूँ”। “तुम यहाँ रात्रि में आए कैसे ?” “मैं रज्जू के द्वारा आया हूँ”, पत्नी ने गवाक्ष में देखा तो वहाँ पाया कि वहाँ रज्जू नहीं, सर्प था। वह बोल उठी।

जितना प्रेम हराम में, उतना हरि से होय।

चला जाए बैकुंठ में, पल्ला न पकड़े कोय ॥

अर्थात् तुम यहाँ कितनी बाधाओं, व्यथाओं को भोग कर आए हो। तुम्हें जितना प्रेम हराम (संभार) में है, उतना प्रेम प्रभु से हो जाए तो तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति क्यों न हो जाए ?

इस व्यङ्ग्य वाण से तुलसी दास प्रभु के रंग में रंग गए। वे पत्नी को छोड़ कर प्रभु के प्रेम से आलोकित हो उठे।

वाचस्पति मिश्र का विवाह हो जाने के पश्चात् भी वे ग्रन्थ लेखन में इतने मग्न थे कि उन्हें यह याद ही न रहा कि कोई उन की पत्नी भी है जो सुनहरे सपने हृदय में संजोए प्रतिदिन उन की प्रतीक्षा करती है। एक दिन अनायास ही वे पत्नी को दीपक में तेल पूरते हुए देख कर बोल उठे, “तुम कौन हो ?”

तुरन्त उन्हें स्मरण हो गया कि वे बहुत बड़ा अन्याय कर चुके हैं। यह तो मेरी पत्नी भामती है। इसे कितना ख्याल है मेरे अध्ययन का, जो कि दीपक के बुझ जाने से पूर्व ही प्रतिदिन इस में तेल डाल देती है।

वह बोल उठ, “न्याय के ग्रन्थ की यह टीका तेरे निमित्त से से निमित्त हुई है इस का नाम तेरे ही नाम पर देता हूँ। क्या नाम है तेरा ?” बस तब से वह टीका भामती टीका के नाम से ही प्रख्यात हो गई।

वाचस्पति मिश्र को जो आनन्द पुस्तकों में प्राप्त हुआ, वह आनन्द “प्रियतमा” में न दिखा। अन्यथा पत्नी को विस्मृत करना कोई सरल कार्य न था। सच है कि कंचन एवं कामिनी के मोह को तोड़ने वाले योगी अलौकिक आनन्द की अनुभूति करते हैं।

यदि इतिहास में परस्त्रो का अपहरण करने वाले रावणों की कथाएँ हैं। (यद्यपि रावण ने सीता का स्पर्श मात्र भी नहीं किया) तो भारतीय संस्कृति को उज्ज्वल बनाने वाली मदन रेखा, जम्बू स्वामी, वज्रबाहु तथा विवेकानन्द की भी जीवन कथाएँ कथा प्रसंगों में उद्धृत हैं।

यदि इतिहास में स्त्री के कारण गुरु से शाप को प्राप्त करने वाले कूल बालक मुनि तथा योग भ्रष्ट नन्दिषेण मुनि हुए हैं, तो स्थूलिभद्र, मानतुंग सूरि तथा वज्रस्वामी जैसे मुनियों की भी कमी नहीं है।

स्थूलिभद्र मुनि पूर्वमुक्त कोशा वेश्या के महल में षडरस भोजन करते हुए भी निर्विकार रहे।

वज्र स्वामी एक सेठ द्वारा एक ऋद्ध सुवर्ण मुद्रा तथा अपनी रूपवती रुक्मिणी के दिए जाने की बात सुन कर भी विचलित नहीं हुए।

भरहेसर की सज्जाय में वर्णित समस्त महापुरुष तथा प्रातः स्मरणीय सतियां गृहत्याग करके संयमी नहीं बनी थीं, इन में से बहुत सी सतियां मात्र पतिव्रता होने के कारण ही प्रातः स्मरणीय बन गईं। साधु तथा साध्वी तो वंदनीय हैं ही, सद्गृहस्थ भी वंदनीय हो सकते हैं।

ब्राह्मी चंदन बालिका भगवती, राजीमती द्रौपदी,
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ।
कुंती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि,
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिनमुखे, कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥

इन में से बहुत सी सतियों ने दीक्षा नहीं ली तथापि उन्हें सती (साध्वी) कहा गया । यह सब ब्रह्मचर्य की ही महिमा है ।

सतियों के प्रभाव से कई असत् व्यक्ति भी तर जाते हैं । सतियों का सतीत्व ही दुर्जनों की बुद्धि को मोड़ देता है । सती के सतीत्व पर हो संसार स्थिर है । कुलटाओं तथा दुर्जनों के आधार पर कभी भी आकाश तथा पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकते । यह पृथ्वी, यह नक्षत्र, तारे, ये सूर्य, चन्द्र सतियों के सतीत्व तथा सत् लोगों के सत्त्व के कारण ही स्थिर हैं । अतः सती के सतीत्व को समझने की आवश्यकता है । कभी भी सती के सतीत्व को कुदृष्टि से मत देखो । सतीत्व की मशाल सैंकड़ों हजारों को जलाने की क्षमता रखती है । द्रौपदी का सतीत्व ही था कि चीरहरण के समय असहाय होने पर भी उस का चीरहरण न हो सका तथा दुर्योधन एवं दुःशासन जैसे दुर्द्धर्ष योद्धा भूमितल पर लुप्त हो गए । द्रौपदी को जंघा पर बिठाते-बिठाते वे स्वयं ही रसातल तक पहुंच गए । पांडवों के साथ ठगी करते-करते वे अपने वंश को ही समाप्त कर बैठे ।

द्रौपदी का चीरहरण तथा सीतापहरण तो सतयुग की दुर्घटनाएं हैं । इस कलियुग में तो दुर्योधन या रावण को बुरा कहना भी पाप है । बुरे को बुरा वह कहे-जो स्वयं बुरा न हो ।

वर्तमान में भौतिकवाद ने तो प्रायः समस्त मानव-जाति को ही विचारों से दूषित कर दिया है । जब तक नहीं परखा, तभी तक मानव सज्जन है । परखने के पश्चात् वही दुर्जनों का सरदार नजर आता है । सादगी से रहने वाले आभ्यंतर रूप से

कितने विषयी होते हैं। प्रतिष्ठा की द्येत चकाचौंध में वासनाओं की काली चादर को कम देखा जाता है। जब तक अवसर नहीं मिला, तब तक सभी पतिव्रता या पत्नीव्रत हैं। अवसर मिल जाने पर भी कोई पतिव्रता या पत्नीव्रत रहे तभी उसे संयत कहा जाता है।

अपहरण, बलात्कार तथा अवैध काम-जाल के युग में सच्चारित्र के दर्शन होने दुर्लभ हैं। अतः सच्चे चारित्रधारी साधुओं तथा स्वनामधन्य समाज के अग्रगण्य नेताओं पर 'आदर्श' होने का बहुत बड़ा बोझ आ पड़ा है, जो कि उन्हें दायित्व समझ कर उठाना ही होगा। समाज की व्यवस्थाओं का भंग करने वाले लोगों के द्वारा आचरित कलंक कृत्यों के दाग को समाज के मस्तक से दूर करना होगा। तभी सत्वशाली व्यक्ति के सत्व का मूल्यांकन हो सकेगा।

चित्तौड़ (चित्र कूट) की पद्मिनी ने १५००० आर्य कन्याओं के साथ बलिदान देकर अपने सतीत्व की रक्षा की। आचार्य कालक सूरि ने युद्ध के प्रांगण में गर्दभिल्ल राजा को पराजित करके अपनी बहिन सरस्वती साध्वी के शील की रक्षा की। सुदर्शन ने प्राणों की बाजी लगा कर भी अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा की। मनोरमा ने अपने पति वज्रबाहु की अनुगामिनी बन कर संयमपथ का स्वीकरण किया। सीता ने मनोबल से पतित सम्राट् रावण जैसे पराक्रमी राजा को फूटी आंखों से भी न देखा तथा अपने अमूल्य पतिव्रत की रक्षा की। १६ सतियों की पुनीत यशोगाथा जैन धर्म की उज्ज्वल संस्कृति की एक झाँकी है।

ब्राह्मी ने भगवान् ऋषभ देव के पास दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त किया। चंदन बाला ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा लेकर इसी इतिहास की पुनरावृत्ति की। अनेक कामजालों में भी चंदना ने अपने सतीत्व को सुरक्षित रखा। धारिणी ने जब

सैनिक से अपने शीलधर्म की रक्षा के लिए अपनी जिह्वा को बाहर निकाल कर मृत्यु को अंगीकार किया तो चंदना ने सतीत्व के महत्त्व को भली भाँति समझ लिया ।

राजीमती ने भगवान् नेमिनाथ के द्वारा संयम पथ को स्वीकार किए जाने के पश्चात् कहा था कि विवाह के समय विवाह-मंडप में जो हाथ मेरे हाथ पर नहीं रखा गया, वह दीक्षा मंडप में मेरे सिर पर रखा जाएगा । इसी राजीमती ने रथनेमि के भ्रष्ट विचारों से न केवल स्वरक्षा की, अपितु उसे भी संयम पथ पर पुनः आरूढ़ किया ।

द्रौपदी ने पांडवों को ही पति माना (५ पति उसे पूर्वभव के निदान से प्राप्त हुए थे, एक पतिव्रत का यह अपवाद है) उस ने दुर्योधन जैसे दुर्द्धर्ष योद्धा के प्रति कभी भी सन्मान व्यक्त नहीं किया ।

कौशल्या (राम की माता) का ही प्रभाव था कि राम इतने आदर्श बन सके । मृगावती ने संयम को अंगीकार किया तथा चण्ड प्रद्योत के प्रपंचजाल को तोड़ दिया । अन्यथा चण्ड प्रद्योत के द्वारा बिछाई गई लोभ प्रपंच की वागुरा में से निकलना कोई सरल न था ।

सुलसा तथा चेलना के सतीत्व की प्रशंसा भगवान् महावीर ने धर्म पर्षद में की थी ।

सुभद्रा सती के सतीत्व ने कच्छे घागों के द्वारा कूप से पानी निकाल कर यह प्रमाणित कर दिया कि सती के सतीत्व को कलंकित नहीं किया सकता ।

शिवा देवी जो कि चण्ड प्रद्योत की पत्नी थी—को नज्जरों से चन्द्रप्रद्योत सम्राट् भी नज्जरें न मिला सका । साम्राज्य के प्रभाव पर यह सतीत्व के प्रभाव की विजय थी ।

कुन्ती एक पतिव्रता थी, तभी तो उसके पुत्र इतने बलशाली तथा न्यायशील बन सके ।

शंख सम्राट् की पत्नी कलावती के हाथ काट दिए गए ।
तथापि शील के प्रभाव से वे वापिस जूड़ गए ।

‘नलस्य दयिता’ दमयंती को उस का पति नल वन में
निराधार छोड़कर चला गया । दमयंती ने वन में अनेक कष्टों का
सामना किया । परन्तु वह फिर भी नल पर ही अनुरक्त रही
तथा अंत में नल के साथ ही उसका पुनः परिणय हुआ ।

प्रभावती उदयन की पत्नी थी । उस के शील कौशल से ही
भगवान् महावीर की जीवित स्वामी की प्रतिमा, का पेटो में से
उद्घाटन हो सका था ।

गांधारी धृतराष्ट्र की पत्नी थी, उस ने अपने पति को अन्ध
देख कर स्वयं भी स्वच्छुओं पर पट्टी बांध ली थी । इस सतीत्व
के प्रभाव से दुर्योधन के निर्वस्त्र शरीर को देखने मात्र से ही वह
वज्रमय बन गया था । यह बात अलग है कि दुर्योधन ने कौपीन
पहन रखा था अतः वह भाग कच्चा रह जाने के कारण भीम की
गदा वहाँ लगी तथा दुर्योधन की मृत्यु हो गई ।

मनोरमा ने अपने पति सुदर्शन के शूली पर चढ़ने के समा-
चार प्राप्त करने के पश्चात् अपने सतीत्व की परीक्षा की उस ने
कहा कि यदि मेरा सतीत्व अखंड हो तो सुदर्शन सेठ का संकट
टल जाए तथा सचमुच सुदर्शन की शूली का सिंहासन बन गया ।

मदन रेखा अपने पति युगबाहु को मरण शय्या पर पड़े देख
कर भी विचलित नहीं हुई तथा मणिरथ के वर्चस्व के आगे नहीं
झुकी ।

अंजना सुन्दरी को एक छोटे से वहम के कारण पवनंजय ने
२२ वर्ष तक त्याग किया, परन्तु अंजना के मन में ‘पर’ पुरुष के
प्रति कोई दुर्विचार भी न आया । अन्त में पवनंजय के द्वारा ही
गर्भ धारण करने पर उसपर कलंक लगाया गया तो भी अंजना ने
पति के ऊपर दुर्भाव न रखा तथा कर्मगति को ही इस कर्मफल

के लिए प्रधान कारण समझा ।

सुज्येष्ठा ने चिल्लना का अपहरण हो जाने के पश्चात् दीक्षा ली तथा संयम धर्म की आराधना की ।

हस्मिणी आदि कृष्ण की पट्टरानियाँ सतीत्व का अवतार थीं । अतएव भरहेसर की सज्जाय में उन का पावन नाम स्मरण किया जाता है ।

देवकी वसुदेव की पत्नी थी । कंस के द्वारा उस के ६ पुत्रों को तथाकथित रूप से मार दिए जाने पर भी वह हताश नहीं हुई थी । वसुदेव का ७२००० रातियाँ होने पर वे पति के प्रति ही अनुरागिनी रही ।

जयन्ती श्राविका जो शतानिक महाराजा की भगिनी थी, भगवान् महावीर की परम उपासिका श्राविका थी । वह भगवान् महावीर से सदैव चर्चा विचार गोष्ठी किया करती थी । उस की तत्त्वरुचि तथा धर्म रुचि अनुपम थी ।

स्थूलिभद्र की यक्षा आदि बहिनें साध्वी बनी थीं तथा अपने सतीत्व के कारण ही वे जगत्पूज्या बनीं ।

पुष्पचूला साध्वी सच्चित्त वर्षा में भी अणिका पुत्र आचार्य को गौचरी ला कर देती रही, इस सेवा तथा सतीत्व के कारण उसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया था ।

याकिनी महत्तरा ने हरिभद्र भट्ट को आचार्य हरिभद्र बनाया ।

भेष कुमार ने ५०० रातियों का परित्याग करके संयम अंगीकार किया । यह उनका ब्रह्मचर्य का अलौकिक उदाहरण है ।

शालिभद्र ने ३२ सुकुमाल पत्नियों का त्याग करके संयम को स्वीकार किया, कोमल शरीर, अखंड वैभव तथा सौंदर्यवती पत्नियों का आकस्मिक त्याग, शालिभद्र के ही वश की बात है । अन्य की नहीं ।

धन्ना ने सुभद्रा आदि ८ पत्नियों का क्षणमात्र में त्याग कर

दिया। धन्ना सेठ का यह साहस अवर्णनीय है। पत्नियों के द्वारा पुनः पुनः प्रार्थना करने पर भी वे गृहस्थाश्रम में वापिस न लौटे।

दशार्णभद्र, गजसुकुमाल, अवंतिसुकुमाल, धन्ना अणगार शाब, ब्रह्मन्, विष्णु कुमार, आर्द्र कुमार, प्रसन्न चन्द्र, श्रेणिक-पुत्र, युवराज, राजा महाराजा, सुकोशल आदि संसार तथा पत्नियों को ठोकर मार कर कल्याण पथ पर चल पड़े, यह उनके अपूर्व वैराग्य का द्योतक तथ्य है।

भीष्म ने अपने पिता के सुख के लिए ब्रह्मचर्य की भीष्म प्रतिज्ञा ले कर भीष्म नाम को सार्थक किया।

नदीषेण मुनि ने यद्यपि १२ वर्ष तक निकाचित कर्मों के कारण वेद्या के घर में वास किया परन्तु वहाँ भी वे प्रतिदिन १० व्यक्तियों को प्रतिबोधित करते रहे, तथा अन्त में वेद्या तथा स्त्रियों का मोह छोड़ कर विशुद्ध ब्रह्मचर्य के धारी बने।

धन गिरि अणगार सुनंदा नाम की पत्नी को युवावस्था में छोड़ कर संयत बने।

भद्रा सेठानी (शालिभद्र की माता) मदन रेखा, दमयंती, चंदना नर्मदा, मंनोरमा, मूलदेव, दृढ़ प्रहारी, अंजना, ज्येष्ठा (नंदिवर्धन की पत्नी तथा चेटक महाराजा की पुत्री) चेलना, सुज्येष्ठा, प्रभावती, शिवा, कुन्ती, द्रौपदी, श्री कृष्ण की रुक्मिणी आदि ८ पत्नियाँ, कलावती, जयन्ती श्राविका, सीता, ऋषिदत्ता, धारिणी (राष्ट्रवर्धन राजा की पत्नी) इन सत्पुरुषों तथा सतियों ने दीक्षा अंगीकार की थी।

भरत, मरुदेवी, कपिल केवली, पृथ्वीचन्द्रगु सामर, नागकेतु, कयवन्ना, इलाचिपुत्र, चिलातिपुत्र, बंकचूल, नंदा (श्रेणिक सम्राट की पत्नी) सुभद्रा, धारिणी (मेघ कुमार की माता), धारिणी शतानिक की पत्नी) श्रीदेवी देवकी, इन सत्त्वशील व्यक्तियों ने दीक्षा धारण नहीं की। फिर भी इन का प्रातः स्मरण किया

जाता है। यह सब विशुद्ध संयम तथा श्रद्धा का महिमा गान है।

विजय सेठ, विजया सेठानी, जिनदास सेठ, जिनदासी श्राविका, सुदर्शन, मलयामुन्दरी, सुलसा, भद्र मुनि, बाहुमुनि, पुण्डरीक, करकण्डू, पद्मावती (कोणिक की पत्नी) चूला तथा रेवती का चरित्र भी एकनिष्ठ ब्रह्मचर्य के पालन के लिए प्रेरित करता है।

ब्रह्मचर्य पालन के लिए ५ भावनाएं शास्त्रों में बताई गई हैं। इन पांच भावनाओं में ही ब्रह्मचर्य की ६ बाड़ों का समावेश हो जाता है।

१. स्त्री नपुंसक तथा पशु के स्थान का त्याग, स्त्री के साथ एक आसन का त्याग जहां भीत्यन्तर में दम्पति रहते हों तो उस उपाश्रय-वसति का त्याग, सच्चित्त अचत्त भोगोपकरणों का त्याग।

२. सराग स्त्री कथा का त्याग, स्त्री के वेष, हाव भाव ईक्षा (दृष्टि) भाषा, तथा गति के वर्णन का त्याग, स्त्री के साथ अनावश्यक वार्तालाप का त्याग।

३. पूर्वस्मृति का त्याग।

४. अंगोपांग के निरीक्षण का त्याग।

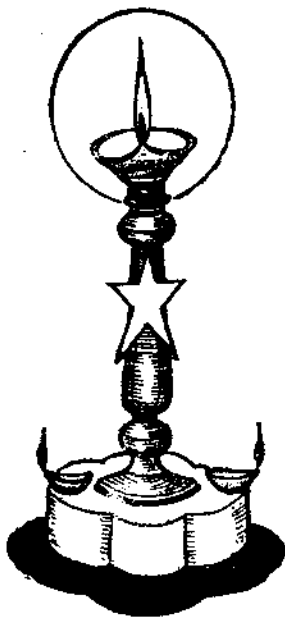
हास्य, लीला, कटाक्ष, प्रणयकलह, शृंगार रस का त्याग। जैसे सन्मुखस्थ मिष्टान्न को देखने से दाढ़ में पानी आ जाता है, तथैव स्त्री आदि प्रिय वस्तु को हर्ष पूर्वक देखने से मन द्रवित हो जाता है। इस के अतिरिक्त राग रहित दृष्टि से देखने में दोष नहीं है। अंगसज्जा, स्नान, विलेपन, धूप तथा शरीर शृंगार का त्याग।

५. सरस तथा अधिक भोजन का त्याग। क्योंकि घातु के पोषण से वेदोदय की संभावना रहती है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन सभी दृष्टियों से हितकर है। अनेच्छक ब्रह्मचर्य का पालन करने से चक्रवती का अश्व भी देवलोक में जाता है तो स्वैच्छक ब्रह्मचर्य के पालन से मोक्ष की प्राप्ति हो तो कोई बड़ी बात नहीं है।

कलहावतार नारद मुनि एकमात्र विशुद्ध ब्रह्मचर्य के कारण स्वर्ग या मोक्ष में जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के यथाशक्य पालन के लिए प्रत्येक मानव को तत्पर होना चाहिए।



अपरिग्रह

आचार्य हेमचन्द्र सूरीश्वर जी चारित्र के भेदों का निरूपण करते हुए पंचम भेद अपरिग्रह की व्याख्या करते हैं। उन का कथन है—

सर्वभावेन मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।

यदसत्त्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविप्लवः ॥१४॥

अर्थ :—मूर्च्छा का त्याग ही अपरिग्रह है। वह देशविरति हो या सर्व-विरति के रूप में हो। उस में मूर्च्छा का, ममता का त्याग आवश्यक है।

द्विद्वेषन :—अपरिग्रह का शाब्दिक अर्थ है—अपने पास कुछ भी न रखना। किसी वस्तु पर अपना अधिकार न जताना अथवा उतना ही अपने पास रखना, जितना आवश्यक हो, आवश्यकता से अधिक तृण भी परिग्रह हो जाता है।

यहां हेमचन्द्राचार्य नैश्चयिक अपरिग्रह की परिभाषा देते हैं। यदि आप के पास कुछ भी नहीं, न रुपया पैसा, न सामग्री, न स्त्री परिवार, न मकान तथापि आप के मन में उस के प्रति मूर्च्छा है, ममता है, तो आप अपरिग्रही नहीं हो सकते। मूर्च्छा, मोह का सम्बन्ध सीधा मन से है। यदि आप के पास धन नहीं, काया से आप नै भौतिक पदार्थों का संग्रह नहीं किया, परन्तु आप का

मन भौतिक पदार्थों में जाता है, उन्हें पाने के लिए पौनः पुण्येन संकल्प विकल्प करता है तो आप में अपरिग्रह की अल्पता है। “मूच्छा परिग्रहोवृत्तो”, मूच्छा (ममता) रखना ही परिग्रह है। मूच्छा असत् में भी हो सकती है। जो नहीं है-उस की अभिलाषा, असत् द्रव्य की मूच्छा है। वह जहां नदी है वह वहां करने की सोचते रहना, असत् क्षेत्र की मूच्छा है। जो जब नहीं है उसे उस भविष्यादि काल में करने की सोचते रहना, असत् काल की मूच्छा है।

अपरिग्रह वर्तमान विश्व की सब से बड़ी आवश्यकता है। आज का संसार परिग्रह-लोभ से दुःखी हो रहा है। जो व्यक्ति परिग्रही लोभी बन जाता है, उस को न दिन में चैन होती है, न रात को नींद आती है। उस का सारा कार्यक्रम Up Set हो जाता है।

परिग्रह को छोड़ने के लिए ममता को छोड़ना अनिवार्य है। आप ने सब कुछ छोड़ा, परन्तु उस से ममता न छूटी तो त्याग भी निरर्थक है।

मूच्छा की सब से बड़ी हानि क्या है? मूच्छा ममता से मानव अस्थिर हो जाता है। जब मन अस्थिर हो जाता है तब समभाव समाप्त हो जाता है। विषय-कषाय बढ़ जाते हैं।

मूच्छा ममता से व्यक्ति चंचल हो उठता है। वह सोचता है कि मैं यहाँ वहाँ जाऊँ तो मेरी इच्छाएं पूर्ण हो सकती हैं। मेरी लोभ वृत्ति को पोषण मिल सकता है। यह सोच कर बिना किसी जाति भेद से प्रत्येक व्यक्ति आठों प्रहर उसी के पीछे लगा रहता है। परिणामतः वह चंचल बन जाता है। अस्थिर हो जाता है।

जिसका चित्त अस्थिर होता है, उसे समता संतोष की प्राप्ति नहीं होती। शांति नहीं मिल सकती। शांति का रहस्य निर्लोभता

में छिपा है, अपरिग्रह में छिपा है ।

एक व्यक्ति लाखों रुपयों का पुण्य से अर्जन करता है । पहले वह कीचड़ में अपना पैर डालता है तथा बाद में उस पैर का प्रक्षालन करता है । आप उस व्यक्ति को बुद्धिमान् कहेंगे या मूर्ख ? वह बुद्धिमान् कैसे हो सकता है ?

इसी प्रकार से जो व्यक्ति पहले पैसा कमाने के लिए पाप करता है तथा फिर उस पाप को धोने के लिए कुछ दान दे देता है उस व्यक्ति का वह पुण्य क्या पाप को धो डालेगा ?

दान करने का कभी भी निषेध नहीं किया जाना चाहिए । परन्तु यदि आप यह समझते हैं कि अधिक धन कमाएंगे तथा अधिक दान देंगे तो यह दृष्टिकोण गलत है ।

पहले आप ने पैसा कमाने के लिए पाप किया, फिर उसे धोने के लिए दान दिया । यह दान तो उस पाप का व्याज भी न चुका पाएगा । पाप के जिस ब्याज की प्राप्ति होने वाली थी, वह आप को संभवतः न हो, परन्तु मूल राशि (पाप) का फल तो अभी मिलना शेष है । उसे भी कभी न कभी भोगना पड़ेगा ।

अतः इस से श्वष्ट है कि व्यक्ति संतोष को धारण कर ले । “प्रक्षालनाद् हि पंकस्य, दूरादस्पर्शनं वरं ।” कीचड़ में पैर को डाल कर धोने से तो कीचड़ से अस्पर्श ही अच्छा है ।

जब तक जीवन में संतोष-निर्लोभिता नहीं आती, अपरिग्रह नहीं आता तब तक हमारी समस्त धर्म क्रियाएं सम्यक् नहीं हो सकतीं ।

लोभी व्यक्ति स्वार्थी भी होता है । वह किसी से बात करेगा । तो भी स्वार्थ की सिद्धि को प्राथमिकता देगा । माला जाप करेगा तो भी कुछ प्राप्त करने के स्वार्थ से । वह मंदिर में जाएगा तो भी किसी स्वार्थ को लेकर । ऐसी वृत्ति वाला शांति को प्राप्त नहीं कर सकता ।

एक व्यक्ति के पास कुछ नहीं है परन्तु ममता शेष है तो वह परिग्रही है। यदि एक व्यक्ति के पास सब कुछ है, परन्तु ममता नहीं है तो वह अपरिग्रही है ? यथा भरत महाराजा का दृष्टांत—

भरत चक्रवर्ती के पास में षट्खण्ड की समृद्धि थी। ६४००० रानियां थीं, ६६ करोड़ पदाति तथा करोड़ों रथ आदि थे परन्तु सब कुछ होने पर भी उस पर ममता न थी। वे यह समझते थे कि संसार एक सराय है। इस सराय में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति मुसाफिर है ? मुसाफिर सराय में आता है। २-४ दिन में वापिस चला जाता है। यह राही उस धर्मशाला को न खरीद सकता है, न उस पर वह मोह रख सकता है, क्योंकि उस में उसे अधिक रहना नहीं है।

सराय में मुसाफिरों से दोस्ती क्या ? आज है कल नहीं है। वहां मिले हुए व्यक्ति क्या बार-बार मिलते हैं एक शाखा पर रात्रि के समय सोने वाले २ पक्षी क्या पुनः कभी उस शाखा पर एकत्र होते हैं। संसार में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति मुसाफिर है। वह थोड़े दिन यहां रह कर आगे के लिए कूच कर जाता है। वृक्ष पर रात्रिवास करने वाले कौए या सराय यात्रियों के मध्य क्या सम्बन्ध हो सकता है ? कोई नहीं।

इसी प्रकार समस्त संसार भी मेहमानों-मुसाफिरों का डेरा है। कौन रिश्तेदार ! कौन सम्बन्धी ! किस से प्रेम किया जाए ?

समस्त पदार्थों का उपयोग करते हुए भी भरत महाराजा अपरिग्रही थे तथा वे मुक्ति को प्राप्त करने में भी सफल हुए।

साधु के पास संयम के निर्विघ्न पालन के लिए ओषा, आसन, मुंहपत्ति आदि उपकरण होते हैं। उन उपकरणों पर यदि साधु की ममता नहीं तो साधु अपरिग्रही है। प्रश्न यह नहीं कि आप के पास में क्या है। प्रश्न तो यह है कि जो कुछ भी आप के पास है, उस से आप को प्रेम कितना है ?

बारात के समय घोड़ी को बार-बार आभूषण पहनाए जाते हैं। वे आभूषण घोड़ी के ही हैं ? उसी को पहनाए जाते हैं उसी के कारण खरीदे गये हैं। उन आभूषणों को घोड़ी वाला नहीं पहन सकता।

क्या घोड़ी को उन आभूषणों को पहनने से परिग्रह का पाप लगेगा ?

घोड़ी को उन आभूषणों पर मूर्च्छा नहीं होती। मूर्च्छा तो घोड़ी वाले को होती है। घोड़ी तो आभूषणों को जानती नहीं, पहचानती नहीं। आभूषण उस पर रखे जाएं तो क्या ? न रखे जाएं तो क्या ?

परिग्रह तो मन का होता है। कुछ भी एकत्र करने के पश्चात् यदि मन में यह विचार आ गया कि हम ने इकट्ठा किया है। हम किसी दूसरे को क्यों दें, तो परिग्रह का प्रारम्भ हो जाता है। परिग्रह से मुक्ति के लिए संतोष चाहिए। कभी संतोषी ही अधिक सुखी होता है।

अधिक धन कमाने वाला प्रायः दुःखी होता है तथा अल्प-धनार्जन करने वाला सुखी होता है। संतोष से वह सदैव आनन्द का अनुभव करता है। उस की सम्पत्ति मर्यादित है, परन्तु संतोष से वह सुखी है।

धनी की सम्पत्ति, ज़मीन, जायदाद, अशान्ति का कारण बनते हैं। तभी तो एक चिंतक ने कहा है कि, "गरीबी एक वरदान है। जब धन बढ़ जाता है तो मानव के मन पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है तथा स्वास्थ्य पर भी उस धन का कुप्रभाव पड़ता है।

वर्तमान में धनी जितने अस्वस्थ हैं, गरीब उतने अस्वस्थ नहीं हैं। कारण ? कारण स्पष्ट है कि धन के लोभ में स्वास्थ्य पर ध्यान ही नहीं दिया जाता।

एक English Writer ने कहा है—

Poverty is the mother of health.

गरीबी स्वास्थ्य की जननी है। मानव जितना धनाढ्य होता आता है उतना ही वह अस्वस्थ होता जाता है। उस का पेट बढ़ जाता है, उस में अशक्ति हो जाती है। एक स्थान पर बैठे रहने से पाचन-शक्ति कम हो जाती है।

जितना, कम पैसे वाला जी सकता है, उतना, अधिक पैसे वाला नहीं जी सकता। जितना कम खाने वाला जी सकता है उतना अधिक खाने वाला नहीं जी सकता।

अतएव धनाढ्य लोगों में ही अधिक Heart Trouble होती है। कभी किसी गरीब को heart disease से मरते देखा आपने ! सम्भवतः न देखा होगा, यह हृदयरोग सुरक्षित है धनी लोगों के लिए।

ऐसा क्यों होता है ? तनाव भी धनी व्यक्तियों को ही अधिक होता है, क्यों ?

वस्तुतः वे स्वयं ही इस के कारण हैं। धनाढ्य लोग चिंता में डूबे रहते हैं। कभी कारखाना नहीं चलता, कभी हानि हो गई, कभी उपद्रव हो गया, कभी competition हो गया, कभी मार्केट फेल हो गई, तो कभी दीवाला निकालने की नौबत आ गई।

क्या करे वह बेचारा ! सुख से जीना तो उस के भाग्य में ही लिखा नहीं होता। कुछ प्रतिशत लोग ही ऐसे होते हैं जो धनी होने पर भी प्रत्येक बात में सुखी होते हैं।

स्वयं के आचरण से ही धनवान् अधिक नहीं जी पाता।

जैसे रक्त का शरीर में प्रवाहित रहना ही स्वास्थ्य के लिए शुभ होता है। रक्त का शरीर में कहीं भी रुक जाना, जम जाना

निश्चित ही मृत्यु की घंटी है। धनी का धन भी उस के शरीर के रक्त के समान है। यदि धन रुक जाता है तो धनी व्यक्ति को हार्ट फेल, हार्ट अटैक हो सकता है। धन, धनी के खजाने में जमा रहे तो रक्त के जमा होने का भय उत्पन्न करता है। प्रायः धनी व्यक्ति ही अधिक ब्लड प्रेशर, तनाव तथा हार्ट के रोगों के शिकार होते हैं। धनी पर कृपण व्यक्ति स्वेच्छा से तो धन छोड़ता नहीं है, प्रकृति उसे सबक सिखाती है तथा उस को ८० वर्ष तक पहुंचने के बहुत पहले ही धन से मुक्त कर देती है। जो बिल्कुल दान नहीं करता उसे अन्त में सर्वस्व दान करके जाना पड़ता है। भगवान महावीर ने परिग्रह को पापानुर्बन्धी पुण्य बताया है। पुण्य से धन तो मिल जाता है परन्तु फिर पाप का ही कारण बनता है। अतएव मानव को ऐसे धन से बचना चाहिए।

संसार में धन का सदुपयोग अत्यन्त अल्प होता है, धन का दुरुपयोग ही अधिक होता है। धन का व्यय सत्कार्य, उपकार, सेवा, दान में कम होता है जब कि नशा, मुकद्दमा, भोजन, परिधान, ऐश-आराम में अधिक होता है। एक तो पैसा पाप से ही अर्जित किया जाता है, दूसरे उसे पाप के ही कार्य में लगाया जाता है। इस प्रकार धन अधिकतया पाप का ही कारण बनता है धन संग्रह करने के पश्चात् उसे और भी बढ़ाते जाना तथा उस धन के द्वारा भौतिक पदार्थों का संचय करते जाना पाप कर्मों के उदय का ही परिणाम है। यदि पुण्य का उदय हो तो धन के द्वारा धर्म, दान, पुण्य करने की बुद्धि प्राप्त होती है।

संसार में भूखे मरने वाले लोग बहुत हैं। माना कि दरिद्री लोग भूखे मर जाते हैं। भूखे मर जाना क्या पाप है? पाप नहीं मजबूरी हो सकती है। परन्तु क्या इस संसार में खा कर मरने वाले लोगों की कमी है?

जितने लोग भूखे मरते हैं, भख से पीड़ित हो कर अपनी

जीवन लीला समाप्त कर देते हैं, उस से अधिक लोग खा कर मरते हैं। राष्ट्र संघ भूख से मरने वालों की गणना प्रति वर्ष करता है। कितने लोग भूख से मरे। कितने लोग भोजन न मिल पाने के कारण मरे। भूखे मरने वालों की गिनती करने से क्या लाभ ?

क्या उन्होंने खा कर मरने वालों की गिनती की ? भूखे मरना विवशता है, परन्तु खा कर मरना कोरी मूर्खता है लोग बारात आदि में कुछ अधिक ही खा जाते हैं, लोभ के कारण। वे यह भूल जाते हैं कि माल पराया है परन्तु पेट तो अपना है। पराये माल से अपने पेट का निष्कारण बिगाड़ लेना कहां की बुद्धिमत्ता है। उन का सम्भवतः पेट भी पराया होता है। फिर वे अपाचन आदि के द्वारा रोग ग्रस्त हो जाते हैं।

सन्तोषी व्यक्ति इस बात का सन्तोष मानता है कि जितना मिला है, बहुत है। अधिक क्या करना है। खुदा ! तेरा शुक्र है कि उदर पूर्ण करने को रोटी तो मिल रही है। जितना अधिक एकत्र करेंगे उतनी मन पर उस की सुरक्षा आदि की चिंता रहेगी मन पर Pressure बढ़ेगा तो Blood Pressure भी बढ़ेगा। जितना त्याग करोगे उतनी राहत (शांति) मिलेगी।

पाप करके कमाने वाला तथा उसके पश्चात् दान देने वाला उतना पुण्य नहीं कमाता जितना कि मात्र संतोषी कमा लेता है।

धन कभी स्थायी नहीं रह सकता। धन को देख कर मानव की आंखें खुल जाती हैं परन्तु “लक्ष्मी स्वभाव चपला” लक्ष्मी कभी आप के पास है तो कभी दूसरे के पास। “लक्ष्मी पुण्यानुसारिणी” लक्ष्मी पुण्य से प्राप्त होती है।

Riches have wings वैभव के पंख होते हैं। एक बार इच्छा किया हुआ क्या सदा आप के पास रहेगा ? नहीं ? उस के

भी पंख होते हैं। उसे दूसरे के पास जाते देर नहीं लगती, वह पैसा कोई ठग सकता है, हानि में जा सकता है, यह किसी भी प्रकार के नष्ट हो सकता है? आप कभी ज़मीन में रुपये को दबा देते हैं, परन्तु जब खोदते हैं तो आवश्यक नहीं कि वह वहां से निकल ही आएगा, वह वहाँ से सरक भी सकता है। वह फिर किसी अन्य को भी मिल सकता है।

आप गढ़े हुए धन का उपयोग करें या न करें, उस के होने मात्र से परिग्रह का पाप आप को लग गया।

एक थी बुढ़िया, उसने आधा किलो स्वर्ण आभूषण अपने परिवार वालों से छुपा कर एक गोखले में रखा था। वह अपने पति या परिवार वालों को नहीं बतलाना चाहती थी कि मेरे पास स्वर्ण भूषण हैं। वे थे Private Ornaments इसीलिए इन्हें संभाल कर रखना कठिन भी था। कहीं रखे तथा कोई देख ले या ले जाए तो भी ठीक नहीं था। लोभ से मानव बहुत दूर की सोचता है।

बुढ़िया को पुत्र के व्यापार के कारण किसी अन्य स्थान पर जाना पड़ा। बुढ़िया ने सोचा कि मैं यह सोना साथ में ले जाऊँ या नहीं। सुवर्ण का मोह उस का पीछा नहीं छोड़ रहा था।

अन्ततः उस ने वह सुवर्ण अपने मकान के एक गोखले में छिपा दिया। उस पर रेत तथा सीमेंट लगा दिया तथा वहां से अन्यत्र चली गई। मकान किराए पर देने का लोभ भी वह संवरण न कर पाई। मकान के किराएदार ने एक दिन एक कील दीवार में लगानी चाही, तो पाया कि वह कील अन्दर ही जा रही है, वह समझ गया कि यहाँ पर कोई गोखला होना चाहिए। उस ने वहां से दीवार को तोड़ा तो वहां से सुवर्ण निकला। वह तो प्रसन्न हो गया तथा एक दिन मकान छोड़ कर चला गया। कितना अच्छा अन्जाम हुआ लोभ का ?

२-४ वर्ष के पश्चात् वह बुढ़िया जब अपने मकान में आई तो उस की दृष्टि अकस्मात् ही अपने गोखले की दीवार पर पड़ी।

अरे ! यह क्या ! स्वयं सुवर्ण ही मानो किराएदार को लेकर पलायन कर चुका था।

अब पछताए क्या होत, जब चिड़ियां चुग गईं खेत।

लोभी व्यक्ति का धन नाश के लिए ही होता है।

एक साधु के पास एक बहिन आई। साधु ने कहा, “साधर्मी सेवा फंड एकत्र करने वाले व्यक्ति यहाँ आए हैं, उस में कुछ लिखा दो—५० रुपये मात्र। वह महिला मुनिराज की बात को सुनी अनसुनी करके चली गई तथा अकस्मात् ही अगले दिन मुनि जी के पास आकर कहने लगी, “महाराज ! कल मेरा नुकसान हो गया है, कुछ कृपा करो।”

मुनि जी की पृच्छा के अनन्तर उस ने उत्तर दिया कि, ‘कल मेरा पुत्र हवाई जहाज में विदेश जा रहा था, परन्तु मार्ग में उस की हीरे की अंगूठी, जिस की कीमत ५००००० से कम न थी, कहीं पर खो गई है। वह आप की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।”

मुनि जी ने विचार किया कि दान पुण्य तो नहीं करते, अब अंगूठी गुम न होगी तो और क्या होगा ?

वह स्वयं बोली, “महाराज ! कल ही आप ने ५० रुपये साधर्मी सेवा में देने के लिए कहा था। मैं वह तो कल दे नहीं सकी। अब इस प्रकार से ५००००० का Loss सहन करना पड़ रहा है। क्या करू ! मेरे नसीब में यही लिखा था।”

मुनि जी ने उत्तर दिया, “बहिन ! चिंता मत करो। तुम्हारी अंगूठी संभव है कि किसी साधर्मी के हाथ में पहुँची होगी। तुम्हारा भाग्य तो श्रेष्ठ है कि तुम्हारे द्वारा ५००००० का दान हो गया। अब पश्चात्ताप मत करो अन्यथा ५०००००

के दान का फल ५० रुपये जितना भी न मिल पाएगा ।

वह महिला निरुत्तर थी । वह सम्भवतः जानती न थी कि भाग्य स्वयं ही बनाया जाता है । यह हानि—बाधा इसी लिए आती है क्योंकि मानव दान पुण्य नहीं करता ।

धन को यूँ ही गंवाने के बदले में उसे किसी सत्कार्य में लगा दिया जाए तो लाखों गूणा लाभ अर्जित किया जा सकता है ।

दानं भोगो नाशः तिष्ठः गतयः भवति विस्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

धन की तीन गतियाँ हैं—दान, भोग तथा नाश । जो न देता है न खाता है, उसके धन की तीसरी गति (नाश) हो जाती है ।

पैसा कमाने के बाद कोई तृप्ति हुई । लाखों क़ोड़ों कमाना है या इस से भी अधिक । आप सब कमाते हैं । परन्तु खर्च बढ़ रहा है इस लिए ? जरूरत है इस लिए ? परिवार के लिए ? शायद आप के अपने-अपने सब के अनुभव हैं । सभा में से, “अपने बेटों के लिए ।” जब जाएंगे तो बेटों को कुछ तो देकर जाएंगे न ? नहीं देकर जाएंगे तो बेटे बाप को याद भी न करेंगे । बाप की बुराइयाँ करेंगे । दे कर जाएंगे तो कम से कम याद तो करेंगे । बहुत से लोग बेटों के लिए ही कमाते हैं । क्योंकि बेटे सुखी रहें । उन के संचय का कोई अन्त नहीं है ।

परन्तु एक कवि ने कहा है—

पूत कपूत तो क्यों धन संचे,

पूत सपूत तो क्यों धन संचे ?

बेटे दो प्रकार के होते हैं । सपूत या कपूत । कपूत के लिए धन संचित करने की जरूरत नहीं । सपूत के लिए भी धन इकट्ठा करने की जरूरत नहीं । क्योंकि बेटा कपूत होगा तो आप का

इकट्ठा किया हुआ सारा रुपया उड़ा देगा।

यदि सपूत होंगा तो स्वयं कमा लेगा। क्योंकि वह सपूत है। कभी बेटों के लिए मत कमाना। सभा में पैसे के बिना हमें पहचानेगा कौन ? ठीक ही है।

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।”

सभी गुण धन के आश्रित हैं। सभी लोग धन का ही सम्मान करते हैं। इन्सान का नहीं। जब कि गुणों का धन के साथ दूर का भी रिश्ता नहीं होता।

“आलस्यं स्थिरतामुपैति।”

व्यक्ति आलस से ५-६ घण्टे दुकान पर बैठा रहे तो लोग कहेंगे कि यह सेठ साहब की स्थिरता है। एक ही आसन पर एक ही स्थान पर बैठे रहना कितना मुश्किल है ? देखो ! इसे धूमने फिरने का बिल्कुल भी शौक नहीं है।

यदि आलस से बैठा रहने वाला व्यक्ति गरीब हो, तो यह दोष, दोष ही दिखेगा। यह सब धन का ही प्रभाव है।

धन के बिना शायद कोई आप को न पहचाने। लोग आप को प्रतिष्ठा न दें। परन्तु क्या समस्त धनी व्यक्ति प्रतिष्ठित ही होते हैं। वास्तव में मानव का व्यवहार तथा सदाचार ही उस की प्रतिष्ठा का स्रोतक है। यदि आप के पास अच्छा आचार है, विचार है तो प्रतिष्ठा की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं ही मिल जाएगी।

कहीं आप की दृष्टि टाटा, विरला की सम्पत्ति पर तो नहीं कि हमारे पास इतनी क्यों नहीं है ? स्मरण रहे कि धन किसी को भी धोखा दे सकता है। यह कभी भी आप के पास से जा सकता है। अतः इसे पहले ही क्यों न छोड़ दिया जाए। आप की आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है, परन्तु इच्छाओं की पूर्ति

नहीं हो सकती। क्या अंधकूप कभी किसी पदार्थ से भरता है। क्या पेट कभी भी रोटी खाने से-कितना भी खाने पर भरता है? नहीं।

आप की पेटी-आप का खजाना भी कभी भर नहीं सकता। पेट तो भर सकता है।

सभा में से--खाने के लिए ही कमाते हैं। क्या सचमुच खाने के लिए कमाते हो या पेटी भरने के लिए कमाते हो? यदि पेट के लिए कमाते हो तो पेट तो भर सकता है। परन्तु पेटी कभी भर नहीं सकती। जब छोटी पेटी भर जाती है तो पेटी को बड़ा कर लिया जाता है। पेटी को भरने के कारण हैं, आप के धनी पड़ोसी। जब वे धनाढ्य हैं तो आप को भी तो धनाढ्य बनने का अधिकार है।

आप सदैव ऊपर को देखते हैं। सुखी जीवन जीना है तो अपने से नीचे देख कर चलो। ऊपर देख कर चलने वाले हमेशा ठोकर खाकर गिर जाया करते हैं। नीचे देखने वाले सदैव सुखी रहे हैं।

एक भिखारी था। वह सारा दिन भीख मांग कर निर्वाह किया करता था। उस के पास जूता नहीं था। उस ने एक दिन देखा कि लोग एक देवी के मन्दिर में 'मानता' मानने के लिए जा रहे हैं। किसी को पुत्र की आवश्यकता थी तो किसी को धन की। उस ने सोचा कि मुझे तो यह सब कुछ नहीं चाहिए। एक जूता ही मिल जाए तो पर्याप्त है। उस ने देवी से जूता मांगा। परन्तु बहुत दिनों तक मांगने पर भी उसे जूता न मिला।

एक दिन वह जा रहा था कि उस ने देखा कि एक आदमी जिस की टांगें ही नहीं थीं, भीख मांग रहा था। उस से चला भी नहीं जा रहा था।

वह अचानक बोला, 'प्रभो! तेरा बहुत शुक्रिया। इस

आदमी के पास तो टांग भी नहीं है। तूने कम से कम मुझे टांग तो दी है। मैं इस से तो अच्छा हूँ। यह बिना टांगों से जी सकता है तो क्या मैं जूते के बिना नहीं जी सकता।

वह अपने से नीचे देख कर ही सन्तोष को धारण कर सका। दूसरों की कारों को देखने की आवश्यकता नहीं है। जिस को भोजन भी नसीब नहीं है उस को देखने की जरूरत है।

आज कल कम्युनिज्म का विश्व में विस्तार क्यों हो रहा है? कम्युनिज्म राष्ट्रोत्थान सिखाता है। कम्युनिज्म कहता है कि आप के पास जो कुछ है, यह सब राष्ट्र से ही मिलता है। आप उस के अधिपति नहीं बन सकते। उसे राष्ट्र के नाम ही अर्पित कर दो। आप को चिकित्सा, शिक्षा तथा मकान आदि 'फ्री' मिलेगा।

यह राष्ट्रवाद कम्युनिज्म व्यक्ति को राष्ट्रवादी बनाता है। जब स्वयं के लिए कुछ भी नहीं है तो हड़तालें, आंदोलन, समानांतर अर्थव्यवस्था, यह सब न होगा। मानव स्वतः अपरिग्रही बन जाएगा।

भगवान् महावीर की दृष्टि मात्र राष्ट्रवाद तक ही सीमित नहीं थी। वे तो कहा करते थे कि जो कुछ आप के पास है, वह समाज तथा व्यक्तियों में बांट दो। अपने पास तो मात्र आवश्यकता पूर्ति की वस्तुएं रखो। शेष सब कुछ दूसरों की आवश्यकता पूर्ति पर लगा दो। आवश्यकता से अधिक मत रखो। कहीं ऐसा न हो कि कभी कम्युनिस्ट देश आप को जबरदस्ती यह शिक्षा दें एवं आप को मानना पड़े। यदि आप स्वयं दूसरों को दे देंगे तो आप को अपरिग्रह व्रत का लाभ होगा। अन्यथा किसी के द्वारा आप का धन छीन लिए जाने पर आप को जो दुःख होगा उस से विशेष कर्म बन्ध ही होगा।

आप यदि खाने के लिए कमाते हैं तो खाते क्यों है। सभा में

से पेट भरने के लिए ।

क्या सचमुच पेट भरने के लिए कमाते हैं या पेट को बढ़ाने के लिए । पेट भरने के लिए कमाने वाले बहुत कम होते हैं । अधिकतर लोग तो स्वाद के कारण खाते रहते हैं तथा अस्वस्थता को मोल लेते हैं । लोगों को भोजन से कोई मतलब नहीं होता, भात पानी से ही मतलब होता है । जो पेट भरने के लिए खाता है उसे स्वादिष्टता से कोई मतलब नहीं होता । सभा में से खाते हैं, जीने के लिए ।

क्या सचमुच जीने के खाते हैं या खाने के लिए जीते हैं ? अधिक लोग जीने के लिए नहीं खाते ? खाने के लिए ही जीते हैं । जीने के लिए भी खाने का क्या लाभ ? जी कर धर्म करना हो तो जीना भी सार्थक है । अन्यथा जीने की भी क्या आवश्यकता है । जीने से इतना मोह क्यों है । मर जाएं तो क्या हर्ज है ? क्या हानि है ? हां ! आप के परिवार को कोई हानि हो सकती है । आप को क्या हानि है । मरने वाला उठ कर यह तो कभी देखता नहीं कि मैं मर गया हूँ । फिर मरने से डरना क्यों ?

वस्तुतः कमाना खाना तथा जीना मानव की एक आवश्यकता है । इसे यदि परिग्रह में न बदला जाए तो आत्मा को कोई हानि नहीं होती ।

चाणक्य नीति में कहा गया है कि समाज में धन का चक्र (circulation) गतिशील रहना चाहिए । जब धन का चक्र एक स्थान पर जमा हो जाता है तो समाज की समस्त व्यवस्था भंग हो जाती है समाज सुचारू रूप से तभी चल सकती है, जब धन आता जाता रहे । धन के आने जाने मात्र से ही हजारों लोग अपनी आजीविका कमाते हैं । धन के व्यय करते रहने से समाज ठीक तरह से चलती रहती है ।

धनवान् को प्रायः अनिद्रा का रोग होता है। धन से गढ़े तो खरीदे जा सकते हैं, नींद को खरीदा नहीं जा सकता।

एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का दान देता है तथा एक व्यक्ति अपरिग्रही बन कर सन्तोषी बन जाता है। इन दोनों के मध्य सन्तोषी अपरिग्रही अधिक महान् है। संतोष अपरिग्रही-इच्छा को मूर्च्छा को ही छोड़ देता है।

सन्तोष धारण करने वाला व्यापार ने घाटा पड़ने पर परेशान नहीं होता। वह मानता है कि धन यदि आता है तो जाता भी है। घाटा भी उस के लिए लाभकारी ही होता है। जिस से वह सन्तोषी बन रहता है।

अपरिग्रह का समुच्चयार्थ यह है, “अपने पास आवश्यकता पूर्ति की वस्तुएं रख कर शेष सब दान दे देना, अथवा पूर्णतः निःस्पृह हो जाना, अथवा ममता मोह का त्याग करना।”

जहां ममता होती है वहां समता का निवास नहीं होता। संसार के पदार्थों के प्रति मोह-ममता का भाव मानव को अधोगति तक ले जाता है। जब मानव के पास सांसारिक पदार्थ होंगे तो इन पदार्थों का मोह भी होगा। इसीलिए अन्य देवों की भांति जिनदेव तीर्थंकर के पास कोई शस्त्र अस्त्र स्त्री या धनादि आडम्बर नहीं होते। क्योंकि ये समस्त साधन रागादि के प्रतीकात्मक चिन्ह हैं। जिन देवों के पास ये चिन्ह होते हैं, वे क्या समय आने पर उनका उपयोग न करेंगे? जिन देवों के पास स्त्री है वे समय आने पर क्या उस का उपयोग न करेंगे? जिन देवों के पास धनुष बाण, गदा या तलवार आदि शस्त्र हैं, वे क्या शत्रु के द्वारा आक्रमण किए जाने पर उस शत्रु का संहार न करेंगे? अवश्य ही करेंगे।

तात्पर्य है कि तीर्थंकर भगवान् जब निःसंग एवं निःस्पृह हैं तो उनके पास शस्त्र, स्त्री आदि पदार्थ क्यों होंगे?

भौतिक स्तर पर परिग्रह का त्याग अत्यन्त कठिन है। मानव कई बार बातें बहुत बड़ी-बड़ी कर लेता है परन्तु उस से धन, वैभव का त्याग नहीं होता। बहुत से लोग तप करके शरीर को सुखाते हैं, प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के द्वारा समय-यापन करते हैं, परन्तु जब दान देना पड़े कुछ छोड़ना पड़े, तो उन के लिए कठिन होता है। सामायिक करने वाले का, सम की आराधना करने वाले का मन क्या धनादि सम्पत्ति में फंसा रह सकता है? पौषध करने वाला व्यक्ति क्या थोड़ा भी निःसंग नहीं हो सकता? वर्तमान में तो सामायिक पौषध में धन, आभूषण आदि को स्पर्श किया जाता है? आभूषण तथा घड़ी भी शरीर से उतारे नहीं जाते, यह सब धर्मार्थ जीव की मोह सूचक दशा है। साधु के लिए यहां सम्पूर्ण निषेध है, जब कि श्रावक के लिए, 'समणो इन सावओ'—सामायिक पौषध में श्रमणवत् सम्पूर्ण का निषेध है। उपघान्त तप भी समणत्व का अभ्यास करने के लिए ही है परन्तु इन समस्त क्रियाओं के पीछे जो श्रमणत्व साधना का लक्ष्य था, वह विस्मृत कर दिया गया है।

हेमचन्द्राचार्य के द्वारा यह पंच महाव्रत-निरूपण प्रसंग में अपरिग्रह का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह श्रमण के लिए है। श्रावक के व्रतों में स्थित परिग्रह परिमाण व्रत इस से बहुत पृथक् है।

साधु की संयम यात्रा को अपरिग्रह की सहचरी कहा गया है। जो साधु अपरिग्रही होता है, उस की संयम यात्रा निर्बाध रूप से चलती है। न उस साधु को चिंता होती है न तनाव। वह तो आत्मीय मस्ती, आनंद-धन की मस्ती में झूमता रहता है। जब उस के पास में कुछ है ही नहीं तो वह 'पर' में रमण करेगा क्यों?

भौतिक रूप से परिग्रह का त्याग हो जाने के पश्चात् ही

मानव मानसिक त्याग के लिए सुसज्ज होता है। अथवा मानसिक त्याग के लिए सुसज्ज हो जाने के पश्चात् भौतिक त्याग अनिवार्य हो जाता है।

वर्तमान में कारों के काफिलों के साथ अनेक आडम्बरों से युक्त हो कर चलने वाले तथा कथित योगी भी इस संसार का यह जंजाल जो गृहस्थों के पास नहीं होता, वह इन महात्माओं के पास में होता है। कुछ साधु अपने गृह का त्याग करके 'मठ' बना लेते हैं, यह भी परिग्रह का ही लक्षण है। यदि 'मठ' पर स्वाधिपत्य रखना था तो अपना घर छोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी? इतना अवश्य है कि ये महात्मा लोग मठ में आने वाले व्यक्ति के लिए भोजन तथा निवास की सुविधा प्रदान करते हैं। जहां तक उपकार का प्रश्न है, मठ परम्परा का कोई अर्थ हो सकता है। स्वयं की साधना में तो इन मठों का मोह बाधक ही बनता है। त्यागी की परिभाषा करते हुए आचार्य शर्यभ सूरि जी ने कहा था—

जे अ कंते, पिए भोए, लद्धे वि पिठ्ठी कुट्ठई ।

साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति बुच्चई ॥

जो व्यक्ति प्रिय, कांत, भागों के होने पर भी उन की ओर पीठ कर लेता है, स्वाधीन मांगों को छोड़ देता है, वही त्यागी कहा जा सकता है।

जो व्यक्ति जितना सर-सामान, भौतिक सामग्री छोड़ कर आता है, उस से अधिक बसाने के चक्कर में पड़ा रहे तो उसे अपरिग्रही कहा जाए या परिग्रही ?

अपरिग्रही भय निर्मुक्त हो जाता है।

न च राजभयं न च चौरभयं, न च वृत्तिभयं, न वियोगभयम् ।
इहलोक-सुखं, परलोक, सुखं, श्रमण त्वमिदं, रमणीयतरम् ॥

अहा ! साधु जीवन कितना रमणीय है ! कि इस में न

राजा का भय है, न चोर का। न आजीविका जाने का भय है, न वियोग का, (संयोग की नहीं तो वियोग कैसे होगा?) साधुता के द्वारा इह लोक में तथा परलोक में सुख प्राप्त होता है।

वास्तव में अपरिग्रही को ही अलौकिक सुख की अनुभूति होती है।

परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्वं महा-सुखं।

अन्यों की स्पृहा दुःख है तथा निःस्पृह हो जाना महान सुख है। 'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।' निःस्पृह व्यक्ति को सारे संसार का राज्य भी मिल जाए तो वह उस के लिए तुच्छ है। वह उसको तृण के समान समझ कर छोड़ देगा।

स्वामी राम तीर्थ की अस्पृहा

स्वामी राम तीर्थ घर में भी परम वैराग्यवान् थे। उन्होंने संसार के पदार्थों पर से मूर्च्छा, ममता को छोड़ दिया था। वे चाहते थे कि अब संन्यास धारण कर लिया जाए परन्तु पत्नी इस बात को स्वीकार करे इस में सन्देह था।

उन की धर्मपत्नी उन के साथ ही संयम का स्वीकार करें यह तो मानो! असम्भव ही था। जैसी परिग्रह मुक्ति स्वामी राम तीर्थ ने प्राप्त की थी, वैसी सम्भवतः उन की धर्मपत्नी न कर पाई थी।

एक दिन स्वामी रामतीर्थ ने संन्यास धारण करने की इच्छा व्यक्त की। पत्नी ने इस कार्य में बाधा उत्पन्न की। वह कहने लगी कि अभी इस वय में क्या संन्यास लिया जा सकता है? स्वामी रामतीर्थ बोले, "संन्यास तो भावना पर आधारित है, उस में वय का प्रश्न ही व्यर्थ है।

जब स्वामी रामतीर्थ न माने तो उन की धर्म पत्नी ने कहा, "पतिदेव ! यदि आप संन्यास के मार्ग पर चलेंगे तो मैं भी आप का ही अनुकरण करूंगी।"

रामतीर्थ ने कहा कि, “यह मार्ग इतना सरल नहीं है। यह तो कांटों का पथ है। तुझे तो हर प्रकार की सुख सामग्री चाहिए। तू संन्यास के कठिन मार्ग पर न चल पाएगी।”

परन्तु पत्नी ने अपनी दृढ़ता बताई। रामतीर्थ बोले, देखो ! तुम्हें यदि साथ में चलना है तो तुम्हारी परीक्षा होगी। परीक्षण में उत्तीर्ण होने के बाद ही तुम साथ में चल सकोगी।

“पहले तुम सोना, चांदी, वस्त्र आदि समस्त सामान एकत्र करो तथा उन समस्त मूल्यवान् या मूल्यहीन पदार्थों की एक गठड़ी बाँधकर मकान के बाहर नाली के किनारे पर रख आओ।”

वास्तव में पत्नी के लिए यह कार्य अत्यन्त कठिन था। उस ने न जाने कितने परिश्रम के पश्चात् कितनी बार याचना करने के पश्चात् यह जखीरा एकत्र किया था। इस सामान का पूरा ही त्याग कर देने के लिए उस का दिल न माना। अनमने मन से ही सही, उस ने गठड़ी उठाई तथा चल दी सड़क के किनारे पर रखने के लिए।

“चलिए पतिदेव ! अब संन्यास धारण करने के लिए जंगल की ओर” आते ही उस ने मानो मन का बोझ उतारते हुए कहा।

“अभी नहीं ! एक परीक्षा और ! दोनों छोटे बच्चों की अंगुलि पकड़ कर बाजार में ले जाओ तथा जहाँ पर भी बहुत भीड़ का दर्शन हो, वहीं पर इन को छोड़ कर, जानबूझ कर गुम करके चली आओ।”

यह कार्य तो 'दुष्कर, दुष्कर' था। जो बालक स्वयं उदर से जन्म ले कर बड़े हुए, जिन के साथ में अपार वात्सल्य है, उन के साथ यह आततायिता ! गजब ढह जाएगा ! इन बालकों का पालन पोषण करने वाला कौन मिलेगा ? भीड़ में...पराए लोगों में, अजनबियों के मध्य ये बालक अश्रुपूरित नेत्रों से.....रुदन, शोक, हाहाकार मचाते हुए वात्सल्यमयी माँ को ढूँढ़ेंगे...

परन्तु पति का आदेश था। संन्यास के लिए साथ में चलना है, तो इस के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही नहीं है, उस ने स्वयं को समझाया तथा चल दी बाजार की ओर। जहाँ भी उस ने भीड़ देखी, बच्चों से अंगुलि छुड़वाई, तथा चल दी वापिस घर की ओर। यह सरासर घोखा था बच्चों के साथ।

परन्तु जिस प्रकृति ने, जिन कर्मों ने उन बालकों को उत्पन्न किया है, क्या वे उन्हें भोजन भी न दे पाएंगे ?

“पति देव ! चलिए अब वन की ओर।”

उसने विचार किया कि सारा सामान स्वयं लुटाने के पश्चात् तो अपनी प्राण-प्रिय सन्तान के प्रति मोहत्याग करने के पश्चात् कोई त्याग शेष नहीं रहा होगा। परन्तु रामतीर्थ ऊँचे स्वर से बोले—

“अब तीसरी तथा अन्तिम परीक्षा...।” मैं जानता हूँ कि तेरे मन में अपने पति के प्रति अपार अनुराग है। जब तक यह राग शेष है तब तक तुम संन्यास की अधिकारिणी नहीं। संन्यास धारण के पश्चात् कौन पति ! कौन पत्नी ! अब तू अपनी जिह्वा से यह कह दे कि मेरा पति रामतीर्थ मर चुका है।

“श्रीमान् ! इतनी कठोर परीक्षा ! पति के जीवित हुए भी यह कैसे कह दूँ कि वह.....। यह मुझ से न कहा जाएगा।”

“तो ठीक है। तुम अभी घर में ही रहो। संन्यास बहुत दूर की वस्तु है।” अंततः उसे यह कहना ही पड़ा कि, “मेरा पति रामतीर्थ मर चुका है।” और रामतीर्थ अपनी धर्मपत्नी को प्रतिबोधित करने के पश्चात् वनवासी हो गए। अपरिग्रही बनने के लिए अपने मन को कितना दृढ़-परिपक्व करना पड़ता है।

यदि मानव परिग्रह की सीमा बांध ले तो भी वह बहुत से पापों से सुरक्षित हो सकता है। उसे उस परिग्रह की अवधि तक ही पाप लगोगा, इस के अतिरिक्त कृत अकृत पापों के बंधन उसे

बाँध न सकेंगे। कहीं अतिचार, अनाचार का दोष लग जाए तो प्रायश्चित्त-आलोचना के द्वारा परिशुद्धि सम्भव है।

अन्यथा धन-सम्पत्ति के समस्त विश्वास से सम्बन्धित आदान प्रदान का वह भी भागीदार होगा। यदि श्रमण भी अपने परिग्रह की आवश्यकता मर्यादा न रखे तो उसे भी परिग्रह का दोष लगेगा। किसी भी व्रत, महाव्रत में सीमा मर्यादा कर लेना, अन्य तथा भावी पापों से मुक्त होने का सहज मार्ग है।

अपरिग्रह का यह अर्थ हरगिञ्ज नहीं होता कि, “हम ने तो समस्त पदार्थों का त्याग कर दिया है, हमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि कोई दान करने आता है तो न चाहते हुए भी उस पदार्थ को ले लेने में क्या दोष हो सकता है? सन्मुख आ रही वस्तु को लेने से इन्कार क्यों किया जाए। अथवा—हमारे पास वस्तु अधिक होगी तो किसी अन्य को देने के काम में आएगी।”

ऐसे विचारों से साधक का पतन हो जाता है। जब तक वह वस्तु साधक के पास रहेगी, तब तक के लिए क्या वह परिग्रहधारी न होगा?

आवश्यकता से अधिक तो तृण भी परिग्रह हो जाता है तो अधिक वस्तु रखने की आज्ञा भगवान् महावीर के द्वारा कैसे दी जा सकती है? जब भी त्याग की भावना मन में आ जाए, तभी त्याग कर देना चाहिए। अन्यथा लोभ, परिग्रह की वृद्धि होते देर न लगेगी।

भ० महावीर ने लोभ का मूल भयस्थान ‘लाभ’ बताया है।

“जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।”

ज्युं-ज्युं लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। इस का अर्थ यह नहीं कि आप अपने निजी लाभ को कम कर दो। इस का अर्थ है कि लाभ के साथ सन्तोष घर्म का सेवन करो लाभ के साथ जो हानि होती है, उस में समता रखो। लाभ के

साथ थोड़ी सी हानि स्वयं मोल लो-अर्थात् लाभ का एक निश्चित अंश स्वयं दान में लगा दो। फिर देखिए ! लाभ होने पर भी लोभ की वृद्धि न होगी।

यदि आप आवश्यकताओं का लाभ चाहते हैं तो किसी के लाभ में अन्तरायभूत मत बनो। किसी दाता को दान देने से रोको मत। यदि कोई व्यक्ति आप के द्वार पर परिस्थिति वशात् कुछ मांगने चला आता है, और आप के पास वह वस्तु है तो उसे किसी भी मूल्य पर देने से इन्कार न करो। इन्कार करके आप अन्तराय कर्म का बंध करोगे तो भविष्य में लाभ न होगा। उस के द्वारा याचित वस्तु यदि आप न दे सकी तो आप उस वस्तु का किसी अन्य से प्रबन्ध करा सकते हैं। यदि आप याचक के द्वारा याचित वस्तु उतने माप में नहीं दे सकते तो कम माप में यथा शक्ति दे सकते हैं। परन्तु इन्कार तो कभी भी नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत को सार्थक किया जा सकता है।

मम्मण सेठ ने जीवन में कोई भी अन्य पाप नहीं किया था परन्तु एकमात्र परिग्रह, लोभ के कारण वह मृत्यु के पश्चात् नरक गति का पथिक बना।

कपिल कुमार राजा द्वारा 'इच्छित सुवर्ण' का वरदान दिए जाने के पश्चात् १ रत्ती से बढ़ते बढ़ते सम्राट् के समस्त राज्य की याचना करने के लिए तैयार हो गया। परन्तु तभी अपरिग्रह की भावना आते-आते वह लोभ का त्याग करके आवश्यकता पर आ पहुंचा तो उसे एक रत्ती सुवर्ण का संग्रह भी उचित न लगा।

उसने कुछ भी त्याग नहीं किया, परन्तु त्याग की भावना अपरिग्रह से ही कपिल को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

धन्य है अपरिग्रह व्रत तथा अपरिग्रह व्रत धारी !

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं :—

शरीर, जिह्वा, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र से सम्बन्धित पाँच विषयों—ऋमशः स्पर्श, रस, गंध, रूप, तथा शब्द में होने वाले

रागद्वेष का त्याग करना चाहिए।

प्राणी को मनोज्ञ-सरस विषयों पर राग होता है तथा अमनोज्ञ, नीरस विषयों पर द्वेष होता है। पांचों इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय विषयों को देख कर भी निर्लेप-अनासक्त रहना चाहिए।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत का आकांक्षी साधु तथा श्रावक निर्मोही बन कर आत्म कल्याण कर सकता है।

पांच महाव्रतों की ५-५ भावना सम्बन्धी श्लोक :—

भावनाभिर्भावितानि पंचभिः पंचभिः क्रमात् ।

महाव्रतानि नो कस्य साध्यन्त्यव्ययं पदं ॥२५॥

अर्थ :—५-५ भावनाओं से भावित पंच महाव्रत किस व्यक्ति को अव्यय पद (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कराते।

प्रथम महाव्रत की भावनाएं :—

मनो गुप्येषणा दानेर्याभिः समितिभिः सदा ।

ब्रूणान्नपानग्रहणेनाहिंसां भावयेत्सुधीः ॥२६॥

अर्थ :—१. मनोगुप्ति २. एषणा समिति ३. आदानसमिति ४. ईर्या समिति ५. देख कर अन्न जल ग्रहण करना—बुद्धिमान् व्यक्ति इन पांचों भावनाओं से अहिंसा व्रत की सुवासित करे।

द्वितीय महाव्रत की भावनाएं :—

हास्य लोभ भय क्रोध प्रत्याख्यानेनिरंतरं ।

आलोच्य भाषणेनापि भावयेत् सूनृतव्रत ॥२७॥

अर्थ :—१-४ हास्य लोभ, भय तथा क्रोध का प्रत्याख्यान ५ विचार पूर्ण भाषण (संभाषण) इन ५ भावनाओं के द्वारा सत्य व्रत को भावित करना चाहिए।

तृतीय महाव्रत की ५ भावनाएं :—

आलोच्यावग्रहाच्छाऽभीक्ष्णावग्रहं याचनन् ।

एतावन्मात्रनेवेत, वित्यावग्रह धारणम् ॥२८॥

समान धार्मिकेभ्यश्च, तथावग्रह याचनम् ।

अनुज्ञापितपानान्ना शनमस्तेय भावनाः ॥२९॥

अर्थ :— १. विचार करके स्थानादि की याचना करना, २. बारंबार स्थानादि की याचना करना, ३. स्थान की मर्यादा करना, ४. साधमिक (साधुओं) से स्थान की याचना करना, ५. गुरु से आज्ञा लेकर अन्न जल आदि का उपयोग करना ये ५ भावनाएं अचौर्य व्रत की हैं ।

चतुर्थ महाव्रत की भावनाएं :—

स्त्री षंड पशुमद् वेश्मासन कूड्यांतरोज्जनात् ।

सरागस्त्रीकथा त्यागात्, प्राक्कृतस्मृति वर्जनात् ॥३०॥

स्त्रीरम्यगोक्षण स्वांग संस्कार परि-वर्जनात् ।

प्रणीतात्यशन त्यागात् ब्रह्मचर्यं तु भावयेत् ॥३१॥

अर्थ :— १. स्त्री नपुंसक तथा पशु वाले स्थान, आसन तथा भीत्यन्तर का त्याग, २. रागपूर्ण स्त्री कथा का त्याग, ३. पूर्व स्मृति का त्याग, ४. अंग निरीक्षण त्याग, ५. शृंगार तथा सरस एवं अधिक भोजन का त्याग, इन के द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत को भावित-पुष्ट करे ।

पंचम महाव्रत की भावना :—

स्पर्श रसे च गंधे च, रूपे शब्दे च हारिणि ।

पंचस्विन्द्रियार्थेषु गाढं गार्धस्य वर्जनम् ॥३२॥

एतेष्वेवामनोज्ञेषु सर्वथा द्वेष वर्जनम् ।

आकिंचन्य व्रतस्यैवं भावनाः पंच कीर्तिताः ॥३३॥

अर्थ :—रम्य स्पर्श, रस, गंध, रूप तथा शब्द में अनासक्ति (अराग) तथा अरम्य स्पर्शादि में अद्वेष, यह पंचम महाव्रत की ५ भावनाएं हैं ।

पूज्य गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् इन्द्र दिन्न सूरीश्वर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती विद्वान् मुनिराज श्री हेमचन्द्र विजय जी महाराज के शिष्य-रत्न मुनि श्री यशोभद्र विजय जी के द्वारा 'योग शास्त्र के हिन्दी विवेचन' का प्रथम भाग समाप्त हुआ ।

॥ इतिशम् ॥

अनुक्रमणिका

	श्लोक	पृ.
१. योग का माहात्म्य	१-१२	१-३३
२. उपशम विवेक संवर	१३	३३
३. योग क्या है ?	१४	४५
४. योग का लक्षण	१५	६३
५. ज्ञानः श्रेयस् का योग	१६	७१
६. सम्यग्दर्शन	१७	९१
७. सम्यक्चारित्र	१८	११९
८. ज्ञान तथा क्रिया	—	१४६
९. अहिंसा	१९-२०	१७३
१०. सत्य	२१	२०१
११. अस्तेय	२२	२२३
१२. ब्रह्मचर्य	२३	२४५
१३. अपरिग्रह	२४	२७२
१४. ५ महाव्रतों की भावनाएं	२५-३३	२९५

शुद्धिपत्रक

मुफ़ रीडर द्वारा कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। निम्नोक्त अशुद्धियों सुधारक पढ़ें।

पृष्ठ लाईन

- १।४ पृष्प-पुष्प
 २।२० जी-डी
 ३।५ मुझे-मुझ
 ३।१६ सभाकित-सभकित
 ४।१० ५०१-२५०१
 ५।१० २१५३२-३००३२
 ८।१९ तथा-तथा तथा०
 ९।१ भाप-आज
 ९।१८ प्रस्तृत-प्रस्तुत
 १०।२६ सुनने-सुनाने
 ११।१ म-में
 ११।२३ मृद्वित-मुद्वित
 १२।२ शास्त्र-शास्त्र
 १२।११ का-की
 १३।११ मल-मूल
 १३।१९ के लेखक-के लेखन
 १४।१ युवा-युव
 १४।८ का-की
 १५।१० ८५००-४५००
 पृष्ठ १-२९६
 ५।३ उन-उस
 ८।५ चंद-चंद्र
 ९।२० मी-मी
 ११।१ इंद्रियाणां-इंद्रियाणां
 ११।२५ वीरं-वीर
 १२।७ प्रायश्चित-प्रायश्चित्त
 १५।२२ भद्रं-भद्र

- १६।१२ चल्हा-चूल्हा
 १६।१८ वृद्धि-वृद्धि
 १६।२२ भ्रष्ट-भ्रष्ट
 १७।२३ से-को
 २१।१८ वे-तब
 २१।२२ विपुष-विषुष
 २१।२२ महर्घयः-महर्घयः
 २२।९ चिकित्सा-चिकित्सा
 २२।१६ योग-योग
 २२।१७ सर्वौषधि-सर्वौषधि
 २३।१ प्राकाम्य-प्राकाम्य
 २३।१ स्थूल-स्थल
 २३।२० १४-में १४
 २३।२७ घृत्नास्त्रव-घृत्ता०
 २७।७ दिग्मूढ-दिङ्मूढ
 २६।१२ म-में
 २८।११ को-की
 ३०।२८ निर्मोहता-निर्मोहित
 ३१।९ योग-योग
 ३१।११ ब्रह्म-ब्रह्म
 ३२।२ बीमत्स-बीभत्स
 ३५।४ म-में
 ३६।१६ धम-धर्म
 ३६।८ म-में
 ३८।२८ शुध्यति-शुद्ध्यति
 ४०।२ म-में
 ४।१९ जयमासे-जयमासे
 ४।११ ६-३३

४६।११ तदात्म्य-नादात्म्य

४६।१४ उष्ण-ऊष्ण

४७।६ धुरी-छुरी

४७।११ क प्रकटचिता-काप्रकटयिता

४७।२२ चेष्टा-चेष्टा

५०।१९ शब्द-शब्द

५१।२३ ५ - १०

५२।२७ विध्वंस-विध्वंस

५५।१२ बीभत्स-बीभत्स

५५।१३ शत्रु-वह शत्रु

५५।१६ क्रात्रिमता-कृत्रिमता

५६।२० पातजलि-पतजलि

५८।०८ चिन्त-चित्त

६२।० उर्ध्व-ऊर्ध्व

६३।०१ गुणी-ग्रणी

६३।२१ स्वय-स्वयं

६७।०३ धूकः-धूकः

६८।२२ धर्म-धर्म

६९।०१ गुणी-ग्रणी

६९।०९ हेमचंद्रार्य-हेमचंद्राचार्य

७१।०९ मत्राहु १७।-हु १६।।

७२।१० नरस्य-नरस्स

७३।२३ हो-ही

७८।२८ समाधान-ममाधान

७९।१९ शयभव-शयभव

८०।०२ विघृतो-विघृतो

८४।१८ विनास-विनाश

८६।०९ सर्वभूतेष-भूतेषु

८७।०१ प्रास्कृत-प्राकृत

८७।२४ कैसा-कैसे

८९।११ काय-काल

९०।०९ ग्रन्थ-ग्रंथ

९१।३ वा-वा ॥१७।।

९२।१० आपशामक-औपशामिक

९४।२ रागाषा-रागाद्या

२४।८ गरु-गरु

९५।२४ अविष्कार-आविष्कार

९८।८ वृद्धि-वृद्धि

१००।१४ मोक्ष-संसार

१०१।७ तथा दृष्टि-तथा सृष्टि

१०१।८, १०३।९, १०४।२५
गवेषणा-गवे •

१०३ १६ सावर्जिक-सावर्जिक

१०५।१३ युक्तिमत्-युक्तिमद्

१०६।७ त्वमेव-त्वामेव

१०६।१० दुरत्यथा-दुरत्यया

१०६।११ तत्त्व-तत्त्व

१०६।२३ सामादर-समादर

१०६।२४ मान्यता-स्वमान्यता

१०६।२७ गवेषणा-गवेषणा

१०६।२८ दर्शन-दर्शन को

१०७।३ व-न

१०७।१४ सिज्जति-सिज्जति

१०७।१७ धारी-धारी हो तो

१०७।२२ बच्चो-बच्चो

१०८।१ के-में

१०८।१५ प्रश्चात्-प्रश्चात्

१०८-१७ क्षायिक

१०८-२० बताइ-बताइए

१०९।२ को भी-को प्रशांसा को

१०९।५ परन्तु - उन्हींने

१०९।१४ शैक्ष-शैक्षणिक

१०९।१६ प्रयोजक-प्रयोजन

१०१।२३ कर-कर संक्रांति को

१०९।२६ में-से

१०९।२६ पर्व-पर्व को

११०।१४ ऐकांकिक-ऐकांतिक

११०।१५ सम्यक्त्व-सम्यक्त्व

१११।५ व-वह

१११।११ अगार-अंगार

१११।१५, २० स्पन्-स्वप्न

१११।१७ २००-५००

१११।२८ अभव्यस्व-अभव्यत्व

११२।१५ तर्क-तर्क ढूँढो, कहीं ऐसा
तो नहीं कि आप में तर्क

११२।२२ वे कि-कि

११२।२७ आंत-आता

११३।१ विस्तरण-विस्तरा

११४।२० देता-देना

११६।२८ सम्यक्त्व-सम्यक्त्व

११७।१ करता-कराता

११७।१०-१७ सम्यक्त्व-सम्यक्त्व

११७।१२ महादेवी-महदेवी

११८।१ कहने-कहकर

११८।४ कुतर्को-कुतर्को

११८।५ धर्मो-धर्म

११८।१८ की-का

११८।२३ सम्यक्त्व-सम्यक्त्व

११९।५ मद-तद

११९।५ पंचधप-पंचधा ॥१८॥

११९।७ तप-तथा

११९।१२ तदो-तदु

१२०।८ तो-अतः

१२०।१६ मौए-भोए

१२०।१७ से हु-से हु

१२०।२३ सम्यक्त्व-सम्यक्त्व

१२१।१६ जनमांतर-जनमांतर

१२३।१२ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ

१२४।६ मल्यवान्-मूल्यवान्

१२५।२० अनरुपा-अनसूया

१२५।२१ गुण-गुण

१२५।२२ निष्कपट-, निष्कपट

, १२३ गवेषणा-गवेषणा

, १२३ आदि कि-इनके

, १२६ ही-के ही

१२६।६ धर्म-धर्म

१२६।१२ thing-thing

१२७।१२ डुबाने-डुबाने

, १११ अभव्या-अभव्य

, ११३ अन्नत-अन्नत

, ११४ कषायदि-कषायादि

१२८।१० १६-९६

, १२४ भी मध्यम-ही मध्य

१२९।१३ बंदन-बंदन

, १४ कौ-कौ

१३०।२४ में कि-में

१३५।५ प्रायण-प्रापण

, १२८ बुर्जुग-बुर्जुग

१३६।१२ को-की, हा-हो

, १२५ बही-वही

१३७।२ भटकान-भटकाव

, १२७ अशुद्ध-अशुद्ध

१३८।१८ समान-समाज

१३९।१ कल-काल

१४०।२८ नहीं-नहीं होता

१४२।११ जब-जन
 ,, १२५ आगामी-आगामी
 ,, १२५ करवाई-करवाई
 ,, १२७ माणिक्त-माणिक्य
 १४३।१ तब मोदिनी-जनमेदिनी
 ,, १२ घोषण-घोषणा
 ,, १९ बोलये-बोल
 १४४।६ मुंडन-बिना मुंडन
 ,, ११० वाक्यों-शास्त्रों
 १४७ २८ दुलभ-दुलभ
 १५०।१६ तावमसि-तस्वमसि
 ,, ११९ गृहते गीत-गृह्यते। गीता
 ,, १२१ न-नहीं
 १५१।३ सरस्वतत्यं-सरस्वत्यं
 ,, ११७ ज्ञान-ज्ञानं
 १५३।३ भाषतूष-भाषतूष
 १५४।७ यस्य-यस्य
 १५५।४ आचरण-आचरण
 १५६।८ हनस्वाक्षर-ह्रस्वाक्षर
 ,, ११२ गुरुस्त्वि-गुरुस्त्वि
 ,, ११७-१८ संहिता-संहिता
 १५७।५ मात्रा-माया
 ,, १२१ माअगाम-मा जगाम
 १५८।६ इंद्रिया-इन्द्रियां
 ,, १८ योग-भोग
 ,, ११७ जो-सो
 ,, १२१ भरवाही-भारवाही
 ,, १२८ उठा-हो
 १५९।२ कूर्याम्-कुर्याम्

१६०।१० आधुनिक-आधुनिक
 ,, ११७ एकांकी-एकांकी
 ,, १२० बालजीव-क्रियाहीन
 न हो अतः ज्ञान
 ,, १२८ भासंती-भासंती
 १६१।२८ को-जी को
 १६२।३ उच्चारण-उच्चार न
 ,, ११९ के-के लिए
 १६३।८ अविमपा-अक्रिया
 ,, १२८ बनकर-न बनकर
 १६४।१ सरस-सरल
 ,, ११७ ज्ञान-ज्ञान के समय
 ,, १२८ पुष्पाप-पुष्पाय
 १६५ २४ Lock-Look
 १६७।१८ हा-ही
 ,, १२८ सकता-सकती
 १६८।१ ने-के
 ,, ११४ भवांभोषे-भवांभोषेः
 ,, १२२ भूतः-भूतः
 ,, १२३ मृगाच-मृगाश्च
 १६९।१ है-दुलभ है
 ,, १२ पराश्रम-पराक्रम
 ,, १३ सभ्यग्-सम्यग्
 ,, ११९ होना-होनी
 १७१।१ से-में
 ,, १४ आडबर-आडंबर
 १७२।५ ऐसे-ऐसा
 ,, ११८ पुकराते-पुकारते
 १७३ ४ ११८।।-११९।।

- १७५।१७ दुर्मुख-दुर्मुख
 ,, १२७ सोचते ही रहे-X
 १७६।३ डाल-डालूं
 ,, ११७ में-में
 १७७।१ मृत्यु-मृत्यु को
 , १० नाशिन-नाशिनी
 ,, ११३ कर्म-कर्म
 , ११४ वैसे-वैसा
 ,, ११७ काहि-रहि
 १७८।१ कुचलो कुचली
 १७९।१९ रहे-आरहे
 १८०।३ संमिती-समिति
 ,, २१ से-से करें
 १८१।१५ चित्र-चित्रण
 १८-१२.९ जब-X
 ,, १२७ मन-मन में
 १८३।१९ और-परंतु
 १८६।१८ मिण्ट-मिनिट
 १८७।३ दुग्गोचर-दृग्गोचर
 ,, १४ पर-पर एक
 ,, १९ वे-यह
 १८९ ३ Defination-Definition
 १९०।१२ की-को
 , ११८ से-में
 १९२.७.२८ से-में
 १९४ ५ को-से
 १९५।१० होती-होती हूं
 १९७ ७ से-में
 १९८।२ घर्म-धर्म
 ,, ११७ Poltryform-
 २००।१ १-४
 ,, १२ ४-६
 २०२।३ आते-आते हें जो
 ,, १७ मिण्ट-मिनिट
 ,, ११६ से-में
 २०३।८ असूलों-उसूलों
 , ११७ व्यापार-व्यवहार
 २०४।५ परन्तु-परन्तु
 ,, १७ बच्चों-बच्चे
 ,, ७ झट-झूठ
 ,, १२५ परन्तु -
 २०५।१७ तो-भारतीय
 ,, ११८ ये-में
 ,, ११९ उसके-उसमें
 ,, १२५ सत्री-व्यक्ति
 २०७।९ नहीं-नहीं
 ,, ११३ योगिनो-योगिनी
 २०८।७ वचना-वचना
 ,, ११४, २७ व्यक्ति-व्यक्ति
 , ११६ समह-समूह
 ,, ११७ लोगौं-लोगों
 ,, ११९ समय-सत्य
 २०९ २५ की-का
 २१२।७ समाज-असत्य
 २१३।२६ भी-भी विश्व
 २१४।२२ असत्या बोलन-असत्य
 बोलना
 २१५।५ कभी-२-कभी भी
 २१६।३ धत्य-सत्य
 ,, ११३ भरत में-भारत में

२१७।५ अपने-अपना
 २१८।१७ जहां-यहां
 ,, २३ मरणांत-मरणांत
 २१९ १० अता-आता
 २२०।७ कपते-कापते
 ,, ११६ परस्तु-X
 ,, १२१ बोला दिया-बोला दिया
 जाना है

२२१।११ की-की
 ,, ११४ के-को
 २२३।१० समस्त-X
 ,, १४ विरला व्रत है-विरमण व्रत
 २२४।१ प्रत्येक-प्रत्येक पाप
 ,, १९ चोरी-चोरी
 ,, १२३ वस्त-वस्तु
 २२५ १० परिग्रह-अपरिग्रह
 २२९।२ cleariti-cleariti
 ,, १५ क्या-X
 २३२।१ यथा-तथा
 ,, १८ जमा-अजित
 ,, १२६ ही-ही
 २३४।१ तथा-में
 ,, १२ रोहिनिय-रोहिण्य
 ,, ३,४ बुद्धतथा महाव'र के
 उपदेशों से
 ,, १९ जैसे-जैसा
 ,, ११३ साधमियों-साधमियों

२३४।२७ वेक्षण-वीक्षण
 २३५।५ व्याज-व्यापार
 ,, १६ की-को
 २३६।४ कहां-क्या
 ,, १२७ छूत-छूत
 २३८।४ बडे-२ - बहुत बडे
 ,, १६ भोग्य-योग्य
 २३९।१२ जनता-लोग
 २४०।३ उपाय-व्यय
 ,, ११३ बनाने-बनने
 ,, ११४ गुण-गुण है
 ,, १२६ जीर्ण-जोर्ण
 २४१।१९ अथवा-अथवा
 २४२।२६ बात-बात
 २४३।१० बौद्धव्य-बौद्धव्य
 २४४।१ समाती -आती
 ,, १४ से-को
 २४५।दिव्यीदारिककामानां,
 कृतानुमतिकारितः ।
 मनोवाक्कायतस्त्यागो,
 ब्रह्माष्टदशधामतं ॥२३॥
 २४७।२१ मुक्त-भुक्त
 २४९।३ का -
 ,, १५ बनवास-वनवास
 २५१।२ क्रूर-कर
 २५३।४ ग्वास-व्यास
 ,, १६ आती-होती
 ,, ११७ लूकः-धूकः
 ,, ११८ परमति-परश्यति
 ,, १२४ आप-शिष्य

२५५।५ म-में
 „ १२० धार्मिक-धार्मिक
 „ १२४ फिल्मी-फिल्म
 २५६।२० की-को
 २५९।२५ ६०-६४
 २६१।८ हाता-होता
 २६२.१६ वाण-बाण
 २६३ १ उठ-उठे
 २६३।२ पर-पारख
 „ ११८ मुक्त-मुक्त
 „ १२२ रुपवती-पुत्री
 २६४ १७ लुप्त-लुठित
 २६९।२४ गु सा -गुण सा.
 २७० १२ अचित-अचित
 २७१।२ वती-वर्ती
 २७३ ५ नदी-नहीं
 „ १२० मच्छा-मूच्छा
 २७४।१७ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ
 २७५।२६ साधु-साधु
 २७६।१२ इकठ्ठा-इकठ्ठा
 २७७ ४ आता-जाता
 २७८ १३ म-में
 २७९।४ भखे-भूखे
 „ १२७ इकठ्ठा-इकठ्ठा

२८०।२ यह-या
 „ १३ के-से
 „ ४ दवा दबा
 २८२।१३ सब-क्यों
 २८६।६ भातपानी-मालपानी
 २८७।५ संतोष-संतोषी
 „ ७ ने-में
 „ १० बन-बना
 २८८।११ घरमार्थ-धर्मार्थी
 „ ११४ समणत्व-ध्रमणत्व
 „ १२५ धन-घन
 २८९।५ भी-भी बहुत है
 „ १९ मांगी-भोगी
 „ २६ मय-भय
 २९०।२ की-ही
 २९३।३ विश्वास-विश्व
 „ १२६ धर्म-धर्म
 २९५।१७ की-की
 „ २१ हास्व-हास्य
 „ २५ हाज्जा-ह्याच्चा
 „ १२५ नन-नम्
 „ २६ नेवैत-मेवैत
 २९६।७ कूड्या-कुड्या
 „ १२४ महावत-महाव्रत